हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना

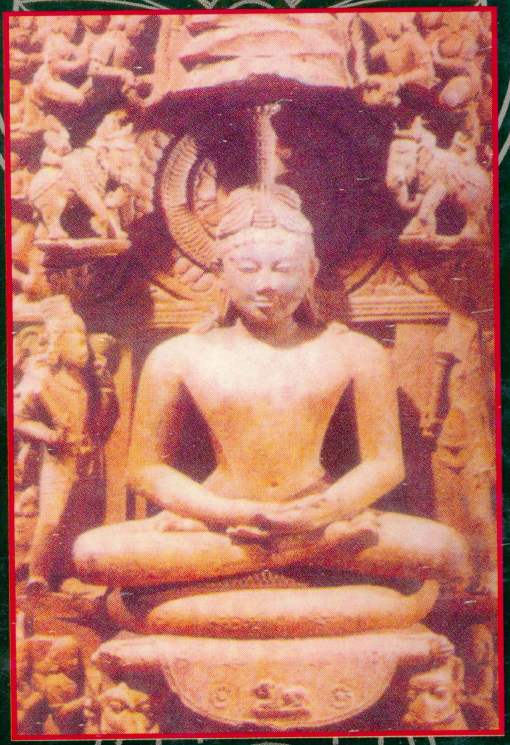

अहिंसा

डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन

ग्रन्थ के सन्दर्भ में

अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहाँ आत्मा विशुद्ध परमात्मा बन जाता है और वीतरागी होकर चिदानन्द रस का पान करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ **"हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना"** के अन्तर्गत व्यापक फलक पर रहस्य-चिन्तन और रहस्य भावना का विश्लेषण आठ परिवर्तों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। जहाँ एक ओर ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आदिकालीन एवं मध्यकालीन जैन काव्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है, वहीं दूसरी ओर रहस्यभावना के स्वरूप, उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों का विवेचन करते हुए जैन रहस्य भावना का सगुण, निर्गुण, सूफी व आधुनिक रहस्यभावना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत तथ्य अध्ययन, आलोचना एवं गवेषणा से संयुक्त है। जैन-जैनेतर कवियों की रचनाओं का आलोड़न-विलोड़न कर लेखिका ने जो निष्कर्ष दिये हैं वे प्रमाण पुरस्सर होने के साथ-साथ नवीन दृष्टि और चिन्तन लिए हुए हैं।

आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी काव्य की रहस्यधारा को समग्र रुप से समझने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

ISBN - 81-85783-32-2
मूल्य : 1150.00 रुपये

जैन ग्रन्थमाला

हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना

डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
अपभ्रंश, हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग
सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर

२००८

सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर
कला एवं धर्म शोध संस्थान, वाराणसी

जैन ग्रन्थमाला

हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना

डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

अपभ्रंश, हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग

सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर

प्रकाशक

डॉ. प्रेमशंकर द्विवेदी
(मानद निदेशक)
कला एवं धर्म शोध संस्थान
बी. ३३/३३,ए-१, न्यू साकेत कालोनी
बी.एच.यू., वाराणसी-२२१००५
फोन नं. ०५४२-२३१०६८२

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर
(मानद निदेशक)
सन्मति प्राच्य शोध संस्थान
न्यू एक्टेंशन एरिया, १३, तुकाराम चाल,
सदर, नागपुर - ४४०००१
फोन नं. ०७१२-२५४१७२६
E-mail : drbcjain@hotmail.com

लेखक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण २००८

मूल्य :1150.00 रुपये

ISBN No. 81-85783-32-2

प्राप्ति स्थान

कला प्रकाशन
बी. ३३/३३,ए-१, न्यू साकेत कालोनी
बी.एच.यू., वाराणसी-२२१००५
फोन नं. ०५४२-२३१०६८२

आलोक प्रकाशन
न्यू एक्टेंशन एरिया, १३, तुकाराम चाल,
सदर, नागपुर - ४४०००१
फोन नं. ०७१२-२५४१७२६
E-mail : drbcjain@hotmail.com

परम पूज्या श्वश्रू श्रीमती तुलसा देवी
धर्मपत्नी स्व० श्री गोरेलाल जैन

के कर कमलों में सादर समर्पित,
जिन्होंने अध्ययन के लिए अपेक्षित मातृवत्
अंपार स्नेहिल वातावरण एवं प्यार भरा
सहयोग प्रदान किया ।

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

अभिमत

श्रीमती पुष्पलता जैन का यह शोध प्रबन्ध आद्योपान्त पढ़ा है। उन्होंने रहस्यवाद के सन्दर्भ को अपने ठोस प्रमाणों के साथ कुछ और आगे बढ़ाया है और हिन्दी जैन काव्य के आधार पर जैन रहस्यवाद को समुचित रूप से उपस्थित करने का अभिनव प्रयत्न किया है। अन्तिम अध्याय में जैन और जैनेतर कवियों की रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों का जो सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है वह विशेष प्रशंसनीय है। अनेक अप्रकाशित हिन्दी जैन कवियों को भी इस शोधप्रबन्ध में स्थान मिला है। भाषा एवं शैली प्रवाहमयी है, प्रभावक है और विषयानुकूल है। अतएव श्रीमती जैन का यह सारा अध्ययन स्वागतार्ह है।

- डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (परीक्षक)

श्रीमती पुष्पलता जैन का अध्ययन विस्तृत और गहरा है। उन्होंने व्यापक फलक पर रहस्य-चिन्तन और रहस्य-भावना का विवेचन विश्लेषण किया है। आठ परिवर्तोमें विभाजित अपने शोध प्रबन्ध में जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आदिकालीन और मध्यकालीन जैन काव्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है वहाँ दूसरी ओर रहस्य-भावना के स्वरूप, उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों का विवेचन करते हुए जैन रहस्यभावना का सगुण, निर्गुण, सूफी व आधुनिक रहस्यभावना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका अध्ययन, आलोचना एवं गवेषणा से संयुक्त है। पंचशताधिक जैन-जैनेतर कवियों की रचनाओं का आलोड़न-विलोड़नकर उन्होंने अपने जो निष्कर्ष दिये हैं वे प्रमाणपुरस्सर होने के साथ-साथ नवीन दृष्टि और चिन्तन लिये हुए हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह कृति हिन्दी काव्य की रहस्यधारा को समग्र रूप से समझने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

- डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में श्रीमती पुष्पलता जैन का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन प्रतिबिम्बित होता है। इसमें जैन रहस्यवाद की मीमांसा और प्रस्तुति सही ढंग से हुई है। प्रकाशित-अप्रकाशित हिन्दी जैन कवियों के आधार पर किया गया यह अध्ययन नि:सन्देह प्रशंसनीय है।

- डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल (परीक्षक)

प्राक्कथन

आज के वैज्ञानिक युग में भौतिकवादी दौड़-धूप करने के बावजूद व्यक्ति शान्त और सुखी नहीं है क्योंकि उसने आत्मस्वभाव में स्थित न रहकर वैभाविक क्षेत्र में विचरण करना शुरू कर दिया है। उसने अहं को शिर पर रखकर स्वयं को सबसे बड़ा विवेकी और खोजी समझ लिया है। इसी भूल और भ्रान्ति ने उसे आकुल-व्याकुल, व्यग्र तथा अशान्त बना दिया है। इसी से वह अपने मूल स्वभाव को भूलकर स्वयं में छिपे परमात्मा को बाहर खोज रहा है। तब वह मिले कैसे ? परमात्मपद की प्राप्ति तो संयम, तप, इन्द्रियनिग्रह, यम, नियम, विवेक आदि के माध्यम से ही हो सकती है। ऐसे साधन भी हर युग में होते रहें जो भीतर से जुड़कर अपने को बुनते रहें, गुनते रहें ।

भीतर की यह बुनावट किंवा खुलावट आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया का परिणाम है। इसका आनन्द इन्द्रियातीत है। स्वाधीन और अव्याबाध है। भक्त और साधक कवियों ने इस अनुभूत आनन्द को नानाविध रूपों में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। साहित्य में यह प्रवृत्ति 'रहस्यवाद' नाम से अभिहित की गयी है।

सामान्यतः रहस्यवाद की सृष्टि के लिए जीव और ब्रह्म का भिन्न-भिन्न होना आवश्यक माना गया है। जीव ब्रह्म से मिलने के लिए न केवल आकुल-व्याकुल रहता है, प्रणय निवेदन करता है, वरन् नानाविध बाधाओं को जय करने में भी अपने पुरुषार्थ पराक्रम का

उपयोग करता है। रहस्यवादी कवियों ने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक मिलन और उसकी आनन्दानुभूति का विभिन्न प्रतीकों, रूपकों, उलट-वासियों आदि के रूप में प्रभावकारी वर्णन किया है पर जैन साधना में जीव और ब्रह्म के मिलन की नहीं, वरन् जीव के ही ब्रह्म हो जाने की स्थिति स्वीकार की गयी है। दूसरे शब्दों में जीव अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर, समस्त कर्म पुद्गलों की रज हटाकर अपनी आत्मा चेतना को इतना विशुद्ध और निर्मल बना लेता है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। तब जीव और ब्रह्म में किंचित् भी अन्तर नहीं रहता। इस दृष्टि से जितने भी जीव हैं, उन सबका ब्रह्म हो जाना संभाव्य है। शर्त है केवल अपने को निर्मल, विशुद्ध और निर्विकार-वीतराग बनाना।

जैन दर्शन के ईश्वर विषयक इस भिन्न दृष्टिकोण के कारण आलोचकों में जैन रहस्यवाद को लेकर मत-वैभिन्य रहा है और उसे शंका की दृष्टि से देखा है। पर मुझे यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन ने इस खतरे को उठाकर अपने इस शोध-प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना' में विभिन्न शंकाओं का सुकर समाधान प्रस्तुत किया है दार्शनिक स्तर पर भी और साहित्यिक स्तर पर भी।

श्रीमती पुष्पलता जैन का अध्ययन विस्तृत और गहरा है। उन्होंने व्यापक फलक पर रहस्य चिन्तन और रहस्य भावना का विवेचन विश्लेषण किया है। आठ परिवर्तो में विभाजित अपने शोध प्रबंध में जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आदिकालीन एवं मध्यकालीन जैन काव्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है वहाँ दूसरी ओर रहस्यभावना के

स्वरूप, उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों का विवेचन करते हुए जैन रहस्यभावना का सगुण, निर्गुण, सूफी व आधुनिक रहस्यभावना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका अध्ययन आलोचना एवं गवेषणा से संयुक्त है। पंचशताधिक जैन-जैनेतर कवियों की रचनाओं का आलोड़न-विलोड़नकर उन्होंने अपने जो निष्कर्ष दिये हैं वे प्रमाणपुरस्सर होने के साथ-साथ नवीन दृष्टि और चिन्तन लिये हुए हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह कृति हिन्दी काव्य की रहस्यधारा को समग्र रूप से समझने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

डॉ. नरेन्द्र भानावत
एसोशियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विशवविद्यालय,
जयपुर

२३ अप्रेल, १९८४

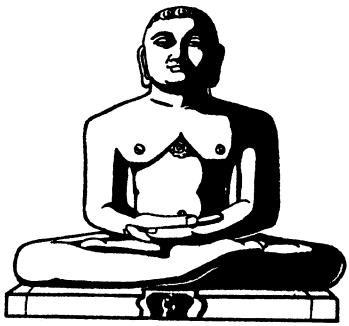

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

उपस्थापना १-२४

प्रथम परिवर्त २५-५६

काल-विभाजन एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

काल विभाजन २५

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ३२

१. राजनीतिक पृष्ठभूमि ३४

२. धार्मिक पृष्ठभूमि ३८-५०

१. वैदिक धर्म ३९

२. जैनधर्म ४३

३. बौद्धधर्म ४८

३. सामाजिक पृष्ठभूमि ५१

द्वितीय परिवर्त ५७-१०४

आदिकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियाँ ५७

अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव ५८

अपभ्रंश भाषा का प्रारूप ५९

१. स्वर और ध्वनियाँ ६०

२. व्यंजन ध्वनियाँ ६१

३. पद रचना ६२

४. विभक्तियाँ और शब्द रूप ६२
५. सर्वनाम ६३
६. धातु रूप ६४
७. परसर्गो का उदय ६५
८. वाक्य रचना ६६
अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव ६७
अपभ्रंश और अवहट्ट ७१
हिन्दी -आदिकाल के विकास में जैनाचार्यों का योगदान ७१
काल विभाजन ७२
सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ७३
आदिकाल का अपभ्रंश बहुल प्रारम्भिक साहित्य ७५
१३वीं शती के हिन्दी जैन कवि ७७
१४वीं शती के हिन्दी जैन कवि ७९
काव्यरूप ८३
भाषादर्शन ८४
हिन्दी जैन गीति काव्य परंपरा ८६
आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में गीति काव्य परम्परा ९४
जैन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश गीति काव्य परम्परा ९७
हिन्दी गीति काव्य १००
तृतीय परिवर्त १०५-१५४
मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियां
१. प्रबन्ध काव्य १०८
२. पौराणिक काव्य ११०

३. चरित काव्य ११२
४. कथा काव्य ११६
५. रासा साहित्य ११७
६. रूपक काव्य १२०
७. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य १२३
८. आध्यात्मिक काव्य १२५
९. स्तवन पूजा और जयमाल साहित्य १२९
१०. चूनड़ी काव्य १३१
११. फागु, बेलि, बारहमासो और विवाहलो साहित्य १३२
१२. संख्यात्मक काव्य १३८
१३. गीति काव्य १४०
१४. प्रकीर्णक काव्य १४९
१५. मरु-गुर्जर हिन्दी जैन साहित्यिक प्रवृत्तियां १५२

चतुर्थ परिवर्त १५५-१९८

रहस्य भावना एक विश्लेषण

रहस्यः शाब्दिक अर्थ, अभिव्यक्ति और प्रयोग १५५
रहस्यवाद की परिभाषा १६०
१. भारतीय विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद १६०
२. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद १६३
रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद के प्रमुख तत्त्व १७१
रहस्यभावना का साध्य, साधन और साधक १७२
अध्यात्मवाद और दर्शन १७६

रहस्यवाद और अध्यात्मवाद १७८
रहस्यवाद और दर्शन १७९
रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद के प्रकार १८०
रहस्य भावना और रहस्यवाद की परम्परा १८२
बौद्ध रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद १८४
जैन रहस्य भावना १८५
जैन और जैनेतर रहस्य भावना में अन्तर १९३

पंचम परिवर्त १९९-२५०

रहस्यभावना के बाधक तत्त्व

१. सांसारिक विषय-वासना १९९
२. शरीर का ममत्व २०९
३. कर्मजाल २१५
४. मिथ्यात्व २२०
५. कषाय २३०
६. मोह २३३
७. बाह्याडम्बर २३८
८. मन की चंचलता २४१

षष्ठ परिवर्त २५१-२९६

रहस्य भावना के साधक तत्त्व २५१

१. सद्गुरु २५२
२. आत्म सम्बोधन २६३
३. आत्मचिन्तन २७१
४. आत्मा-परमात्मा २७७

५. आत्मा और पुद्गल २७८
६. चित्तशुद्धि २८३
७. भेदविज्ञान २८६
८. रत्नत्रय २९०

सप्तम परिवर्त २९७-३४८

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियाँ २९७

१. प्रपत्त भावना २९८
२. सहज-साधना और समरसता ३२१
३. भावनात्मक रहस्य भावना ३२७
४. आध्यात्मिक होली ३३८
५. पंच - कल्याणक ३४६

अष्टम परिवर्त ३४९-४३४

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन ३४९

१. साधना मूलक रहस्यभावना ३४९

१. साधक - बाधक तत्त्व ३४९

१. बाधक तत्त्व ३४९

१. संसार-चिन्तन ३४९
२. शरीर से ममत्व ३५२
३. मिथ्यात्व, मोह और माया ३५५
४. मन ३६१
५. बाह्याडम्बर ३६३

२.	**साधक तत्त्व**	३६७
	१. सद्गुरु और सत्संग	३६७
	२. आत्म-परमात्म-निरूपण	३७३
	३. प्रपत्त - भावना	३८१
	४. सहज-योग साधना और समरसता	३८९
३.	**भावमूलक रहस्य भावना**	३९६
	१. अनुभव	३९६
	२. सूफी रहस्य भावना	३९९
	३. निर्गुण भक्तों की रहस्य भावना	४०७
	४. सगुण भक्तों की रहस्यभावना	४१२
	५. सूफी और जैन रहस्यभावना	४१९
	६. निर्गुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना	४२४
	७. सगुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना	४२७
	८. मध्यकालीन जैन रहस्यभावना और आधुनिक रहस्यवाद	४३०-४३४
संदर्भ अनुक्रमणिका		४३५-४८६
परिशिष्ट		
सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची		४८७-४९८

उपस्थापना

व्यक्ति और सृष्टि के सर्जक तत्त्वों की गवेषणा एक रहस्यवादी तत्त्व है और संभवतः इसीलिये चिन्तकों और शोधकों में यह विषय विवादास्पद बना रहा है । अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को खोजना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है । इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति में साधक की जिज्ञासा और तर्कप्रधान बुद्धि विशेष योगदान देती है । यहीं से दर्शन का जन्म होता है ।

इसमें साधक स्वयं के मूल रूप में केन्द्रित साध्य की प्राप्ति का सुनिश्चित लक्ष्य निर्मित कर लेता है । साध्य की प्राप्ति काल में व्यक्तित्त्व का निर्माण होता है और इस व्यक्तित्त्व की सर्जना में अध्यात्म चेतना का प्रमुख हाथ रहता है ।

मानव स्वभावतया सृष्टि के रहस्य को जानने का तीव्र इच्छुक रहता है। उसके मन में सदैव यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इस सृष्टि का रचयिता कौन है? शरीर का निर्माण कैसे होता है ? शरीर के अन्दर वह कौन सी शक्ति है, जिसके अस्तित्व से उसमें स्पंदन होता है और जिसके अभाव में उस स्पंदन का लोप हो जाता है ? यदि इस शक्ति को आत्मा या ब्रह्म कहा जाये तो वह नित्य है अथवा अनित्य ? उसके नित्यत्व अथवा अनित्यत्व की स्थिति में कर्म का क्या सम्बन्ध है और कर्मो से मुक्ति पाने पर उस शक्ति का क्या स्वरूप है ? रहस्यवाद के ये प्रश्नचिन्ह हैं और इन प्रश्न चिन्हों का समाधान जैन-सिद्धान्त में अत्यन्त सुलझे और सरल ढंग से अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर किया गया है ।

इस रहस्यवाद की धुरी के अन्वेषण में हर देश में विविध प्रयत्न किये गये हैं और उन प्रयत्नों का एक विशेष इतिहास बना हुआ है। हमारी भारत वसुन्धरा पर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर चिंतन-मनन किया है और उसका निष्कर्ष ग्रन्थों के पृष्ठों पर अंकित किया है। उपनिषद् काल में इस रहस्यवाद पर विशेष रूप से विचार प्रारम्भ हुआ और उसकी परिणति तत्कालीन अन्य भारतीय दर्शनों में जाग्रत हुई। यद्यपि इसका इतिहास सिन्धुघाटी में प्राप्त योगी की मूर्तियों में भी देखा जा सकता है, परन्तु जब तक उसकी लिपि का परिज्ञान नहीं होता, इस सन्दर्भ में निश्चित नहीं कहा जा सकता। मुंडकोपनिषद् के ये शब्द चिंतन की भूमिका पर बार-बार उतरते हैं जहां पर कहा गया है कि ब्रह्म न नेत्रों, से, वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध प्राणी उस ब्रह्म को ज्ञान-प्रसाद से साक्षात्कार करते हैं-

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान-प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कले ध्यायमानः।।

रहस्यभावना का यह सूत्र पालि-त्रिपिटक और प्राचीन जैनागमों में भी उपलब्ध होता है। मज्झिमनिकाय का वह सन्दर्भ जैन-रहस्यवाद की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है कि निगण्ठ अपने पूर्व कर्मो की निर्जरा तप के माध्यम से कर रहे हैं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जैन सिद्धांत में आत्मा के विशुद्ध रूप को प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया जाता था। ब्रह्मजालसुत्त में अपरान्तदिट्ठि के प्रसंग में भगवान बुद्ध ने आत्मा को अरूपी और नित्य स्वीकार किये जाने के सिद्धांत का उल्लेख किया है। इसी सुत्त में जैन-सिद्धांत की दृष्टि से रहस्यवाद व अनेकान्तवाद का भी पता चलता है।

रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद के इस स्वरूप को किसी ने गुह्य माना और किसी ने स्वसंवेद्य स्वीकार किया । जैन संस्कृति में मूलत: इसका ''स्वसंवेद्य'' रूप मिलता है जबकि जैनेतर संस्कृति में गुह्य रूप का प्राचुर्य देखा जाता है । जैन सिद्धांत का हर कोना स्वयं की अनुभूति से भरा है । उसका हर पृष्ठ निजानुभव और चिदानन्द चैतन्यमय रस से आप्लावित है । अनुभूति के बाद तर्क का भी अपलाप नहीं किया गया बल्कि उसे एक विशुद्ध चिंतन के धरातल पर खड़ा कर दिया गया। भारतीय दर्शन के लिए तर्क का यह विशिष्ट स्थान निर्धारण जैन संस्कृति का अनन्य योगदान है ।

रहस्य भावना का क्षेत्र असीम है । उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोजना असीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है । अत: असीमता और परम विशुद्धता तक पहुंच जाना तथा चिदानन्द चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है । इसलिए रहस्यवाद किंवा दर्शन का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दु:ख का अनुभव होता है और साधक चरम लक्ष्य रूप परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है । वहां पहुंचकर वह कृतकृत्य हो जाता है और अपना भवचक्र समाप्त कर लेता है । इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है ।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्त्वों को आधार बनाया जा सकता है :-

१. जिज्ञासा या औत्सुक्य,
२. संसारचक्र में भ्रमण करने वाले आत्मा का स्वरूप,
३. संसार का स्वरूप ,
४. संसार से मुक्त होने के उपाय और
५. मुक्त-अवस्था की परिकल्पना।

आदिकाल से ही रहस्यवाद अगम्य, अगोचर गूढ़ और दुर्बोध्य माना जाता रहा है । वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य में इसी रहस्यात्मक अनूभूतियों का विवेचन उपलब्ध होता हैं यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद शब्द उस समय तक प्रचलित न रहा हो । 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है । स्वकीय अनुभूति उसमें संगठित है । अनूभूतियों की विविधता मत वैभिन्य को जन्म देती है । प्रत्येक अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना है । शायद इसीलिए एक ही सत्य को पृथक् पृथक् रूप में उसी प्रकार अभिव्यंजित किया गया जिस प्रकार दस अंकों के द्वारा हाथी के अंगोपांगों की विवेचना कवियों ने इस तथ्य को सरल और सरस भाषा में प्रस्तुत किया है । उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को ''गूंगे का सा गुड़'' बताया है -

'अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय ।
गूगे केरि सरकरा, बैठा मुसकाई ।'

जैन रहस्यवाद परिभाषा और विकास

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी "Mysticism" का अनुवाद है, जिसे प्रथमतः सन् १९२० में श्री मुकुटधर पांडेय ने छायावाद विषयक लेख में प्रयुक्त किया था । प्राचीन काल में इस सन्दर्भ में आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है । यहां साधक आत्मा परमात्मा, स्वर्ग, नरक, राग-द्वेष आदि के विषय में चिन्तन करता था। धीरे-धीरे आचार और विचार क़ा समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढ़ने लगा । कालान्तर में दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए, परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा । उस 'परम' व्यक्तित्त्व के प्रति भाव उमड़ने लगे और उसका साक्षात्कार । रहस्यवाद भी इसी पृष्ठभूमि में दृष्टव्य है ।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है । प्राय: प्रत्येक दार्शनिक ने स्वयं से सम्बन्धित दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिंतन और आराधन किया है और उसी साधना के बल पर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है । इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषाएं भी उनके अपने ढंग से अभिव्यंजित हुई हैं । पाश्चात्य विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर विचार किया है । वर्ट्रन्डरसेल का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रमुख साधन है । इसे हम स्वसंवेद्य ज्ञान कह सकते है जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है[१] । फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति मानते हैं[२] । प्रिंगिल पेटीशन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न में होती है । इससे आनन्द की उपलब्धि होती है । बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द-उपभोग करना उसका धार्मिक पक्ष है । ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है[३] । यहां रहस्यवाद अनुभूति के ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है । आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी रस्यवाद की परिभाषा पर मंथन किया है । रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ''ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है । डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है-''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक

---

1. Mysticism and Logic, Page 6-17 2. Mysticism in Religion, P 25

३. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद- डॉ. रामनारायण पाण्डेय, पृ. ६

शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है । यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता[१] ।

और भी अन्य आधुनिक विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषाएं की हैं । उन परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएं इस प्रकार कही जा सकती हैं -

१. आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति ।
२. तादात्म्य
३. विरह-भावना
४. भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना
५. सद्गुरु और उसका सत्संग ।

प्रायः ये सभी विशेषताएं वैदिक संस्कृति और साहित्य में अधिक मिलती हैं । जैन रहस्यवाद मूलतः इन विशेषताओं से कुछ थोड़ा भिन्न था । उक्त परिभाषाओं में साधक ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है । पर जैनधर्म ने ईश्वर का स्वरूप उस रूप में नहीं माना जो रूप वैदिक संस्कृति में प्राप्त होता है । वह हमारी सृष्टि का कर्ता-हर्ता और धर्ता नहीं है । इसी भिन्नता के कारण शायद प्राचीन परम्परा में जैन दर्शन को नास्तिक कह दिया गया था । वहां नास्तिकता का तात्पर्य था, वेद-निंदक । परन्तु यह वर्गीकरण नितान्त आधार हीन था । इसमें तो जैन और बौद्ध के अतिरिक्त वैदिक शाखा के ही मीमांसा और सांख्य-दर्शन भी इस नास्ति की परिभाषा की सीमा में

---

१. कबीर का रहस्यवाद, पृ. ९

आ जायेंगे। प्रसन्नता का विषय है कि आज विद्वान 'नास्तिक' की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। नास्तिक वही है, जिसके मत में पुण्य और पाप का कोई महत्त्व न हो। जैनदर्शन इस दृष्टि से आस्तिक दर्शन है। उसमें स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की व्यवस्था स्वयं के कर्मो पर आधारित है। उसमें ईश्वर अथवा परमात्मा साधक के लिए दीपक का काम अवश्य करता है, परन्तु वह किसी पर कृपा नहीं करता, इसलिए कि वह वीतरागी है।

जैन दर्शनकी उक्त विशेषता के आधार पर रहस्यवाद की आधुनिक परिभाषा को हमें परिवर्तित करना पड़ेगा। जैन चिंतन शुभोपयोग को शुद्धोपयोग की प्राप्ति में सहायक कारण मानता अवश्य है पर शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाने पर अथवा उसकी प्राप्ति के पथ में पारमार्थिक दृष्टि से उसका कोई उपयोग नहीं। इस पृष्ठभूमि पर हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं।

"अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहां आत्मा विशुद्ध परमात्मा बन जाता है और वीतरागी होकर चिदानन्द रस का पान करता है"।

रहस्यवाद की यह परिभाषा जैन साधना की दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है। जैन साधना का विकास यथासमय होता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यह विकास तत्कालीन प्रचलित जैनेतर साधनाओं से प्रभावित भी रहा है। इस आधार पर हम जैन रहस्यवाद के विकास को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं -

१. आदिकाल - प्रारम्भ से लेकर ई. प्रथम शती तक।
२. मध्यकाल - प्रथम - द्वितीय शती से ७-८ वीं शती तक।
३. उत्तरकाल ८ वीं ९ वीं शती से आधुनिक काल तक।

१. आदिकाल

वेद और उपनिषद् में ब्रह्म का साक्षात्कार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता था। जैन रहस्यवाद जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, ब्रह्म अथवा ईश्वर को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता। यहां जैन दर्शन अपने तीर्थंकर को परमात्मा मानता है और उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर साधक स्वयं को उसी के समकक्ष बनाने को प्रयत्न करता है। वृषभदेव, महावीर आदि तीर्थंकर ऐसे ही रहस्यदर्शी महापुरुषों में प्रमुख हैं।

हम इस काल को सामान्यतः जैनधर्म के आविर्भाव से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थकर आदिनाथ ने हमें साधना पद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तर कालीन तीर्थकर और आचार्यो ने अपनी साधना की। इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की रहस्य साधनाएं साहित्य में उपलब्ध होती हैं - १. पार्श्वनाथ परम्परा की रहस्य साधना और २. निगंठ नातपुत्त परम्परा की रहस्य साधना।

भगवान पार्श्वनाथ जैन परम्परा के २३ वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनसे भगवान महावीर, जिन्हें पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त के नाम से स्मरण किया गया है, लगभग २५० वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह है। उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में 'पार्श्वनाथ' अथवा 'पासत्थ' कहा गया है।

निगण्ठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंच व्रतों को स्वीकार किया - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य में मिलते हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं[1]। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पं. पदमचंद शास्त्री ने आगमों के ही आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पार्श्वनाथ के पंच महाव्रत थे, चातुर्याम नहीं (अनेकान्त, जून १९७७)। इस पर अभी मंथन होना शेष है।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप में लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमें कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह बहुत अधिक नहीं। यहां तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये - अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। साधक बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और परमात्मा में एकाकारता हो जाती है -

''तिपयारो सो अप्पा परयंतबाहिरी हु देहीणं।
तच्च परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा।।[2]
''अक्खाणि वहिरप्पा अन्तर अप्पाहु अत्थसंकल्पो।
कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।।[3]

---

१. विशेष देखिये - डॉ. भागचन्द जैन भास्कर का ग्रन्थ जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, तृतीय अध्याय-जैन ईथिक्स। २. मोक्खपाहुड-कुन्दकुन्दाचार्य ४ भ, पार्श्व के पंच महाव्रत, अनेकांत, वर्ष ३०, किरण १, पृ. २३-२७ जून मार्च १९७७। ३. मोक्खपाहु।

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निस्संदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है । ये ग्रन्थ प्राचीन जैन अंग साहित्य पर आधारित रहे हैं जहां आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का स्वर गुजिंत होता है । आचारांग मूल प्राचीनतम अंग ग्रन्थ है । यहां जैनधर्म मानव धर्म के रूप में अधिक मुखर हुआ है । वहां 'आरिएहिं' शब्द से प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए समता को ही धर्म कहा है - समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते ।

आचारांग का प्रारम्भ वस्तुतः ''इय मेगेसिंणो सण्णा भवइ'' (इस संसार में किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता) सूत्र से होता है । इस सूत्र में आत्मा का स्वरूप तथा संसार में उसके भटकने के कारणों की ओर इंगित हुआ है । 'संज्ञा' (चेतन) शब्द अनुभव और ज्ञान को समाहित किये हुये है । अनुभव मुख्यतः सोलह प्रकार के होते हैं - आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध मान, माया, लोभ, शोक, मोह, सुख, दुःख, मोह विचिकित्सा, शोक और धर्म । ज्ञान के पांच भेद हैं - मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान । इस सूत्र में विशिष्ट ज्ञान के अभाव की ही बात की गई है । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति संसार में मोहादिक कर्मो के कारण भटकता रहता है । जो साधक यह जान लेता है वही व्यक्ति आत्मज्ञ होता है । उसी को मेधावी और कुशल कहा गया है । ऐसा साधक कर्मो से बंधा नहीं रहता। वह तो अप्रमादी बनकर विकल्प जाल से मुक्त हो जाता है । यहां अहिंसा, सत्य आदि का विवेचन मिलता है पर उसका वर्गीकरण नहीं दिखाई देता । उसी तरह कर्मो और उनके प्रभावों का वर्णन तो है

पर उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन दिखाई नहीं देता। कुन्दकुन्दाचार्य तक आते-आते इन धर्मो का कुछ विकास हुआ जो उनके ग्रंथों में प्रतिबिम्बित होता है।

२. मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उनके ही पद चिन्हों पर आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, मुनि योगेन्दु आदि आचार्यो ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार विश्लेषण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वाति ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुंचाया था। इस बीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा में बद्ध हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल में जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था और इन्द्रिय प्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल में प्रश्न-प्रतिप्रश्न खडे हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये - सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहां निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेषण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस काल में वस्तुतः साधना का क्षेत्र विस्तृत हुआ। आत्मा के स्वरूप की खूब मीमांसा हुई। उपयोगात्मकता पर अधिक जोर दिया गया, कर्मो के भेद-प्रभेद पर मंथन हुआ और ज्ञान-प्रमाण को भी चर्चा

का विषय बनाया गया। दर्शन के सभी अंगों पर तर्कनिष्ठ ग्रन्थों की भी रचना हुई। पर इस युग में साधना का वह रूप नहीं दिखाई देता जो आरम्भिक काल में था। साधना का तर्क के साथ उतना सामंजस्य बैठता भी नहीं है। इसके बावजूद दर्शन के साथ साधना और भक्ति का निर्झर सूख नहीं पाया बल्कि सुधारात्मक तत्त्वों के साथ वह भक्ति आन्दोलन का रूप ग्रहण करता गया। इस काल में दार्शनिक उथल-पुथल बहुत हुई और क्रियाकाण्ड की ओर प्रवृत्तियां बढने लगीं। **''अप्पा सो परमप्पा''** अथवा **''सव्वे सुद्ध हु सुद्ध णया''** जैसे वाक्यों को ऐकान्तिक दृष्टि की ओर खींचा जाने लगा। निश्चय नय और व्यवहार नय के सामञ्जस्य की ओर ध्यान देकर किसी एक पक्ष की ओर झुकाव अधिक हो गया। इस संदर्भ में वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में स्वामी समन्तभद्र का कथन दृष्टव्य है जहां वे कहते हैं कि हे भगवन्! आपको हमारी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतराग हैं और न आपको निन्दा से कोई प्रयोजन है, क्योंकि आपने वैरभाव को समूल नष्ट कर दिया है, फिर भी हम श्रद्धा-भक्ति पूर्वक जो भी आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिए कि ऐसा करने से पाप वासनाओं और मोह-राग द्वेषादि भावों से मलिन मन तत्काल पवित्र हो जाता है।

न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवांतवैरे।
तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितां जनेभ्यः।।

इस युग में मुनि योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम उसे लगभग ८ वीं ९ वीं शताब्दी तक निश्चित कर सकते हैं। इनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निर्विवाद रूप से हमारे सामने हैं -- (१) परमात्मसार और (२)

योगसार । इन ग्रंथों में कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिये हैं जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यजक कहे जा सकते हैं । इन ग्रन्थों में अनुभूति का प्राधान्य है इसलिए कहा गया है कि परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि क्रियाकर्म निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते हैं ।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु विमणस्य ।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स ।। योगसार, १२।।

३. उत्तरकाल

उत्तरकाल में रहस्यवाद की आचारगत शाखा में समयानुकूल परिवर्तन हुआ । इस समय तक जैन संस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओं और मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा घनघोर विपदाओं के बादल छा गये थे । उनसे बचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचारांग को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवीं शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में मन्दस्वर में ही किया । इससे लगता है, तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी । जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया ।

जिनसेन और सोमदेव के बाद रहस्यवादी कवियों में मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है । उनका 'पाहुड दोहा' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है । शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह विलीन हो जाता है ।

शिव विणु सत्ति ण वावइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु ।
दोहि मि जाणहि सलु-जगु दुज्झइ मोह विलीणु ।। वही ५५।।

मुनि रामसिंह के बाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया । इस विकास का मूल कारण भक्ति का उद्रेक था । इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि बनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है । नाटक समयसार, मोहविवेक-युद्ध (बनारसीदास) आदि ग्रंथों में उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही बनता है । 'सुमति'को पत्नी और चेतन को पति बनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है । आत्मा रूपी पत्नी और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पडा है । अन्त में आत्मा को उसका पति उसके घर अन्तरात्मा में ही मिल जाता है । इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि बनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है -

पिय मेरे घट मैं पिय माहि । जल तरंग ज्यों दुविधा नाहि ।।
पिय मो करता मैं करतूति । पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ।।
पिय सुख सागर मैं सुख-सींव । पिय सुख-मंदिर मैं शिव-नींव ।।
पिय ब्रह्म मैं सरस्वति नाम । पिय माधव मो कमला नाम।।
पिय शंकर मैं देवि भवानि । पिय जिनवर मैं केवल बानि ।।[१]

ब्रह्म साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है । जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है । बनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ में अपने भावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है -

''बालक तुहुं तन चितवन गागरि कूटि,
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम ।।१।।

---

१. बनारसीविलास, पृ. १६१ ।

पिग सुधि पावत वन में पैसिउ पेलि,
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ।।२।।[1]

रहस्य भावनात्मक इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त समग्र जैन साहित्य में, विशेषरूप से हिन्दी जैन साहित्य में और भी प्रवृत्तियां सहज रूप में देखी जा सकती हैं। वहां भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद उपलब्ध होते हैं। मोह-राग द्वेष आदि को दूर करने के लिए सद्गुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चरित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बडी ही सुन्दर, सरल भाषा में प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, जिनदास का चेतनगीत, जगतराम का आगमविलास, भवानीदास का 'चेतन सुमति सज्झाय' भगवतीदास का योगीरासा, रूपचंद का परमार्थगीत' द्यानतराय का द्यानतविलास आनन्दघन का आनंदवचन बहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति रहस्य की उपलब्धि है। इस उपलब्धि के मार्गो में साधक एक मत नहीं। इसकी प्राप्ति में साधकों ने शुभ-अशुभ अथवा कुशल-अकुशल कर्मो का विवेक खो दिया। बौद्ध-धर्म के सहजयान, मंत्रयान, तंत्रयान वज्रयान आदि इसी साधना के वीभत्स रूप हैं। वैदिक साधनाओं में भी इस रूप के दर्शन स्पष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि जैनधर्म भी इसे अछूता नहीं रहा परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि उसमें श्रद्धा और भक्ति का अतिरेक तो अवश्य हुआ, विभिन्न मंत्रों और सिद्धियों का आविष्कार भी हुआ किन्तु उन

---

१. वही, पृ. २२८।

मंत्रों और सिद्धियों की परिणति वैदिक अथवा बौद्ध संस्कृतियों में प्राप्त उस वीभत्स रूप जैसी नहीं हुई। यही कारण है कि जैन संस्कृति के मूल स्वरूप अक्षुण्ण तो नहीं रहा पर गर्हित स्थिति में भी नहीं पहुंचा।

जैन रहस्य भावना के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर यह विकास अपनी मूल साधना के स्वरूप से उतना दूर नहीं हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल में दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जैनेतर साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रबल स्वरूप में प्रभावित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध को आठ परिवर्तो में विभक्त किया गया है। प्रथम परिवर्त में आदि और मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अवलोकन है। सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शती से माना जाता है परन्तु जहां तक हिन्दी साहित्य के मध्य काल की बात है उसका काल कब से कब तक माना जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमने इस काल की सीमा का निर्धारण वि.सं. १४०० से वि. सं. १९०० तक स्थापित किया है। वि. सं. १४०० के बाद कवियों को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्य दिखाई पडता है। फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति और रुचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप जनता की रुचि जीवन से उदासीन और भगवत् भक्ति में लीन होकर आत्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी इसलिए कविगण इस विवेच्य काल में भक्ति और अध्यात्म सम्बन्धी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियों की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि. सं. १९०० तक मिलती हैं अतः इस सम्पूर्ण काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुकूल प्रतीत होता है।

इसके पश्चात् हमने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है । जिसके अन्तर्गत राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है । इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ है ।

द्वितीय परिवर्त में हिन्दी जैन साहित्य के आदिकाल की चर्चा की गई है । इस संदर्भ में हमने अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी प्रवृत्तियों की दृष्टि से समाहित किया है । यह काल दो भागों में विभक्त किया है - साहित्यिक अपभ्रंश और अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएं । प्रथम वर्ग के स्वयंभूदेव, पुष्पदंत आदि कवि हैं और द्वितीय वर्ग में शालिभद्र सूरि जिन पद्मसूरि आदि विद्वान उल्लेखनीय हैं । भाषागत विशेषताओं का भी संक्षिप्त परिचय किया है ।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल को बहुत प्रभावित किया है । उनकी सहज-सरल भाषा, स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धांतों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अमिट छाप छोडी है । भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कडी है । इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है । यहीं हमने हिन्दी जैन गीति काव्य परंपरा पर भी विचार किया है ।

तृतीय परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है । इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) के

रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है । चूंकि भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण विचारधारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही हैं तुथा रीतिकाल में भी भक्ति सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध होती हैं । अतः हमने इसका धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक माना । जैन साहित्य का उपर्युक्त विभाजन और भी संभव नहीं क्योंकि वहां भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं । इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य स्रोत जैन आचार्यो और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल में भी प्रवाहित हुआ है । अतः हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यों का वर्गीकरण काव्यात्मक न करके प्रवृत्यात्मक करना अधिक उपयुक्त समझा । इस वर्गीकरण में प्रधान और गौण दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का आकलन हो जाता है ।

जैन कवियों और आचार्यो ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पेठकर अनेक साहित्यिक विधाओं को प्रस्फुटित किया है । उनकी इस अभिव्यक्ति को हमने निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत किया है -

१. प्रबन्ध काव्य - महाकाव्य, खण्डकाव्य, पौराणिक काव्य, कथा काव्य चरित काव्य, रासा साहित्य आदि ।

२. रूपक काव्य - होली, विवाहलो, चेतनकर्म चरित आदि ।

३. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य - स्तवन, पूजा, चौपाई, जयमाला, चांचर, फागु, चूनडी, वेलि, संख्यात्मक, बारहमासा आदि ।

४. गीति काव्य - विविध प्रसंगों और फुटकर विषयों पर निर्मित गीत ।

५. प्रकीर्णक काव्य - लाक्षणिक, कोश, गुर्वावली, आत्मकथा आदि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी प्रवृत्तियां मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्फुटित हुई हैं। इन रचनाओं में आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान है जिससे कवि की भाषा आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक दिखती है। उसका मूल उत्स रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

चतुर्थ परिवर्त रहस्यभावना के विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसमें हमने रहस्य भावना और रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए रहस्यवाद की विविध परिभाषाओं का समीक्षण किया है और उसकी परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया है। हमारी रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है - "रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिकसाधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूति पूर्वक आत्म तत्त्व से परम तत्त्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था की अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है।" यहीं हमने जैन रहस्य साधकों की प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करते हुए रहस्यवाद और अध्यात्मवाद के विभिन्न आयामों पर भी विचार किया है। इसी सन्दर्भ में जैन और जैनतर रहस्यभावना में निहित अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि जैन रहस्य साधना में आत्मा की तीन अवस्थायें मानी गयी हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

बहिरात्मा में जीव जन्म मरण के कारण स्वरूप भौतिक सुख के चक्कर में भटकता रहता है। द्वितीयावस्था (अन्तरात्मा) में पहुंचने पर संसार के कारणों पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करने से आत्मा अन्तरात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। फलतः वह भौतिक सुखों को क्षणिक और त्याज्य समझने लगता है। तृतीयावस्था (परमात्मा-ब्रह्मसाक्षात्कार) की प्राप्ति के लिए साधनात्मक और भावनात्मक प्रयत्न करता है। इन्हीं तीनों अवस्थाओं पर आगे के तीन अध्यायों में क्रमशः प्रकाश डाला है।

पंचम परिवर्त में रहस्यभावना के बाधक तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है। रहस्यसाधना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इसको आत्म-साक्षात्कार, परमात्मपद, परम सत्य, अजर-अमर पद, परमार्थ प्राप्ति आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। अतः हमने इस अध्याय में आत्म चिन्तन को रहस्यभावना का केन्द्र बिन्दु माना है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूति पूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। हमने यहां रहस्यभाना के मार्ग के बाधक तत्त्वों को जैन सिद्धांतों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनमें सांसारिक विषय वासना शरीर से ममत्व, कर्मजाल, माया-मोह, मिथ्यात्व, बाह्याडम्बर और मन की चंचलता पर विचार किया है। इन कारणों से साधक बहिरात्म अवस्था में ही पडा रहता है।

षष्ठ परिवर्त रहस्यभावना के साधक तत्त्वों का विश्लेषण करता है। इस परिवर्त में सद्गुरु की प्रेरणा, नरभव दुर्लभता, आत्म-संबोधन, आत्मचिन्तन, चित्त शुद्धि, भेदविज्ञान और रत्नत्रय जैसे रहस्यभावना के साधक तत्त्वों पर मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के

आधार पर विचार किया गया है । यहां तक आते-आते साधक अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सप्तम परिवर्त रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। इस परिवर्त में अन्तरात्मावस्था प्राप्त करने के बाद तथा परमात्मावस्था प्राप्त करने के पूर्व उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। आत्मा की तृतीयावस्था प्राप्त करने के लिए साधक दो प्रकार के मार्गो का अवलम्बन लेता है-साधनात्मक और भावनात्मक । इन प्रकारों के अन्तर्गत हमने क्रमशः सहज साधना, योग साधना, समरसता प्रापत्ति-भक्ति, आध्यात्मिक प्रेम, आध्यात्मिक होली, अनिर्वचनीयता आदि से सम्बद्ध भावों और विचारों को चित्रित किया है।

अष्टम परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी जैन एवं जैनेतर रहस्यवादी कवियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । इस सन्दर्भ में मध्यकालीन सगुण-निर्गुण और सूफी रहस्यवाद की जैन रहस्यभावना के साथ तुलना भी की गई है। इस सन्दर्भ में स्वानुभूति, आत्मा और ब्रह्म, सद्गुरु, माया, आत्मा ब्रह्म का सम्बन्ध विरहानुभूति, योग साधना, भक्ति, अनिर्वचनीयता आदि विषयों पर लगभग ५०० जैन कवियों के ग्रन्थों के आधार पर सांगोपांग रूप से विचार किया गया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को हमने बहुत संक्षेप में ही उपस्थित किया है और काल विभाजन के विवाद एवं

नामकरण में भी हम नहीं उलझे । विस्तार और पुनरुक्ति के भय से हमने आदिकालीन और मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य को उनकी सामान्य प्रवृत्तियों में ही विभाजित करना उचित समझा। यह मात्र सूची जैसी अवश्य दिखाई देती है पर उसका अपना महत्त्व है। यहां हमारा उद्देश्य हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को प्रत्येक प्रवृत्तिगत महत्त्वपूर्ण काव्यों की गणना से ज्ञापित कराना मात्र रहा है जिनका अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में किन्हीं कारणों वश उल्लेख नहीं हो पाया । उन प्रवृत्तियों के विस्तार में हम नहीं जा सके। जाना सम्भव भी नहीं था क्योंकि उसकी एक-एक प्रवृत्ति पृथक् पृथक् शोध प्रबन्ध की मांग करती प्रतीत होती है। तुलनात्मक अध्ययन को भी हमने संक्षिप्त किया है अन्यथा वह भी एक अलग प्रबन्ध-सा हो जाता। प्रस्तुत अध्ययन के बाद विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

प्रायः हर जैन मंदिर में हस्तलिखित ग्रंथों का भण्डार है। परन्तु वे बडी बेरहमी से अव्यवस्थित पडे हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यदि शोधक उन्हें देखना चाहे तो उसे पूरी सुविधायें नहीं मिल पातीं । हमने अपने अध्ययन के लिए जिन-जिन शास्त्र भंडारों को देखा, सरलता कहीं नहीं हुई । जो भी अनुभव हुए, उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि शोधक के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रभूत सामग्री है पर उसे साहसी और सहिष्णु होना आवश्यक है।

इस प्रबन्ध लेखन में हमें मान्यवर स्व. प्रोफेसर व्ही.पी. श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिस्लाप कालेज,नागपुर का मार्गदर्शन मिला है। उनके स्नेहिल मार्गदर्शन के लिये हम अत्यंत

कृतज्ञ हैं। इसी तरह हिन्दी जैन साहित्य के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान स्व. डॉ. नरेन्द्र भानावत, रीडर हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के भी हम आभारी हैं जिन्होंने बडे आत्मीयता पूर्वक प्राक्कथन लिखने का हमारा आग्रह स्वीकार किया।

इसके बाद हम सर्वाधिक ऋणी हैं अपनी मातेश्वरी स्व. श्वश्रूजी श्रीमती तुलसा देवी गोरेलाल जैन के जिन्होंने हमेशा पारिवारिक अथवा गार्हस्थिक उत्तरदायित्वों से मुझे मुक्त-सा रखा। उनका पुनीत स्नेह हमारा प्रेरणा स्रोत रहा है। साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ कर सकी हूं, उनके आशीर्वाद का फल है। उनके चरणों में नतमस्तक हूं। उन्हीं को यह कृति समर्पित है। उनके साथ ही मैं अपने जीवन साथी डॉ. भागचन्द जैन भास्कर भूतपूर्व, अध्यक्ष पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्व-विद्यालय तथा वर्तमान में प्रोफेसर एमेरिटस, मद्रास विश्वविद्यालय की भी चिर ऋणी हूं जिनसे जैनधर्म और दर्शन को समझने में सुविधा हुई है। इस पुस्तक का उन्होंने सम्पादन भी भलीभांति कर दिया है।

प्रस्तुत अध्ययन में जिन लेखकों और विद्वानों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला, उन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूं। विशेष रूप से सर्व श्री डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अगरचंद नाहटा परमानन्द शास्त्री, डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल, डॉ. प्रेमसागर, डॉ. वासुदेव सिंह, डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ. रामनारायण पांडेय, डॉ. नरेन्द्र भानावत प्रभृति के प्रति आभार व्यक्त करना चाहती हूं जिनके श्रम और शोध विवरण ने हमारे काम को कुछ हल्का कर दिया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. कस्तूरचंद

कासलीवाल ने परिक्षक के रूप में हमारे शोध प्रबंध की जो अनुशंसा की है उसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूं ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध "मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना" सन् १९७५ में नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पीएच.डी की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। लगभग आठ वर्षो बाद वह प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुआ । प्रस्तुत संस्करण प्रथम संस्करण का ही परिवर्धित संस्करण है। इसमें हमने आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य को भी समाहित किया है । इसमें समूचे प्राचीन हिन्दी जैन साहित्य से सामग्री एकत्रित कर "हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना" शीर्षक से उसे अब प्रकाशित किया है। यह संस्करण यद्यपि प्रथम संस्करण का ही परिवर्धित रूप है परंतु यह परिवर्धन इतनी अधिक मात्रा में हो गया है कि उसे नवीन संस्करण कहने में संकोच नहीं होगा। अतः इसे हमने प्रथम संस्करण ही कहना उचित समझा है। आशा है हमारा विद्वत्वर्ग इसका स्वागत करेंगे। इस प्रसंग में विद्वान पाठकों से क्षमा याचना भी करना चाहूंगी जिन्हें मुद्रण की अशुद्धियां पायस में कंकण का अनुभव दे रही हैं।

श्रीमती पुष्पलता जैन

तुलसा भवन, न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर - ४४०००१
फोन नं. ०७१२-२५४१७२६ दि. २८-३-२००८

प्रथम परिवर्त

काल-विभाजन एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

काल विभाजन

सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शदी से माना जाता है। परन्तु जहां तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की बात है, उसका काल कब से कब तक माना जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने कालविभाजन का आधार जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन को बताया है उनका विचार है "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है।"[१] रुचि विशेष में परिवर्तन के समय को निश्चितकर एवं उस साहित्य में निहित प्रभावशाली प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर ही काल-निर्णारण करना आवश्यक है। प्रायः इन विचारों को दृष्टि में रखकर हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहासकारों ने एक निश्चित समय में मिली कृतियों और उनमें निहित प्रवृत्तियों के आचार पर ही उसका नामकरण और काल-विभाजन किया है।

इसके बावजूद हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। डॉ. गियर्सन, मिश्रबन्धु, शिवसिंह सैंगर, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन, डॉ.

रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारम्भ वि.सं. ७ वीं शती से १४वीं शती तक स्वीकार किया है। दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि सम्मान्य विद्वान् उसका प्रारंभ १०वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक मानते हैं। इन विद्वानों में कुछ विद्वान आदि कालीन अपभ्रंश भाषा में लिखे साहित्य को पुरानी हिन्दी का रूप मानते हैं और कुछ हिन्दी साहित्य के विकास में उनका उल्लेख करते हैं।

आ. रामचन्द्र शुक्ल के समय अपभ्रंश और विशेष रूप से हिन्दी जैन साहित्य का प्रकाशन नहीं हुआ था। जो कुछ भी हिन्दी जैन ग्रंथ उपलब्ध थे उन्हीं के आधार पर उन्होंने समूचे हिन्दी जैन साहित्य को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में नितान्त धार्मिक, साम्प्रदायिक और शुष्क ठहरा दिया। उन्हीं का अनुकरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है ''जो हिन्दी के पाठकों को यह समझाते फिरते हैं कि उसकी भूमिका जैनों और बौद्धों की साम्प्रदायिक सर्जना में है वे स्वयं भ्रम में है और उन्हें भी इस इहलाभ से भ्रमित करना चाहते हैं। हिन्दी के शुद्ध साहित्य की भूमिका संस्कृत और प्राकृत की सर्जना में तो ढूंढी जा सकती है, पर अपभ्रंश की साम्प्रदायिक अर्चना में नहीं। अपभ्रंश के नैसर्गिक साहित्य-प्रवाह से भी उसका संबंध जोडा जा सकता है, पर जैनों के साम्प्रदायिक संवाह से नहीं।"[२]

परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सिद्धान्त से सहमत नहीं। उनके अनुसार'' धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने

लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।"[३] डॉ. भोलाशंकर व्यास ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।[४] लगभग दसवीं शती के पूर्व की भाषा में अपभ्रंश के तत्त्व अधिक मिलते हैं। यह स्वाभाविक भी है। इसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने पुरानी हिन्दी कहा है।[५] राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी माना है और हिन्दी काव्य धारा में लिखा है- ''जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में उसके अधिक काम किया। वह ब्राह्मणों की तरह संस्कृत के अंध भक्त भी नहीं थे। अतएव जैनों ने देश भाषा में कथा साहित्य की सृष्टि की, जिसके कारण स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अनमोल अद्वितीय कविरत्न हमें मिले। ''स्वयंभू हमारे इसी युग में नहीं, हिन्दी कविता के पांचों युगों - १. सिद्ध सामन्त युग, २. सूफी युग, ३. भक्ति युग, ४. दरबारी युग, ५. नवजागरण युग के जितने कवियों को हमने यहां संग्रहीत किया है, उसमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बडे कवि थे। स्वयंभू के रामायण और महाभारत दोनों ही विशाल काव्य हैं।[६]

यह बडा विवादास्पद प्रश्न है कि अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में आये हुए देशज शब्दों अथवा अपभ्रंश साहित्य की कतिपय प्रवृत्तियों को ''पुरानी हिन्दी'' का रूप स्वीकार किया जाय या नहीं। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान अपभ्रंश भाषा और साहित्य का मूल्यांकन करते हुए भी उसे - ''पुरानी हिन्दी'' का रूप स्वीकार करने

में हिचकिचाते हैं। उन्होंने लिखा है- ''यह विचार भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषाशास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी (खड़ी, बोली, ब्रजभाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। व्यवहार में पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उपभाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भूभाग के निवासियों की साहित्यिक भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते हैं। ''द्विवेदी जी कहते हैं।--जहां तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता।'' परन्तु जहां तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।[७] डॉ. प्रेमसागर ने भी लगभग इसी मत को स्वीकार किया है।[८]

परन्तु हमारा मत है, हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमा लगभग सप्तम शती से प्रारंभ मानी जानी चाहिए। अपभ्रंश भाषा के साहित्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय अपभ्रंश के साथ ही देशी भाषा का भी प्रयोग होता था। यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि जब कोई बोली साहित्य के क्षेत्र में आ जाती है तो वह भाषा बन जाती है और उसका स्थान उसी की नई बोली ग्रहण कर लेती है। इसी को देशी भाषा कहा जा सकता है। इस भाषा के शब्द अपभ्रंश भाषा के साहित्य में यत्र तत्र बिखरे पडे हुए हैं। उन्हीं को हम ''पुरानी हिन्दी'' कह सकते हैं। राहुल सांकृत्यायन की हिन्दी काव्यधारा इस तथ्य का प्रमाण है कि हिन्दी के आदि-काल में किस प्रकार अपभ्रंश और देशी

भाषा का प्रयोग होता था। यहां हमने अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के विवाद में अधिक न जाकर हिन्दी के विकास में अपभ्रंश और देशी भाषा के महत्त्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है। और इसलिए आदिकाल की सीमा को लगभग सप्तम शती से १४ वीं शती तक स्थापित करने का दुस्साहस किया है। इस काल के साहित्य में भाषा और प्रवृत्तियों का वैविध्य दिखाई देता है। धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर, नीतिकाव्य आदि जैसी प्रवृत्तियां उल्लेखनीय हैं। चरित, कथा, रासा आदि उपलब्ध साहित्य इन्हीं प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आ जाता है। धार्मिक और लौकिक दोनों प्रवृत्तियों का भी यहां समन्वय देखा जा सकता है। इन सभी प्रवृत्तियों को एक शब्द में समाहित करने के लिए 'आदिकाल' जैसे निष्पक्ष शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त लगता है। डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन ने इसे अपभ्रंश काल कहकर उसका मूल्यांकन किया है।[१]

इसे चाहे अपभ्रंश काल कहा जाय या चारणकाल या संधिकाल, पर इतना निश्चित है कि इस काल में अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप साहित्यिक हो गया था और उसका देशज रूप पुरानी हिन्दी को स्थापित करने लगा था। अपभ्रंश के साथ ही पुरानी हिन्दी का रूप स्वयंभू, हेमचन्द्र जैसे आचार्यो के ग्रन्थों में भलीभांति प्रतिबिम्बित हुआ है। इसलिए इसका नाम अपभ्रंश की अपेक्षा आदिकाल अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस नामकरण को तो स्वीकृत किया है पर वे काल-सीमा को स्वीकार नहीं कर सके। नामकरण के पीछे प्रवृत्ति, जाति, भाषा, व्यक्ति, संप्रदाय, विशिष्ट रचना शैली, प्राचीनता-अर्वाचीनता,

रचना-स्तर, राजनीतिक घटनाएं आदि अनेक आधारों को प्रस्थापित किया गया पर वे कोई भी अपने को निर्दोष सिद्ध नहीं कर सके। उनमें सर्वाधिक निर्दोषता आदिकाल के साथ ही जुटी हुई है जहां सब कुछ अन्तर्भुक्त हो जाता है। अत: यहां राहुल सांकृत्यायन तथा डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों का समन्वय कर हिन्दी के उस काल-खण्ड का नामनिर्धारण 'आदिकाल' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, हमने आदिकाल की सीमा का निर्धारण लगभग सप्तम शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक किया है। इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-पहला अपभ्रंश बहुल हिन्दी काल और दूसरा प्रारंभिक हिन्दी काल। प्रथम काल में भाषा-साहित्यिक अपभ्रंश से विकसित होकर देशी भाषा की ओर बढने लगी थी। स्वयंभू के पूर्ववर्ती कवियों ने जिसे अपभ्रंश कहा, स्वयंभू ने उसे ''देसी भासा उभय-तडुज्जल'' कहकर 'देसी भासा' संज्ञा देना अधिक उचित समझा । उत्तरकालीन कवि लक्ष्मणदेव ने णेमिणाहचरिउ में 'णअ सक्कउ पाउअ देस भास' कहकर इसी का समर्थन किया है । संभव है, अपभ्रंश की लोकप्रियता को ही देखकर उसके विकसित स्वरूप को विद्यापति ने अवहट्ट और देसिल वअना (देशी वचन) कहा हो। प्राकृत के विकसित रूप को ही वस्तुत: अपभ्रंश कहा गया है। वैसे पातंजलि (१५० ई.पू.) ने महाभाष्य में सर्वप्रथम अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया पर वह प्रयोग अपाणिनीय शब्दों के लिए हुआ है। भामह और दण्डी (७ वीं शती) तक आते-आते वह आभीर किंवा अशिष्ट समाज की बोली के रूप में स्वीकार की जाने लगी। उद्योतन (८वीं शती) और स्वयंभू के काल तक अपभ्रंश ने एक काव्य शैली और भाषा के रूप में अपना स्थान बना लिया।

आठवीं शती के बाद तो अपभ्रंश भाषा के भेदों में गिनी जाने लगी। रुद्रट, राजशेखर जैसे कवियों ने उसका साहित्यिक समादर किया। पुरुषोत्तम (११वीं शती) के काल तक पहुंचते-पहुंचते उसका प्रयोग शिष्ट प्रयोग माना जाने लगा। हेमचन्द्र ने तो अपभ्रंश की साहित्य समृद्धि को देखकर उसका परिनिष्ठित व्याकरण ही लिख डाला। अपभ्रंश अथवा देशी भाषा की लोकप्रियता का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है।

वि.सं. १४०० के बाद कवियों को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्न्य दिखाई पडता है। फलस्वरूप जनता की मनोवृत्ति और रुचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणामस्वरूप जनता की रुचि जीवन से उदासीन और भगवद्भक्ति में लीन होकर आत्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी। इसलिए इस विवेच्य काल में कवि भक्ति और अध्यात्म संबंधी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियों की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि.सं. १९०० तक मिलती हैं। अतः इस समूचे काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुकूल प्रतीत होता है। आ. शुक्ल ने भी आदिकाल (वीरगाथाकाल), पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल), उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) और आधुनिक काल नाम रखे हैं। आ. शुक्ल ने जैन कवियों की भक्ति और अध्यात्म संबंधी रचनाओं को नहीं टटोला या उन्हें देखने नहीं मिली। अतः मात्र जैनेतर हिन्दी कवियों की श्रृंगारिक और रीतिबद्ध रचनायें देखकर ही मध्यकाल के उपर्युक्त दो भाग किये। चूंकि जैन कवियों द्वारा रचित जैन काव्य की भक्ति रूपी अजस्रधारा वि.सं. १९०० तक बहती है। अतः हमने इस सम्पूर्णकाल को मध्यकाल के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इस काल में जैन

कवियों ने रीति संबंधी (लक्षण ग्रंथ श्रंगर परक चित्रण, नायक-नायिका भेद आदि) ग्रंथ भी रचे हैं परन्तु इसकी संख्या तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य ही है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने मध्यकाल की इसी सीमा को स्वीकार किया है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु के बने संस्कृति शब्द का अर्थ है, सम्यक् प्रकार से निर्माण अथवा परिष्करण की क्रिया । संस्कार, वातावरण और सभ्यता का संदर्भ भी इस शब्द के साथ जुडा हुआ है। इसलिए संस्कृति के क्षेत्र में धर्म, दर्शन, इतिहास, काल, साहित्य आदि सब कुछ अन्तर्भुक्त हो जाता है।

संस्कृति का अंग्रेजी अनुवाद साधारणतः Culture शब्द से किया जाता है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग १४२० ई. में कृषि और पशुपालन के अर्थ में किया गया था।[१०] लेटिन Colere शब्द से भी इसकी निरुक्ति बतायी जाती है। वह भी कृषि से संबद्ध है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कृषि का सम्बन्ध मानव की परंपरा से रहा है। कृषि के कारण ही भ्रमणशील प्रवृत्ति, विविध वस्तुओं को जागरित करने के लिए जिस प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है वह संस्कृति कहलाती है। इतिहास के साथ ही इसका सम्बन्ध समाजशास्त्र से भी है जिसके अनुसार व्यक्ति अपने वंशानुक्रम (Heriditory) और परिवेश (Envirnoment) की प्रतिकृति मात्र है।

संस्कृति अथवा Culture शब्द को लेकर देशीय एवं विदेशीय विद्वानों ने बडा चिन्तन और मन्थन किया है। देशीय विद्वानों में डॉ. पी.के. आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र, मंगलदेल शास्त्री, भगवत शरण

उपाध्याय, जयचन्द विद्यालंकार, मोतीलाल शर्मा आदि विद्वान विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशीय विद्वानों में ए.एल. क्रोबर (Krober), वाउवेनार्क्स (Vavuenargues), वाल्टेयर (Voltire), मैथ्यू अर्नाल्ड (Matheuce Arnold), फिलिप बैग्वी (Philid Beglu) व्हाइट (Leslie A. White) आदि विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संस्कृति मानव की एक गतिशील प्रवृत्ति है जो व्यक्ति अथवा समाज की अपनी परिस्थिति, परिवेश, संस्कार, मान्यताओं आदि की पृष्ठभूमि में परिवर्तित होती चली है।

भारतीय साहित्य और संस्कृति की भी यही कहानी है। अपनी सार्वभौमिक आध्यात्मिक साधनों के पुनीत आधार पर वह उनके झंझावातों में भी अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम हुई। अनेकता में एकता उसका मूलमंत्र रहा है। धर्म दर्शन की लोक मांगलिक पृष्ठभूमि में समाज और साहित्य का निर्माण हुआ है। वैविध्य होते हुए भी जीवन के शाश्वत मूल्य परस्पर गुथे हुये हैं। इसलिए एक धर्म, सम्प्रदाय, साहित्य और संस्कृति दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। इसी पृष्ठभूमि में हम मध्ययुग के विविध आयामों पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

इतिहास का मध्ययुग साधारणतः सातवीं-आठवीं शती से १७-१८ वीं शती तक माना जाता है। भारतीय इतिहासकारों ने इसे पूर्वमध्ययुग (६५० ई. से १२०० ई. तक) और उत्तर मध्ययुग (१२० ई.से १७०० ई. तक) के रूप में विभाजित किया है। यह विभाजन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक आदि प्रवृत्तियों पर आधारित है। आधुनिक आर्य भाषायें भी इसी काल की देन है। हिन्दी

भाषा और साहित्य का काल विभाजन एक वैशिष्ट्य लिये हुए है। उसका मध्ययुग १३५० ई.से १८५० ई. तक चलता रहता है। इस समय तक विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप तथा ब्रिटिश राज्य के कारण सामाजिक क्रांति सुप्तावस्था में रही। असहायावस्था में ही भक्ति आन्दोलन हुए और रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त साहित्य का सृजन हुआ। जैन अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद की प्रवृत्तियों को जन्म देने और उन्हें विकसित करने में राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करेंगे।

१. राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारत की राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता का युग हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई.) की मृत्यु के साथ ही प्रारंभ हो गया। सामाजिक विश्रृंखलता और पार्थक्य भावना बलवती हो गई। भारत छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त हो गया। ऐसी परिस्थिति में ८ वीं शती के पूर्वार्ध में कन्नोज में यशोवर्मा का आधिपत्य हुआ जो राष्ट्रकूटों की प्रचण्ड शक्ति के कारणा छिन्न-भिन्न हो गया। उसके बाद गुर्जर प्रतिहारों ने उस पर लगभग ११वीं शती तक राज्य किया। राजा वत्सराज (७७५-८०० ई.) जैनधर्म का लोकप्रिय सहायक राजा था। उसी के राज्य में जिनसेन ने हरिवंशपुराण, उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला तथा हरिभद्र सूरि ने चितौड़ में अनेक ग्रंथों की रचना की।

यहां यह उल्लेखनीय है कि ऐसे निवृत्तिपरक साधकों में जैन साधक प्रधान रहे हैं। जिनका प्रभाव पश्चिमोत्तर प्रदेश में कदाचित्

व्यापारिक वृत्ति के कारण अधिक रहा है। इसलिए प्रारम्भिक हिन्दी जैन साहित्य इसी प्रदेश में सर्वाधिक मिलता है। आगे चलकर दिल्ली, मगध और मध्यप्रदेश भी हिन्दी जैन साहित्य के गढ़ बने। इस साहित्य में तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी परिलक्षित होता है।

साधारणतः बारहवीं शताब्दी तक राजाओं में परस्पर युद्ध होते रहे और युद्धों का मूल कारण था श्रृंगार-प्रेम परक भावनाओं का उद्वेलन और कन्याओं का हठात् अपहरण। राजा लोग इसी में अपने पुरुषार्थ की सिद्धि मानते थे। उन पर अंकुश रखने के लिए जनता के हाथ में किसी प्रकार का सम्बल नहीं था। उनकी राजनीतिक चेतना सुप्तप्राय हो चुकी थीं। फलतः जनता में राजाओं के प्रति भक्ति सेवा भावना, आत्म समर्पण और राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीनता छा गयी थी। उसके मन में राष्ट्रीय भावनायें अत्यंत सीमित हो चुकी थी। इन परिस्थितियों ने कवियों को राजाओं का मात्र प्रशस्तिकार बना दिया। वे अपने आश्रय दाताओं के गुणगान में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगे। उन्हें अपने आश्रयदाता के सामन्ती ठाट-बाट और विलासिता के चित्रण में विशेष रुचि थी। लगभग ५०० वर्षो के लम्बे काल में कान्यकुब्ज के यशोवर्मन के राजकवि भवभूति ने और प्रतिहार वंश के कुलगुरु राजशेखर ने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति का गान न करके रामायण और महाभारत के राजनीतिक आदर्शो को अपने ग्रंथ महावीर चरित, उत्तर रामचरित, बाल भारत और बाल रामायण में स्थापित किया।

अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्ति का गान करने वाली

इस मध्ययुगीन परम्परा का श्रीगणेश बाण भट्ट से हुआ। उनका हर्षचरित राजा हर्ष की प्रशस्ति का ऐसा ही संस्कृत काव्य है। उत्तर कालीन कवियों ने उनका भलीभांति अनुकरण किया। गाउडवहो, नवसाहसांक चरित, कुमारपाल चरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, वस्तुपाल चरित आदि सैकड़ों ऐसे ग्रंथ हैं जो मात्र आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में लिखे हुये हैं। इसी परम्परा में हिन्दी कवियों ने रासो साहित्य का निर्माण किया। इस साहित्य के निर्माताओं में जैन कवि विशेष अग्रणी रहे हैं। उन्होंने इसका उपयोग तीर्थंकर और जैन आचार्यो की यशोगाथा में किया है।

१३ वीं शती से १८ वीं शती तक मध्य एशियाई मुसलमानों के आक्रमणों से भारत अत्यंत त्रस्त रहा। धीरे-धीरे राजसत्तायें पराधीनता की श्रृंखला में जकड़ती रहीं। मुहम्मदगोरी, गजनबी, सैयद वंश, लौदी वंश, मुहम्मद तुगलक आदि मुसलमान राजाओं के नियमित आक्रमण हुए जिससे सारा भारतीय जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। भारतीय राजे-महाराजे स्वार्थता की चपेट में अधिकाधिक संकीर्ण होते गये। उनमें परस्पर विद्वेष की अग्नि प्रज्वलित होती रही। इसी बीच बाबर हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब आदि मुगलों के भी आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों ने भारतीय समाज को नष्ट-भ्रष्ट किया। भारतीय राजाओं के बीच पनपी अन्तः कलहने भी युद्धों को एक खेल का रूप दे दिया। वासनावृत्ति ने इसमें घी का काम किया। इससे मुस्लिम शासकों का साहस और बढ़ता गया।

इसके बावजूद मुस्लिम शक्ति को भारतीय राजाओं ने सरलतापूर्वक स्वीकार नहीं किया। लगभग १२ वीं शताब्दी तक उत्तर

भारत में उसका घनघोर प्रतिरोध हुआ। परन्तु परिस्थितिवश दिल्ली और कन्नौज के हिन्दू साम्राज्य नष्ट हुये और यह प्रतिरोध कम हो गया। इस प्रतिरोध की आग राजस्थान, मध्यभारत, गुजरात और उड़ीसा के राजवंशों में फैलती रही और फलस्वरूप वे मुसलमानों का तीव्र विरोध अंत तक करते रहे। परन्तु पारस्परिक फूट के कारण वे मुस्लिम आक्रमणों को पूर्ण रूप से ध्वस्त नहीं कर पाये। इसलिये जनता में कुछ निराशा छा गयी। फिर भी मुसलमानों के साथ संघर्ष बना ही रहा। मेवाड़ के राजा संग्रामसिंह और विक्रमादित्य हेमचन्द्र के नेतृत्व में मुस्लिम शासकों से संघर्ष होते रहे और औरंगजेब के समय तक आते-आते हिन्दुओं की शक्ति काफी बढ़ गयी। इसे हम राजनीतिक पुनरुत्थान का युग कह सकते हैं। इस समय जाट, सिक्ख, मराठा, राणाप्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, छात्रसाल आदि भारतीय राजाओं ने उनके दांत खट्टे किये और स्वतंत्रता के बीज बोये।

गुजरात में चालुक्यवंशीय नरेश, जयसिंह सिद्धराज (सं. १०११-१०४६) आदि के समय जैनधर्म की स्थिति बडी अच्छी थी। उन्होंने उसे प्रश्रय दिया था। बाद में सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम की राज्य-स्थापना से जैनधर्म पर भी प्रभाव पड़ा। मुसलिम आक्रमणों से बंगाल, आसाम, उडीसा प्रदेश भी त्रस्त हो गये। देश खण्डित और विभाजित होता गया। नरेश भोग विलासित में डूबते गये और प्रजा का उत्पीड़न बढता गया। उसकी आर्थिक स्थिति भी विघटित होने लगी। सामन्त और उपसामन्त प्रथा ने नई-नई विपदाओं को निमन्त्रित कर लिया।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियों से यह स्पष्ट है कि इस काल में राजनीतिक अस्थिरता के कारण जन-जीवन अस्त-व्यस्त और

संत्रस्त था। जीवन की असुरक्षा, राष्ट्रीयता का अपमान, कला-कृतियों का खण्डन, स्वाभिमान का हनन, सम्पत्ति का अपहरण जैसे तत्त्वों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेदभाव और वैमनस्य की जबर्दस्त दीवाल खड़ी कर दी थी। धर्मान्धता और नारी के सतीत्वहरण के कारण राष्ट्र जीवन में निराशा का वातावरण छा गया था। फलतः उस समय भौतिक सुख की ओर से उदासीनता तथा भगवद्भक्ति की ओर संलग्नता दिखाई देती है।

डॉ. त्रिगुणायत ने इन राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भारतीय जीवन और समाज पर निम्निलिखित प्रभाव देखे हैं। १. धर्मसुधार की भावना जाग्रत हुई। नाथपन्थ, लिंगायत, सिद्धसंत आदि पन्थों का उदय इसी धर्म सुधार भावना के कारण हुआ था। इन सबका लक्ष्य हिन्दू धर्म और इस्लाम में सामंजस्य स्थापित करना था, २. पर्दा प्रथा समाज में दृढ़ हो गई ताकि स्त्रियों को बलात्कार आदि जैसे कुकृत्यों से बचाया जा सके, ३. धर्म सगुणापासना में असमर्थ होने के कारण निर्गुणोपासना की ओर झुका, तथा ४. ऐकान्तिकता और निवृत्यात्मकता से प्रेरित होकर साधकों ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना आरंभ की।[११]

२. धार्मिक पृष्ठभूमि

जैसा अभी हम देख चुके हैं, इतिहास के मध्यकाल में भारत का सांस्कृतिक धरातल देशी-विदेशी राजाओं के आक्रमणों से विश्रृंखलित रहा। भारत का जनमानस उन आक्रमणों से त्रस्त हो गया और फलतः अपने धर्मों में सामयिक परिवर्तन की ओर देखने लगा। इस युग में भक्ति का प्राधान्य रहा। सभी धर्मों में भक्ति के कारण अनेक

विकास-पथ निर्मित हुए। बाह्याडम्बर के साथ ही आचार-शैथिल्य बढ़ गया। तात्कालिक साहित्य, धर्म और भक्ति की प्रेरणा से अधिक समृद्ध हुआ। वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मो के विकास और परिवर्तन के विविध स्वरूप विशेष रूप से लक्षित होते हैं। इसे हम संक्षेप में निम्न प्रकार से देख सकते हैं।

१. वैदिक धर्म

मध्ययुग में वैदिक धर्म ने विशेष रूप से दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसा के माध्यम से और शंकराचार्य ने वेदान्त के माध्यम से वैदिक दर्शन का पुनरुत्थान किया। शंकराचार्य ने तो बौद्ध धर्म की बहुत सी सामग्री लेकर उसे आत्मसात करने का प्रयत्न किया। इसलिए उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध" भी कहा जाता है। इसी युग में पौराणिक और स्मार्त धर्मो का समन्वयात्मक रूप सामने आया। स्मार्तो ने विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश इन पंचदेवों की पूजा आरंभ कर दी। इन्हीं के आधार पर पांच उपनिषद् भी लिखे गये। यह उपनिषद् दर्शन, स्मार्त और वेदान्त दर्शन से एक जुट हो गया। वैष्णव धर्मावलम्बी कवियों ने ऐसे ही धर्म को स्वीकार किया है। भागवत और पांचरात्र साम्प्रदाय भी वैष्णव धर्म के अंग रहे हैं। भागवत सम्प्रदाय ने शिव और विष्णु में अभिन्नत्व स्थापित किया। वैदिक पूजा-पद्धति से वे विशेष प्रभावित थे। वैष्णव धर्म और साहित्य के देखने से यह स्पष्ट है कि उनमें शाक्त सिद्धान्तों का समावेश हुआ।

पांचरात्र सम्प्रदाय भी अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया। वैष्णव, महानुभाव और रामानुज उनमें प्रमुख उपसम्प्रदाय थे। वैष्णव पांचरात्र सम्प्रदाय उत्तर से दक्षिण तक फैला था। तमिल प्रदेश में उसका विशेष प्रचार था। उसमें नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष,

यमुनाचार्य, रामानुज, रामानन्द, तुलसीदास आदि प्रसिद्ध आचार्य और सन्त हुए हैं। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद विशेष प्रसिद्ध रहा है।

महानुभाव सम्प्रदाय मात्र कृष्ण का आराधक था और वह मूर्ति के स्थान पर केवल प्रतीक की पूजा करता था। यह सम्प्रदाय स्मार्त के आधार पर विरोधी तथा साम्प्रदायिक था। दत्तात्रेय इसके प्रस्थापक आचार्य माने जाते हैं। महाराष्ट्र और कन्नड प्रदेशों में इसका विशेष प्रचार था। रामानुज सम्प्रदाय में राम की कथा को आध्यात्मिक मोड़ मिला। तदनुसार राम, माया, मनुष्य और सीता मायाच्छादित चिच्छक्ति थी। इस पर अद्वैत वेदान्त और शाक्त सम्प्रदायों का प्रभाव था। यह सम्प्रदाय दक्षिण से लेकर उत्तर भारत में लोकप्रिय हुआ।

पं. बलदेव उपाध्याय ने वैष्णव भक्ति आन्दोलन को तीन भागों में विभाजित किया है- अ) सात्वतयुग (१५०० ई.पू. से ५०० ई. तक) ब) अलवार युग (७०० से १४०० ई.) और स) आचार्य युग (मध्ययुग १४०० से १९०० ई.)। सात्वत सम्प्रदाय पांचरात्र की उदयभूमि मथुरा रही है। शुंग और गुप्त राजाओं ने इसे अधिक प्रश्रय दिया है। अलवार युग में भक्ति का रूप और गाढ़ हो गया। यह दक्षिण में अधिक प्रचलित रहा। तृतीय युग राम और कृष्ण शाखा में विभाजित हो जाता है। उत्तर भारत में इसका काफी विकास हुआ है। निर्गुण सम्प्रदाय इसी आंदोलन से संबद्ध है।

वैष्णव सम्प्रदाय के साथ ही शैव सम्प्रदाय का भी विकास हुआ। इस शैव सम्प्रदाय के दो भेद मिलते है- पाशुपत और आगमिक। पाशुपत के अन्तर्गत शुद्ध पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कापालिक और नाथ आते हैं। आगमिक सम्प्रदाय में संस्कृत शैव, तमिल शैव, काश्मीर शैव और वीर शैव को अन्तर्भूत किया गया है। पाशुपत

सम्प्रदाय का विशेष जोर उत्तर भारत में रहा है। इसके प्रसिद्ध आचार्य नैयायिक उद्योतकर के प्रशस्तपाद आदि अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। लकुलीश सम्प्रदाय गुजरात और राजस्थान में अधिक था। लकुलीश की वहां मूर्तियां भी मिली हैं। कापालिक सम्प्रदाय भी उत्तर भारत में मिलता रहा। पर उसका कोई महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ। उसकी साधना पद्धति बडी बीभत्स और अश्लील थी। उसमें नरबली, सुरापान, यौन सम्बन्ध, मांस भक्षण जैसे गर्हित तत्त्व अधिक प्रचलित थे। शैव सम्प्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्त थे। पशुपति शिव अखिल विश्व के स्वामी है। मनुष्य पशु है, पर उसका शरीर जड और आत्मा चेतन है। यह आत्मा पाश से बन्धा हुआ है। पाश तीन प्रकार के हैं आणव (अज्ञान), २. कर्म, ३. माया। शिव की कृपा से शक्ति प्रकट होती है और पाशों का विनाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है जहां शिव और आत्मा अद्वैत बन जाते हैं। मध्यकालीन शैव्राचार्य संबन्दर और अप्पर ने जैनधर्म को दक्षिण से समाप्त करने का भारी प्रयत्न किया।

शैव सम्प्रदाय और शाक्त सम्प्रदाय का विशेष संबंध रहा है। शक्ति का संबंध विशेषतः तंत्र-मंत्र से रहा है। शिव की पत्नी दुर्गा शक्ति की प्रतीक है। उसी के माध्यम से संसार की सृष्टि आदि कार्य होते हैं। वाम मार्ग की यौगिक साधनायें भी शाक्त सम्प्रदाय से सम्बद्ध है।

शैव सम्प्रदाय का नाथ समप्रदाय उत्तरभारत, पंजाब तथा राजस्थान आदि प्रदेशों में विशेष प्रचलित था। पहले उसका सम्बन्ध कापालिकों से था पर बाद में गोरखनाथ ने उसे मुक्त कराया। इस सम्प्रदाय में हठयोग-साधना विशेष रूप से प्रचलित थी। तान्त्रिक वैदिक और बौद्ध साधक नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित थे । सोम, सिद्ध, कौल आदि सम्प्रदाय भी इसी के अंग हैं।

समासत : मध्यकालीन समग्र इतिहास को वैदिक संस्कृति के सन्दर्भ में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम-अष्टम शती में चमत्कार का प्रभाव लगभग हर समाज और धर्म पर पड़ रहा था। नवम् शती में चमत्कार के माध्यम से ही तंत्र सम्प्रदाय का जन्म काश्मीर में हुआ। इसकी दो शाखायें हुई स्पन्द और प्रत्यभिज्ञ। स्पन्द शाखा को "शिव सूत्र" कहा जाने लगा जिसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन वसुगुप्त (८५०-९०७) ने किया। तदनुसार शिव सृष्टि के कर्ता हैं। पर उसके भौतिक कारण नहीं। प्रत्यभिज्ञा की स्थापना में सौमानंद (सं. ९०७) का विशेष हाथ है। उन्होंने इसे ध्यान्यालोक लोचन में अधिक स्पष्ट किया है। तदनुसार संसारी जीव पृथक् होते हुये भी शिव से अपृथक् है। कालान्तर में शैवमत ने महायान से लाभ उठाया और बुद्ध तथा शिव को एक-सा बना दिया। नेपाल में प्राप्त महायानी बौद्ध मूर्तियों तथा योगी शिव मूर्तियों में अंतर करना कठिन हो जाता है। बाद में तान्त्रिक और शैव सिद्धान्तों के साथ शक्ति का संबंध जुड गया और शाक्त मत प्रारंभ हो गया। यही शक्ति सृष्टि का कारण बनी। शक्ति श्वेत और श्याम वर्ण के रूप में प्रतिष्ठित हुई। श्वेत रूप में उमा और श्याम रूप में काली, चण्डी, चामुण्डा आदि भयकारिणी देवियों की स्थापना हुई । इस शाक्त मत में दक्षिणाचार और वामाचार भेद हुए। वामाचार की शक्ति साधना में पंच मकारों का उपयोग किया जाता था । उसमें योग वासना के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की जाती थी। पशुबलि आदि भी दी जाती थी। मध्यकाल में ये दोनों प्रवृत्तियां हिंसा तथा विलास के रूप में दिखाई देती हैं। उत्तरकाल में इसी में से अनेक उप-सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिससे हिन्दी साहित्य अप्रभावित नहीं रहा।

विदेशी आक्रमणों के बावजूद हिन्दी साहित्य की परम्परा अपने पूर्ववर्ती संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा और साहित्य के आधार पर फलती-फूलती रही। तात्कालिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ। उसकी भक्ति धारा दक्षिण से उत्तर भारत में पहुंची। भक्ति की यह धारा सगुण मार्गी थी। निर्गुण भक्ति का प्रचार मुस्लिम शासन काल में अधिक हुआ क्योंकि इस्लाम का उससे किसी प्रकार का विरोध नहीं था। ये निर्गुण साधक अपने ब्रह्म को अपने ही भीतर देखते थे। समाज और राष्ट्र से उन्हें कोई मतलब नहीं था। निर्गुणियों से पूर्व नाथ और सिद्धों के विधि विधानपरक कर्मकाण्ड से जनता को कोई प्रेरणा नहीं मिल रही थी। हठयोगी सन्त भी लोक-संग्रह का मार्ग नहीं दिखा सकते थे। अतः ईशोपनिषद् के समुच्चयवाद का पुनर्संघटन रामनुजाचार्य ने किया। बाद में उत्तरभारत में रामानंद, नाथ और तुलसी आदि ने इसका प्रचार किया। इस समुच्चय में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों का समन्वय था। इस भक्ति आन्दोलन ने जन समाज को युगवाणी, युग पुरुष और युग धर्म दिया।

२. जैनधर्म

मध्यकाल तक आते-आते जैनधर्म स्पष्ट रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में विभक्त हो गया था। दोनों परम्पराओं और उनके आचार्यो को अनेक राजाओं का आश्रय मिला और फलतः धार्मिक साहित्य, कला और संस्कृति का विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज के राज्य में उद्योतनसूरि ने ७७८ ई. में

कुवलयमाला, जिनसेन ने सं.७८३ में हरिवंशपुराण और हरिभद्र सूरिने लगभग इसी समय समराइच्च कहा आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। देवगढ़, खजुराहो आदि के अनेक जैन मन्दिर इसी के उत्तरकालीन हैं। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (९५९ ई.) नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ भी इसी समय के हैं।

धारा के परमार वंशीय राजाओं ने जैन कवियों को विशेष राजाश्रय दिया। राजा मुंज, नवसाहसांक, भोज आदि राजा जैन धर्मावलम्बी रहे। उन्होंने जैन कवि धनपाल, महासेन, अमितगति, माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्र,नयनन्दी, धनंजय आशाधर आदि विद्वानों को समुचित आश्रय दिया। मेवाड की राजधानी चित्तौड़ (चित्रकूटपुर) जैनधर्म का विशिष्ट केन्द्र था। यहीं पर एलाचार्य, वीरसेन, हरिभद्रसूरि आदि विद्वानों ने अपनी साहित्य-सर्जना की। चित्तौड़ के प्राचीन महलों के निकट ही राजाओं ने भव्य जैन मन्दिर बनवाये। हथूंडी का राठौर वंश जैनधर्म का परम अनुयायी था। वासुदेव सूरि, शान्तिभद्र सूरि आदि विद्वान इसी के आश्रय में रहे हैं।

चन्देलवंश में चन्देल वंशीय राजा भी जैनधर्म के परम भक्त थे। खजुराहो के शान्तिनाथ मंदिर में आदिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा विद्याधर देव के शासनकाल में हुई। देवगढ, महोबा, अजयगढ़, अहार, पपोरा, मदनुपरा आदि स्थान जैनधर्म के केन्द्र थे। ग्वालियर के कच्छपघट राजाओं ने भी जैनधर्म को खूब फलने-फूलने दिया।

कलिंग राज्य प्रारम्भ से ही जैनधर्म का केन्द्र रहा है। जैनाचार्य अकलंक का बौद्धाचार्यो के साथ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ यही हुआ। परन्तु

उत्तरकाल में यहां जैनधर्म का ह्रास हो गया। कलचुरीवंश यद्यपि शैव धर्मावलम्बी था पर उसने जैनधर्म और कला को पर्याप्त प्रतिष्ठित किया। कुल्पाद, रामगिरि, अचलपुर, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, एलोरा, धाराशिव, खनुपद्मदेव आदि जैनधर्म के केन्द्र थे।

गुजरात में भी प्रारम्भ से ही जैनधर्म का प्रचार-प्रसार रहा है। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा जैनधर्म के प्रति अत्यन्त उदार थे। विशेषतः अमोघवर्ष और कर्क ने यहां जैनधर्म को बहुत लोकप्रिय बनाया। गुजरात-अन्हिलपाटन का सोलंकी वंश भी जैनधर्म का आश्रयदाता रहा। आबू का कलानिकेतन इस वंश के भीमदेव प्रथम के मंत्री और सेनानायक विमलशाह ने १०३२ ई. में बनवाया। राजा जयसिंह ने अन्हिल-पाटन को ज्ञान केन्द्र बनाकर आचार्य हेमचन्द्र को उसका कार्यभार सौंपा। हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहेम व्याकरण आदि वीसों ग्रन्थ तथा वाग्भट्ट ने अलंकार ग्रन्थ इसी राजा के शासनकाल में लिखे। कुमारपाल इसी वंश का शासक था। वह निर्विवाद रूप से जैनधर्म का अनुयायी था। हेमचन्द्र आचार्य उसके गुरु थे और भी अनेक मन्त्री, सामन्त आदि जैन थे। कुमारपाल के मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल का विशेष सम्बन्ध आबू के जैन मन्दिरों के निर्माण से जुडा हुआ है।

सिन्ध, काश्मीर, नेपाल, बंगाल में पालवंश का साम्राज्य रहा। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसके राजा देवपाल ने तो जैन कला-केन्द्र भी नष्ट-भ्रष्ट किये। बंगाल में जैनधर्म का अस्तित्व ११-१२ वीं शती तक विशेष रहा है।

दक्षिण में पल्लव और पाल्य राज्य में प्रारम्भ में तो जैनधर्म उत्कर्ष पर रहा परन्तु शैवधर्म के प्रभाव से बाद में उनके साहित्य और

कला के केन्द्र नष्ट कर दिये गये। चोल राजा (९८५-१०१६ ई.) के समय यह अत्याचार कम हुआ। बाद में चालुक्य वंश ने जैन कला और साहित्य का प्रचार-प्रसार किया। इसी समय जैन महाकवि जोइन्दू, जटासिंहनन्दि, रविषेण, पद्मनन्दि, धनंजय, आर्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, परवादिमल्ल, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। जिन्होंने तमिल, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में जैन साहित्य का निर्माण किया। चामुण्डराय भी इसी समय हुआ जिसने श्रवणबेलगोल में ९७८ ई. में गोमटेश्वर बाहुबलि की विशाल उत्तुंग प्रतिमा निर्मित करायी।

राष्ट्रकूट वंश जैनधर्म का विशेष आश्रयदाता रहा है। स्वयं, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पाल्यकीर्ति, पुष्पदन्त आदि जैनाचार्यो ने इसी राज्य काल में जैन साहित्य को रचा। कल्याणी के कल्चुरीकाल में वासव ने जैनधर्म के सिद्धान्त और शैवधर्म की कतिपय परम्पराओं को मिश्रणकर १२ वीं शती में लिंगायत धर्म की स्थापना की। उन्होंने जैनों पर कठोर अत्याचार किये। बाद में वैष्णवों ने भी उनके मन्दिर और पुस्तकालय जलाये। फलतः अधिकांश जैन शैव अथवा वैष्णव बन गये।

अरबों, तुर्को और मुगलों के भीषण आक्रमणों से जैन साहित्य और मन्दिर भी बच नहीं सके। उन्हें या तो मिट्टी में मिला दिया गया अथवा वे मस्जिदों के रूप में परिणित कर दिये गये। इन्हीं परिस्थितियों के प्रभाव से भट्टारक प्रथा का विशेष अभ्युदय हुआ। मूर्ति पूजा का भी विरोध हुआ। लोदी वंश के राज्य काल में तारण स्वामी (१४४८-१५१५ ई.) हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का निषेध कर 'तारण तरण' पंथ

प्रारम्भ किया। इस समय तक दिल्ली, जयपुर आदि स्थानों पर भट्टारक गद्दियां स्थापित हो चुकी थी। सूरत, भडोंच, ईडर आदि अनेक स्थानों पर भी इन भट्टारकीय गद्दियों का निर्माण हो चुका था। आचार्य सकलकीर्ति, ब्रह्मजयसागर आदि विद्वान इसी समय हुए। इसी काल में प्रबन्धों और चरितों को सरल संस्कृत और हिन्दी में लिखकर जैन साहित्यकारों ने साहित्य के क्षेत्र में एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर काफी पडा।

मुगलों के आक्रमणों से यद्यपि जैन साहित्य की बहुत हानि हुई फिर भी अकबर (१५५६-१६०५ ई.) जैसे महान शासकों ने जैनाचार्यो को सम्मानित किया। अध्यात्म शैली के प्रवर्त्तक बनारसीदास,पांडे रूपचन्द, पांडे राजमल, ब्रह्मरायमल, कवि परमल आदि हिन्दी के जैन विद्वान इसी समय हुए। साहू टोडरमल अकबर की टकसाल के अध्यक्ष थे। अकबर के राज्य काल में हिन्दी जैन साहित्य की प्रभूत अभिवृद्धि हुई। जहांगीर के समय में भी रायमल्ल, ब्रह्मगुलाल, सुन्दरदास, भवगतीदास आदि अनेक प्रसिद्ध हिन्दी जैन साहित्यकार हुए। रीतिकालीन साहित्य परम्परा के विपरीत भैया भगवतीदास,आनंदघन, लक्ष्मीचन्द्र, जगतराय आदि जैन कवियों ने शान्त रस से परिपूर्ण विरागात्मक आध्यात्मिक साहित्य का सृजन किया। एक ओर जहां जैनेतर कवि तत्कालीन परिस्थितियों के वंश मुगलों और अन्य राजाओं को श्रृंगार और प्रेम वासना के सागर में डुबो रहे थे, वहीं दूसरी ओर जैन कवि ऐसे राजाओं की दूषित वृत्तियों को अध्यात्म और वैराग्य की ओर मोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। जैनधर्म, साहित्य और संस्कृति की यह अप्रतिम विशेषता थी। शान्तरस उसका अंगी रस था। समूचा साहित्य उससे आप्लावित रहा है।[१२]

३. बौद्धधर्म

सप्तम शताब्दी के आस-पास तक बौद्धधर्म हीनयान और महायान के रूप में देश-विदेशों में बंट गया था। साधारणतः दक्षिण में हीनयान और उत्तर में महायान का जोर था। भारत में उस समय महायानी परम्परा अधिक फली-फूली। महाराजा हर्षवर्धन संभवतः पहले हीनयानी थे और बाद में महायानी बने। ह्यूनसांग ने इसी के राज्य काल में भारत यात्रा की थी। इस समय बौद्धधर्म में अवनति के लक्षण दिखाई देने लगे थे। नालन्दा, बलभी आदि स्थान बौद्धधर्म के केन्द्र बन चुके थे। हर्ष के बाद बौद्धधर्म का पतन प्रारंभ हो गया।

यहां तक आते-आते बुद्ध में लोकोत्तर तत्त्व निहित हो गये। श्रद्धा और भक्ति का आन्दोलन तीव्रतर हो गया। अवदान साहित्य और वैपुल्य सूत्र का निर्माण हो चुका था। सौत्रांतिक और वैभाषिक तथा योगाचार-विज्ञानवाद और शून्यवाद-माध्यमिक सम्प्रदाय अपने दार्शनिक आयामों के साथ बढ़ रहे थे। असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, नागार्जुन, आर्यदेव, शान्तरक्षित आदि आचार्य अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रदर्शन कर रहे थे। आत्मवाद अव्याकृत से लेकर अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद बन गया। साधक प्रतीत्य-समुत्पाद से स्वभाव शून्यता और गुह्य साधना की ओर बढ़ने लगे। त्रिकायवाद का विकास हो गया। पारमितायें भी यथासमय बढ़ने-कमने लगीं।

महायानी सम्प्रदाय में इस प्रकार क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। शाक्त सम्प्रदाय का उसपर विशेष प्रभाव पड़ा। तदनुसार तंत्र, मंत्र,

यंत्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मंडल, स्त्री, मदिरा तथा मांस आदि वासमार्गी आवरण बौद्धधर्म में प्रचलित हो गये। शिव की पत्नी शक्ति की तरह प्रत्येकबुद्ध की भी शक्ति रूप पत्नी कल्पित हुई। इसकी तांत्रिक साधना में मैथुन को भी अध्यात्म से सम्बद्ध कर दिया गया। बंगाल में इसी को सहजमार्ग कहा जाता था। इस तांत्रिक साधना ने बौद्धधर्म को अप्रिय बना दिया। इसी समय मुस्लिम आक्रमणों से भी बौद्धधर्म को और धक्का लगा। साथ ही नन्दिवर्धन पल्लवमल्ल के समय शंकराचार्य के प्रभाव से बौद्धधर्म का निष्कासन सा हो गया। इन सभी कारणों से बौद्धधर्म ११वीं, १२वीं शताब्दी तक अपनी जन्मभूमि से समाप्तप्राय हो गया। वह अनेक रूपों में और अनेक पन्थों में समाहित हो गया। उत्तरकाल में एक तो वह विदेशों में फूला-फला और दूसरे भारत में उसने रूपान्तरणकर संतों को प्रभावित किया।

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य पर बौद्धधर्म का भी प्रभाव पड़ा है। मध्यकाल तक आते-आते यद्यपि बौद्धधर्म मात्र ग्रन्थों तक सीमित रह गया था, पर बोद्धेतर धर्म और साहित्य पर उसके प्रभाव को देखते हुए ऐसा लगता है कि बौद्धधर्म को पूरी तरह से नष्ट नहीं किया जा सका। महाराष्ट्र के प्राचीन संतों पर और हिन्दी साहित्य की निर्गुणधारा के सन्तों पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

डॉ. त्रिगुणायत ने मध्यकालीन धार्मिक परिस्थितियों को दो भागों में विभाजित किया है - १) सामान्य जनता में प्रचलित अनेक नास्तिक और आस्तिक पंथ और पद्धतियां, २) वे आस्तिक पद्धतियां जो उच्च वर्ग की जनता में मान्य थीं। इन धर्म पद्धतियों के प्रवर्तक तथा प्रतिपादक अधिकतर शास्त्रज्ञ आचार्य लोग थे। आगे वे लिखते हैं-

जगद्गुरु शंकराचार्य का उदय भारत के धार्मिक इतिहास में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। उनके प्रभाव से सोया हुआ ब्राह्मण धर्म फिर एक बार जाग उठा। उसे उद्बुद्ध देखकर विलासप्रिय महायानी बौद्धधर्म के पैर उखड़ गये। शास्त्रज्ञ विद्वानों में उनका नाम कन्ह हो गया। समाज के नैतिक पतन का कारण वाममार्गीय दूषित बौद्ध पद्धतियाँ ही थीं। अच्छा हुआ कि ११वीं शताब्दी के लगभग यवनों के प्रभाव से इन दूषित धर्मो के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हो गयी और उत्तर भारत में आचरण प्रवण नाथपंथ का तथा दक्षिण में वैष्णव और लिंगायत आदि धर्मो का उदय हो गया, नहीं तो भारत और भी अधिक दीनावस्था को पहुंच गया होता। कबीर तथा उनके गुरु रामानन्द ने इस प्रतिक्रिया को और भी अधिक मूर्तरूप दिया। दूसरी धारा शास्त्रज्ञ आचार्यो की थी। इन आचार्यो का उदय शंकराचार्य की विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इन परवर्ती आचार्यो में रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य तथा बल्लभाचार्य प्रमुख हैं। शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रधान प्रतिपादक माने जाते हैं। उन्होंने ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया। मध्यकालीन प्रायः सभी सन्त शंकर और रामानुज दोनों से प्रभावित हुए हैं। मध्यकालीन सन्तों पर रामानुज की भक्ति और प्रपत्ति का बहुत अधिक प्रभाव पडा है। माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य की छाप सगुणोपासक कवियों और भक्तों पर दिखाई पडती है। इन आचार्यो के क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों ने हिन्दी साहित्य को काफी प्रभावित किया है।

जैनधर्म भी इन परिस्थितियों में अप्रभावित नहीं रह सका। उसके भक्ति आन्दोलन में और भी तीव्रता आई। निष्कल और सकल रूप, निर्गुण और सगुण धारा समान रूप से प्रवाहित हुई। प्राचीन जैन

आचार्यो के अनुरूप जैन साधकों ने आध्यात्मिक किंवा रहस्य भावनात्मक साधना की। उत्तरकाल में वे वैदिक संस्कृति से कुछ रूप लेकर साधना-क्षेत्र में उतरे।

३. सामाजिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल का समाज वर्ण व्यवस्था की कठोर भित्ति पर खड़ा था। उच्च वर्ण से निम्न वर्ण की ओर जाने की तो व्यवस्था थी, पर निम्न वर्ण से उच्च वर्ण की ओर नहीं। शब्द मात्र जाति का सूचक नहीं रहा बल्कि उसे निम्न कोटि के व्यक्ति का प्रतीक माना जाने लगा। इस काल की स्मृतियों में सामाजिक नियमों का विधान किया गया। मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण सामाजिक कट्टरता और अधिक बढ़ती गई। इसके बावजूद भारतीयता के नाते किसी में उसका विरोध करने की क्षमता नही रही। इस्लाम में जातिगत विभिन्नता होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट व्यक्तियों के लिए इस्लाम का सहारा मिल गया।

इस समय धार्मिक स्वतंत्रता पर्याप्त रूप से दिखाई देती है। कोई भी व्यक्ति किसी धर्म को अंगीकार करने के लिए स्वतन्त्र था। इसके बावजूद स्मृतिगत वर्ण व्यवस्था को अधिक रूप से स्वीकार किया गया। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह भी होते थे। सती प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। बहुपत्नीत्व प्रथा होने से नारी की स्थिति दयनीय थी। उच कुलों में परदा प्रथा भी थी। कृषि कर्म प्रमुख व्यवसाय था और विशेषकर शूद्र वर्ग उसे किया करता था। सामाजिक रूढ़ियां विश्रृंखलित हो रही थीं। ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी संतों ने भी *सामाजिक बंधन तोड़ने-तुड़ाने का साहस किया। इतने पर भी समाज*

स्मृति वर्णाश्रम व्यवस्था को अधिक उपयुक्त मानता था। इस समय स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी, विशेषत: क्षत्रियों में। गंधर्व तथा राक्षस विवाहों को विहित सा माना जाने लगा था।[१३]

जैनधर्म मूलत: वर्ण और जाति पर विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में व्यक्ति के स्वयं के कर्म उसके सुख दु:ख के उत्तरदायी होते हैं। ईश्वर जगत का कर्ता, हता, धर्ता, नहीं; वह तो मात्र अधिक से अधिक मार्गदर्शक का काम कर सकता है। इसलिए वैदिक संस्कृति के विपरीत श्रमण संस्कृति में वर्णव्यवस्था "जन्मना" न मानकर 'कर्मणा' मानी गई है। परन्तु नवम् शती में जैनाचार्य जिनसेन ने वैदिक व्यवस्था में अन्य सामाजिक किंवा धार्मिक संकल्पों का जैनीकरण करके जैनधर्म और संस्कृति को वैदिकधर्म और संस्कृति के साथ लाकर खड़ा कर दिया। तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत की गई इस व्यवस्था ने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। लगभग सौ वर्षो के बाद आचार्य सोमदेव ने उसके विरोध करने का साहस किया पर अन्तत: उन्हें जिनसेन के स्वर में ही अपना स्वर मिला देना पड़ा। बाद के जैनाचार्यो ने जिनसेन और सोमदेव के द्वारा मान्य वर्णव्यवस्था को सहर्ष स्वीकार कर लिया। भट्टारक सम्प्रदाय में विशेष प्रगति हुई। आचार का परिपालन वहां कम होने लगा और बाह्य क्रियाकाण्ड बढ़ने लगा।

११-१२ वीं शती से वैदिक और जैन समाज व्यवस्था में कोई बहुत अन्तर नहीं रहा। बौद्धधर्म तो समाप्तप्राय हो गया पर जैन और जैनेतर सम्प्रदाय बदलती हवा में फलते-फूलते रहे। अनेक प्रकार के समाज सुधारक आन्दोलन भी हुए। कविवर बनारसीदास की अध्यात्मिक शैली को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं।

इस सामाजिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ। कविवर बनारसीदास, भैया भगवतीदास, द्यानतराय, आनन्दघन जैसे अध्यात्मरसिक कवियों ने साहित्य साधना की। जैन समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को उन्होंने समाप्त करने का प्रयत्न किया। ज्ञान का प्रचार किया और आचार से उसका समन्वय किया।

इधर जब वैष्णव-सम्प्रदाय सामने आया तो भक्ति और अहिंसा की पृष्ठभूमि में उसका आचार-विचार बना। जैनधर्म का यह विशेष प्रभाव था। पूजा स्वाध्याय, योगसाधना आदि नैमित्तिक क्रियायें बनी। जैन-बौद्धों के चौबीस तीर्थंकरों के अनुसरण में उन्होंने चौबीस अवतार माने जिनमें ऋषभदेव और बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया गया। धीरे-धीरे वैष्णवी मूर्तियां भी बनने लगीं। वस्त्राभूषणों से उनकी सज्जा भी होने लगी। भक्ति भाव के कारण भक्त राजे-महाराजों ने मूर्तियों और मन्दिरों को सोने चांदी से ढक दिया। फलतः आक्रमणकारियों की लोलुपी आंखों से वे न बच सके। शंकर के मायावाद, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्य के द्वैतवाद और निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद ने वेदान्त की सूत्रावलि से अध्यात्मवाद के बढ़ते हुए स्वर कुछ धीमे पड़ गये। बाद में हिन्दू और मुसलमानों में एकता प्रस्थापित करने के लिए अनेक प्रयत्न प्रारम्भ हुए। मुइनुद्दीन चिश्ती आदि कुछ मुस्लिम फकीरों ने इस्लाम को भारतीयता के ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया। जायसी जैसे सूफी कवियों ने हिन्दी भाषा में ग्रंथ लिखे और हिन्दी कवियों ने उर्दू भाषा में। निर्गुण और सगुण भक्ति आन्दोलन अधिक विकसित हुए।

पूर्वोत्तर भारत में स्वामी रामानन्द, और सन्त कबीर, पंजाब में गुरुनानक, मध्यभारत में सन्त सुन्दरदास, महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम और ज्ञानेश्वर थे। बंगाल में चैतन्यदेव, बिहार में विद्यापति ठाकुर, गुजरात में लोकाशाह और बुंदेलखंड में तारण स्वामी थे। इन सभी सन्तों ने भारतीय जीवन की नयी जाग्रति प्रदान की। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने समाज में व्याप्त अन्ध विश्वासों और कुरीतियों को दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया। मूर्तिपूजा, जाति-पांति और कर्मकाण्ड का अपनी-अपनी बोली में विरोध कर निर्गुण भक्ति का प्रचार किया तथा हिन्दू-मुस्लिम के बीच उत्पन्न खाई को पाटकर नयी सांस्कृतिक संरचना में सराहनीय योगदान दिया।

मध्यकाल की उपर्युक्त सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जैन साहित्य और संस्कृति का क्षेत्र अप्रभावित नहीं रह सका। आचार्यो ने समय और आवश्यकता के अनुसार अपनी सीमा के भीतर ही उसमें परिवर्तन-परिवर्धन किये, साहित्य की नयी विधायें प्रारम्भ की और प्राचीन विधाओं को विकसित किया। परमार्थ प्राप्ति के लिए वे सगुण और निर्गुण भक्ति के माध्यम से रहस्य भावना को आंचल में बांधकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे। जिनोदयसूरि बनारसीदास, भैया भगवतीदास, आनन्दघन, विनोदीलाल, द्यानतराय, लक्ष्मीदास, पाण्डे लालचंद, दौलतराम, जिनसमुद्रसूरि, जिनहर्ष-आदि शताधिक कवि इस क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र रहे हैं जिन्होंने अपनी चिरन्तन जीवन कृतियों में अध्यात्मरस को बड़े प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया है।

आदिकाल से मध्यकाल तक की इस यात्रा में हिन्दी जैन साहित्यकारों ने अनेक पड़ाव बनाये, उन्हें समृद्ध किया और फिर वे आगे चल पड़े। उनकी गति कहीं रुकी नहीं। साहित्य साधना की

अविरल धारा में उनका अध्यात्म जीवन सदैव रहस्यभावना में आप्लावित रहा है। इसी यात्रा में उन्होंने नई-नई विधाओं का सृजन किया, भाषा का विकास किया जिन्हें उत्तरकालीन सभी कवियों ने साभार स्वीकारा। यह तथ्य आगे के पृष्ठों में स्पष्ट होता चला जावेगा।

१२-१३वीं शताब्दी में अपभ्रंश से विकसित मरु-गुर्जर भाषा बोली एक नवजात शिशु के समान थी जिसका कोई स्थिर रूप नहीं था। इसके अनेक स्थानीय और परिवर्तनशील रूप प्रचलित थे। राजस्थानी, व्रज और बुन्देली को भी इसी रूप में देखा जा सकता है। इन बोलियों में अपभ्रंश भाषा और शैली का प्रयोग समानान्तर रूप से होता रहा है। इनका अध्ययन भी हमने अपनी परिधि में रखा है। ये भाषायें/बोलियां आधुनिक देशी भाषाओं को जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कडी हैं। इन भाषाओं को बोलने वाले व्यापारी वर्ग ने भाषात्मक एकता को सुदृढ किया है। मध्यकाल और उसके बाद इन जनभाषाओं ने अपने-अपने प्रदेशों में स्वतन्त्र रूप से विकास किया पर शब्द और प्रयोग में अधिक अन्तर नहीं आ पाया। सांस्कृतिक और धार्मिक एकता भी उसमें एक सबल कारण रहा है। राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद जैनाचार्य साहित्यिक संवर्धन में जुटे रहे। सरस्वती की उपासना में वे कभी पीछे नहीं रहे। इतना ही नहीं, सरस्वती भण्डारों की भी स्थापनाकर प्रतियों का लेखन और उनकी सुरक्षा का भी यथाशक्य प्रबंध किया।

१९वीं शताब्दी के बाद राजस्थानी, गुजराती और बुन्देली भाषाओं का स्वतन्त्र विकास होने लगा। फिर भी उनमें पर्याप्त समानता बनी रही। यह समानता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के साहित्य में उपलब्ध है। दिगम्बर साहित्य की भाषा पर

पुरानी हिन्दी का प्रभाव अधिक है। परन्तु वह परिमाण में श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा कम दिखाई देता है। इस समूचे साहित्य में स्वतन्त्र क्रियाओं का विकास और विभक्तियों का प्रयोग स्पष्ट रूप से होने लगा था। चरित, रास, चौपई, मुक्तक, रूपक, कथा आदि काव्यविधाओं में साहित्य सृजन होता रहा। इनमें आनन्दतिलक, ठक्कर फेरु, लावण्यसमय, हीरविजय, आनन्दघन, यशोविजय, वृन्दावन, भूधरदास आदि साहित्यकारों की उच्चकोटि की रचनाएं हैं जिनसे कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

इस प्रसंग में बीसवीं शताब्दी के जैन साहित्य की भी बात करना अप्रासंगिक नहीं होगा। इस शताब्दी में प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशन ने अच्छी गति ली है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड, गुजराती, मराठी तथा हिन्दी भाषाओं का प्राचीन साहित्य प्रकाश में आया है। इस क्षेत्र में सर्वश्री अगरचन्द नाहटा, कामता प्रसाद जैन, पं. सुखलाल संघवी, डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, पं. परमानन्द शास्त्री, पं. बालचन्द्र शास्त्री, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. हीरालाल जैन, पं. फूलचन्द्र सि. शास्त्री, पं. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. भयाणी, डॉ. प्रेमसागर जैन, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर आदि विद्वानों ने महनीय कार्य किया है। उनके शोध ग्रन्थों ने जैनेतर विद्वानों को जैन साहित्य की ओर आकर्षित किया है। हिन्दी जैन साहित्य के प्रकाश में आ जाने से तुलनात्मक अध्ययन की दिशा को अच्छी गति मिल रही है। अब इस क्षेत्र में शोध की संभावनायें बहुत अधिक हैं।

द्वितीय परिवर्त

आदिकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियाँ

इतिहास का मध्यकाल संस्कृत और प्राकृत की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बाण और श्रीहर्ष तक कान्यकुब्ज संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहा। इसी तरह मान्यखेट, माहिष्मती, पट्टण, धारा, काशी, लक्ष्मणवती आदि नगर भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस काल में संस्कृत साहित्य पाण्डित्य प्रदर्शन तथा शास्त्रीय वाद-विवाद के पजड़े में पड़ गया। वहां भावपक्ष की अपेक्षा कला पक्ष पर अधिक जोर दिया गया। इसे ह्रासोन्मुख काल की संज्ञा दी जाती है। उत्तरकाल में उसका कोई विकास नहीं हो सका।

इस युग में जिनभद्र, हरिभद्र, शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि, हेमचन्द्र आदि का पूर्ण साहित्य, अमृतचन्द, जयसेन, मल्लिषेण, मेघनन्दन, सिद्धसेनसूरि, माघनंदि, जयशेखर, आशाधर, रत्नमन्दिरगणी आदि का सिद्धान्त साहित्य, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदि, प्रभाचन्द, हेमचन्द, मल्लिषेण, यशोविजय आदि का न्याय साहित्य, अमितगति, सोमदेव, माघनंदि, आशाधर, वीरनंदि, सोमप्रभसूरि, देवेन्द्रसूरि, राजमल्ल आदि का आचार साहित्य, अकलंक, वप्पिभट्टि, धनंजय, विद्यानंदि, वादिराज, मानतुंग, हेमचन्द, आशाधर, पद्मनंदि, दिवाकरमुनि आदि का भक्ति परक साहित्य, रविषेण, जिनसेन, गुणभद्र, श्रीचन्द्र,

दामनन्दि, मल्लिषेण, देवप्रभसूरि, हेमचन्द, आशाधर, जिनहर्षगणि, मेरुतुंगसूरि, विनयचन्दूसरि, गुणविजयगणि आदि का पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य, हरिषेण, प्रभाचन्द, सिद्धर्षि, रत्नप्रभाचार्य, जिनरत्नसूरि, माणिक्यसूरि आदि का कथा साहित्य, संस्कृत भाषा में निबद्ध हुए। इसी तरह ललित, ज्योतिष, कोश, व्याकरण, आयुर्वेद, अलंकार शास्त्र आदि क्षेत्रों में जैन कवियों ने संस्कृत भाषा के साहित्य भण्डार को भरपूर समृद्ध किया।

इसी युग में प्राकृत भाषा में आगमों पर भाष्य, चूर्णि व टीका साहित्य लिखा गया। कर्म साहित्य के क्षेत्र में वीरसेन, जयसेन, नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती वीरशेखरविजय, चन्दर्षि महत्तर, गर्गर्षि, जिनबल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि, हर्षकुलगणि आदि आचार्यों ने, सिद्धान्त के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, कुमार कार्तिकेय, शांतिसूरि, राजशेखरसूरि, जयबल्लभ, गुणरत्नविजय आदि आचार्यो ने, आचार व भक्ति के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, वीरभद्र, देवेन्द्रसूरि वसुनंदि, जिनप्रभसूरि, धर्मघोषसूरि आदि आचार्यो ने, पौराणिक और कथा के क्षेत्र में शीलाचार्य, भद्रेश्वरसूरि, सोमप्रभाचार्य, श्रीचन्दसूरि, लक्ष्मणगणि, संघदासगणि, धर्मदासगणि, जयसिंहसूरि, देवभद्रसूरि, देवेन्द्रगणि, रत्नशेखरसूरि, उद्योतनसूरि, गुणपालमुनि, देवेन्द्रसूरि आदि आचार्यो ने प्राकृत भाषा में शताधिक ग्रन्थ लिखे। लाक्षणिक, गणित, ज्योतिष, शिल्प आदि क्षेत्रों में भी प्राकृत भाषा को अपनाया गया जिसने हिन्दी के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव

प्राकृत के ही उत्तरवर्ती विकसित रूप अपभ्रंश ने तो हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वयंभू (७-८ वीं शती) का

पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ, धवल (१०-११ वीं शती) और यश:कीर्ति (१५ वीं शती) के हरिवंशपुराण, पुष्पदंत (१० वीं शती) के तिसट्ठिपुरिसगुणालंकार (महापुराण), जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ (१० वीं शती) का भविसयत्तकहा, कनकामर (१० वीं शती) का करकण्ड चरिउ, धाहिल (१० वीं शती) का पउमसिरिचरिउ, हरिदेव का मयणपराजय, अब्दुल रहमान का संदेसरासक, रामसिंह का पाहुड़दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि सैकड़ों ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे गये हैं जिन्होंने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल को प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धान्तों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अपनी अमिट छाप छोडी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कडी है। इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

अपभ्रंश भाषा का प्रारूप - अपभ्रंश जिसे आभीरोक्ति, भ्रष्ट और देशी भाषा कहा गया है, भाषा होने के कारण उसके बोली रूपों में वैविध्य होना स्वाभाविक था। प्राकृत सर्वस्वकार मार्कण्डेय ने उसके तीन प्रमुख रूपों का उल्लेख किया है - नागर, ब्राचड तथा उपनागर। डॉ. याकोबी ने उसे उत्तरी, पश्चिमी,पूर्वी तथा दक्षिणी के रूपों में विभाजित किया है। डॉ. तगारे ने इस विभाजन को तीन भेदों में ही समाहितकर निम्न प्रकार से वर्णन किया है-

१. पूर्वी अपभ्रंश - सरह तथा कण्ह के दोहाकोश और चर्यापदों की भाषा। इसे मागधी अपभ्रंश भी कहा जाता है। प. बंगला, उड़िया, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषायें इसी से निकली हैं।

२. **दक्षिणी अपभ्रंश** - पुष्पदंत, कृत, महापुराण, णेमिकुमार चरिउ, जसहरचरिउ एवं कनकामर के करकंडचरिउ की भाषा। याकोबी का उत्तरी अपभ्रंश भेद इसी में गर्भित हो जाता है।

३. **पश्चिमी अपभ्रंश** - कालिदास, जोइन्दु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द आदि की अपभ्रंश भाषा, जिसका रूप विक्रमोर्वशीय, सावयधम्मदोहा, पाहुड़ दोहा, भविसयत्त कहा एवं हेमचन्द द्वारा उद्धृत अपभ्रंश दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसे नागर अपभ्रंश कहा जाता है। यह शोरसेनी प्राकृत संबद्ध भाषा थी। इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश भी कहा जाता है।

डॉ. भोलाशंकर व्यास ने जैसा कहा है, वस्तुतः लगभग १२ वीं शती तक शोरसेनी (नागर) अपभ्रंश में ही साहित्य लिखा जाता रहा है। पुष्पदंत वगैरह कवियों की भाषा भी दक्षिणी न होकर पश्चिमी ही रही है। इसी शौरसेनी से पूर्वी राजस्थान, व्रज, दिल्ली मेरठ आदि की बोलियों का विकास हुआ। गुर्जर और अवन्ती की बोलियां भी इसी के रूप हैं।

डॉ. व्यास ने शौरसेनी अपभ्रंश (नागर) की विशेषताओं को इस प्रकार से गिनाया है-

१. स्वर और ध्वनियाँ

(१) महाराष्ट्री प्राकृत के समान यहां ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ ध्वनियां पायी जाती हैं। जिन संस्कृत शब्दों में ए-ऐ तथा ओ-ओ ध्वनियां और उनके बाद संयुक्त व्यंजन आवें वे स्वर क्रमशः ह्रस्व ए(=अँ) व ओ (=ऑ) हो जाते हैं। जैसे -पॅक्ख (प्रेक्ष, सॉक्ख जॉव्वण में प्रथम स्वर ह्रस्व (एकमात्रिक) है।

(२) ऋ, ऌ, ऐ, औ का अभाव है। ऐ, औ की जगह अइ, अउ उच्चरित होने लगा।

(३) 'य' श्रुति का प्रयोग अपभ्रंश की अन्यतम विशेषता है जैसे णायकुमार, जुयल। 'व' श्रुति भी जहां कहीं मिल जाती है। जैसे- रूवंति, सुहव, (रुदंति, सुभग)।

(४) अन्त्य स्वर की ह्रस्वीकरण-प्रवृत्ति। जैसे-कोइ, होइ।

२. व्यंजन ध्वनियाँ

(१) स्वर के मध्य रहने वाले क्, त्, प्, का ग्,द्, ब्, हो जाता है तथा ख्, थ्, फ्, का घ्, ध्, भ्, हो जाता है। जैसे मदकल (मयगल), विप्रियकारक (विप्पियगारउ), सापराध (सावराह)।

(२) पद के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं रहता, मात्र, ण्ह, ह्म, ल्ह संयुक्त ध्वनियाँ ही आदि में आ सकती हैं। इसकी पूर्ति के लिए हेमचन्द ने 'रेफ' का आगम माना है। जैसे व्यास (ब्रासु), दृष्टि (दिट्ठि)। पर इनका प्रयोग कम मिलता है।

(३) श और ष का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया। य के स्थान पर 'ज' का प्रयोग हुआ है।

(४) संयुक्त व्यंजन की संख्या मात्र ३१ रह गई।

(५) मध्यवर्ती 'म' का 'वँ' हो जाता है। प्रायः 'न' तन्सम शब्दों में सुरक्षित रहता था परतद्भव रूपों में एक साथ 'म', 'वँ' दोनों रूप मिलते हैं। जैसे गाम-गाँव, सामल-साँवल।

(६) अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण।

३. पद रचना

(१) अपभ्रंश में व्यंजनांत (हलन्त) शब्द नहीं मिलते हैं। जैसे मण (मनस्), जग (जगद्), अप्पण (आत्मन्)। इसलिए अपभ्रंश के सभी शब्द स्वरांत होते हैं।

(२) लिंग की कोई विशेष व्यवस्था नहीं रहती, फिर भी साधारणत: परम्परा का ध्यान रखा जाता रहा है।

(३) वचन दो ही होते हैं।

४. विभक्तियाँ और शब्द रूप

(१) प्राकृत में चतुर्थी और षष्ठी का अभेद स्थापित हुआ था पर अपभ्रंश में इसके साथ ही द्वितीया और चतुर्थी, सप्तमी और तृतीया, पंचमी तथा षष्ठी के एक वचन तथा प्रथमा एवं द्वितीया का भेद समाप्त हो गया।

(२) प्रथमा एकवचन में प्राकृत का 'ओ' वाला रूप पुत्तो तथा 'उ' वाले रूप पुत्त, पुत्तुउ रूप मिलते हैं। कहीं-कहीं शून्य विभक्ति रूप 'पुत्त' भी मिलता है।

(३) प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में 'उ' विभक्ति चिन्ह मिलता है। कहीं-कहीं 'अ' वाला रूप 'पुत्त' तथा शुद्ध प्रतिपादित रूप 'पुत्त' भी मिल जाता है।

(४) प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के बहुवचन रूपों में -आ' वाले रूप 'पुत्ता' तथा शून्य रूप 'पुत्त' मिलते हैं।

(५) तृतीया तथा सप्तमी एकवचन के रूप मिश्रित हो गये हैं। इसमें प्राकृत 'एण' वाले रूपों के अतिरिक्त 'इ' (पुत्ते) तथा 'इ' (पुत्तइ) वाले रूप भी मिलते हैं।

(६) चतुर्थी, पंचमी तथा षष्ठी के रूप 'हु' तथा 'हो' चिन्ह वाले 'पुत्तहु', 'पुत्तहो' मिलते हैं। साथ ही 'पुत्तरस' रूप भी देखा जाता है।

(७) तृतीया तथा सप्तमी बहुवचन में 'हि' वाले रूप अधिक पाये जाते हैं, 'पुत्तहिं' (पुत्तहि)। तृतीया में 'एहिं' वाले रूप भी मिलते हैं - 'पुत्तेहि'।

(८) पंचमी और षष्ठी बहुवचन में पुत्तह, पुत्तह जैसे रूप मिलते हैं।

(९) नपुंसक लिंग के प्रथमा एवं द्वितीया बहुवचन में 'इ-ई' (फलाइ-फलाइं) वाले रूप होते हैं।

(१०) कारक में केवल तीन समूह शेष रह गये - अ. प्रथमा, द्वितीया, संबोधन, ब. तृतीया, सप्तमी और स. चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी।

५. सर्वनाम

(१) 'अस्मत्' शब्द के प्रथमा एकवचन में 'हउ', मह-मइ' और बहुवचन में अम्हे, अम्हई, द्वितीया।

(२) तृतीया व सप्तमी में मए-मई, पंचमी-षष्ठी में महु-मज्झु, रूप मिलते हैं। युष्मत् शब्द के प्रथमा के रूप तुहु-तुहुं, द्वितीया-तृतीया के पइपइं तइं; पंचमी-षष्ठी में तुह-तुज्झ,तुज्झु तथा तत्-यत् के अपभ्रंश रूप सो-जो मिलते हैं।

६. धातु रूप

(१) अपभ्रंश में आत्मने पद का प्रायः लोप हो गया है।

(२) दस गणों का भेद समाप्त हो गया। सभी धातु भ्वादिगण के धातुओं की तरह चलते हैं।

(३) लकारों में भी कमी आई। भूतकाल के तीनों लकार अदृष्ट हो गये तथा हेतु-हेतु मद्भूत भी नहीं दिखता। इनके स्थान पर भूतकालिक कृदन्त रूपों का प्रयोग पाया जाता है। मुख्यतः लट्, लोट् और लृट् लकार बच गये।

(४) णिजंत रूप, नाम धातु, च्वि रूप तथा अनुकरणात्मक क्रिया रूप भी पाए जाते हैं। धातु रूपों में वर्तमानकाल के उत्तम पुरुष एकवचन में 'उँ' वाले रूप करऊँ, बहुवचन में 'मो' व 'हुँ' वाले रूप; मध्यम पुरुष के एकवचन-बहुवचन में क्रमशः सि-हि तथा हु वाले रूप; मध्यम पुरुष के एकवचन में इ-एइ (करइ-करेइ) और बहुवचन में न्ति-हिं (करंति-करहिं) विभक्ति चिन्ह पाए जाते हैं। आज्ञार्थक क्रिया रूपों में उत्तम पुरुष के रूप नहीं मिलते। मध्यम पुरुष एकवचन में विविध रूप पाए जाते हैं। शून्य रूप या धातुरूप (कर) उ, इ, ह, हि वाले रूप (करि, करु, करह,करहि, करिहि), बहुवचन में ह, हु, हो वाले रूप (करह, करहु, करहों) पाए जाते हैं। अन्य पुरुष एकवचन में 'उ' चिन्ह (करउ) पाया जाता है।

(५) विध्यर्थ में ज्ज का प्रयोग मिलता है - करिज्जउ, करिज्जहि, करिज्जहु आदि। इसका प्रयोग वर्तमान कालिक रूपों पर आधृत है। इन रूपों के बीच में स, ह, का प्रयोग होता है। 'ह' रूपों के

साथ वर्तमान कालिक तिङ् प्रत्ययों का प्रयोग होता है। 'ह' रूपों के साथ वर्तमान कालिक तिङ् प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है।

(६) भूतकाल के लिए निष्ठा प्रत्यय से विकसित कृदन्त रूप कअ, कहिअ, हुव आदि रूप उपलब्ध होते हैं।

(७) कर्मणि प्रयोगों में इज्ज (गणिज्जइ, ण्हाइज्जइ) के साथ अन्य तिङ् प्रत्ययों को जोड़ दिया जाता है।

७. परसर्गों का उदय

(१) अपभ्रंश के प्रमुख परसर्ग हैं - होन्त-होन्तउ-होन्ति, ठिउ, केरअ-केर और तण। सप्तमी वाले रूप के साथ 'ठिउ' का प्रयोग होने पर पंचम्यर्थ की प्रतीति होती है। केर या केरअ परसर्ग का प्रयोग किसी वस्तु से सम्बद्ध होने के अर्थ में पाया जाता है। षष्ठी विभक्ति के परसर्ग के रूप में इसका प्रयोग अपभ्रंश की ही विशेषता है। करणकारक के लिए सहुं, तण, सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि अपादान के लिए होन्तउ, होनत, थिउ, सम्बन्ध के लिए केरउ, केर, कर, की, का और सप्तमी के लिए मज्झ, महँ आदि परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

८. वाक्य रचना

(१) कारक-प्रत्यय अधिक देखा जाता है। षष्ठी का प्रयोग सभी कारकों के लिए हुआ है। सप्तमी का प्रयोग कर्म तथा करण के लिए पंचमी विभक्ति का प्रयोग करणकारक के लिए तथा द्वितीया का प्रयोग अधिकरण के लिए देखा जाता है।

(२) अपभ्रंश में निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्य रचना निश्चित-सी हो चली है।

प्रारम्भिक हिन्दी और उत्तरकालीन हिन्दी पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा हुआ है। हिन्दी का ढांचा अपभ्रंश की देन है। हिन्दी का परसर्ग प्रयोग, निर्विभक्तिक रूपों की बहुलता, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रणाली के बीज अपभ्रंश में ही देखे जाते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में स्थानीय भाषिक तत्त्व बढ़ते गये और लगभग तेरहवीं शती तक आते-आते पूर्व-पश्चिम देशवर्ती बोलियां स्वतन्त्र रूप से खड़ी हो गई। गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी, ब्रज, मैथिली आदि क्षेत्रीय भाषाएँ इसी का परिणाम हैं। डॉ. नामवरसिंह ने इन भाषाओं के विकास में अपभ्रंश के योगदान की चर्चा की है। उनके अनुसार यह योगदान निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है, विशेषत: मध्यकालीन हिन्दी के क्षेत्र में।

१. निर्विभक्ति पदों का उपयोग।

२. उ विभक्ति का प्रयोग जिसका खड़ी बोली में लोप हो गया।

३. करण, अधिकरण के साथ ही धर्म, सम्प्रदान और अपादान में भी हि-हिं विभक्ति का प्रयोग।

४. न्हि-न्ह विभक्ति का प्रयोग सामान्यत: कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और सम्बन्ध कारकों में।

५. परसर्गो में सम्बन्ध कारक केरअ, केर, कर, का, की, अधिकरण कारक मज्झे, मज्झु, माँझ, सम्प्रदान कारक केहि, रेसिं, तण प्रमुख हैं। प्रयत्न लाघव प्रवृत्ति के कारण इन परसर्गो में घिसाव भी हुआ है।

६. सर्वनाम-हऊँ और हौं (उत्तम पु. एकवचन), हम (उ.पु. बहुव.), मो और मोहिं, मुज्झ-मुज्झु (सम्प्रदाय), तुहुँ,

तुउं-तूं-तू-तइँ-तै, तुम्ह-तुम (मध्यमपुरुष), तउ-तो तोहि-तोर-तुज्झ (सम्बन्ध), ओ-ओइ-ओहु (अन्य पु.), अप्पण-आपन, आपु, (निजवाचक), एह-यह-ये-इस-इन (निकट नि-सं.), जो (सम्बन्ध वाचक), काई-कवण-कौन (प्रश्न), कोउ, कोऊ, (अनि.)।

७. सर्वनामिक विशेषण - जइसो, तइसो, कइसो, अइसो. एहउ।

८. क्रमवाचक-पढम, पहिल, बिय, दूज, तीज आदि।

९. क्रिया - संहिति से व्यवहिति की ओर बढ़ी।

१०. तिङन्त तद्भव - अच्छि, आछै, अहै-है; हुतो-हो, था।

११. सामान्य वर्तमान काल - ऐ करै, ऐ करे, औं (वंदौं) रूप।

१२. सामान्य भविष्यत काल-करिसइ, करिसहुँ, करिहइ, करहिउँ आदि।

१३. वर्तमान आज्ञार्थ- सुमरि, बिलम्बु, करे जैसे रूप।

१४. कृदन्त-तद्भव-करत, गयउ, कीनो, कियो आदि जैसे रूप।

१५. अव्यय-आज, अबहिं, जावं, कहँ, जहँ, नाहिं, लौं, जइ आदि।

अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश के बाद मरुगुर्जर भाषा का भी विकास हुआ है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टव्य है। इसकी लगभग सभी विधाएं लोक साहित्य से ग्रहीत हैं। पश्चिमी अवहट्ट में लिखा गया साहित्य ही मरु गुर्जर या पुरानी हिन्दी का साहित्य है। उसमें हिन्दी, गुजराती और

राजस्थानी का संमिलित रूप समाहित है। उसके अधिकांश रूप अपभ्रंश के समान उकारान्त होते हैं। कारकों में भी अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। वर्णो की संकोचन प्रवृत्ति भी उसी का रूप है। संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर जाने की प्रवृत्ति भी इस काल में बढी है। छन्द सौकर्य के लिए ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व किया गया और वर्णो को द्वित्व कर दिया गया। इसे हम पुरानी हिन्दी कह सकते हैं। व्रज का भी प्रभाव यहां दिखाई देता है। अपभ्रंश से सीधे मरुगुर्जर को और मरुगुर्जर के माध्यम से राजस्थानी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं को विविध रूप मिले हैं।

अपभ्रंश भाषा की तरह अपभ्रंश साहित्य ने भी हिन्दी, जैन व जैनेतर साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया है। इसे समझने के लिए हमें संक्षेप में अपभ्रंश जैन साहित्य पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक होगा। यह साहित्य मुख्यतः प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य की प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। पुराणकाव्य और चरितकाव्य संवेतात्मक हैं। यहां जैन महापुरुषों के चरित का आख्यान करते हुए आध्यात्मिकता और काव्यत्व का समन्वय किया गया है। समूचे जैन साहित्य में ये दोनों तत्त्व आपादमग्न हैं।

अपभ्रंश का आदिकाल भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है जहाँ छन्दः प्रकरण में उकार प्रवृत्ति देखी जाती है (मोरल्लउ, नच्चतंउ)। आगे चलकर कालिदास तक आते-आते इस प्रवृत्ति का और विकास हुआ। उनके विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश की विविध प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं। संस्कृत-प्राकृत के छन्द तुकान्त नहीं थे। जबकि अपभ्रंश के छन्द तुकान्त मिलने लगे। गाथा से दोहा का विकास हुआ। दण्डी के समय तक अपभ्रंश साहित्य अपने पूर्ण

विकासकाल में आ चुका था। साथ ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी बढ़ गई थीं जिनका सम्बन्ध हिन्दी के आदिकाल से हो जाता है। सम्भवत: इसी कारण से उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश को संस्कृत-प्राकृत के शुद्धाशुद्ध प्रयोगों से मुक्त माना है। कुवलयमाला से 'देसी भासा' के कुछ उदाहरण दिये भी जाते हैं जो नाटक साहित्य से लिए गए हैं।

ताव इमं गीययं गीयं गामनडीए,
जो जसु माणुसु वल्लहउ तंजइ अणु रमेइ।
जइ सो ज्ञाणइ जीवइ वि तो तहु पाण लएइ।।

नाटकों में भी अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। शूद्रक ने उसका प्रयोग हीन पात्रों के लिए किया है। वहां मथुरा की उक्ति में उकार बहुलता दिखाई देती है। स्वयंभू, पुष्पदंत आदि की भी अपभ्रंश रचनाएँ हमारे सामने हैं ही। इन्हीं रचनाओं में देशी भाषा के भी कतिपय रूप दिखाई देते हैं। राष्ट्रकूट और पाल राजाओं के आश्रय से अपभ्रंश का विकास अधिक हुआ। इधर मम्मट (११ वीं शती), वाग्भट (१२ वीं शती), अमरचन्द (१३ वीं शती), भोज, आनन्दवर्धन जैसे आलंकारिकों ने अपभ्रंश के दोहों को उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया जो उस भाषा की महत्ता की ओर स्पष्ट इंगित करते हैं। हेमचन्द (१२ वीं शती) द्वारा उल्लिखित दोहों को देखकर तो अपभ्रंश के पाणिनि डॉ. रिचार्ड पीशेल भावविभोर हो गये और उन्हीं के आधार पर उन्होंने उसकी विशेषताओं का आकलन कर दिया जो आज भी यथावत् हैं। डॉ. याकोबी ने भी 'भविसयत्तकहा' की भूमिका में अपभ्रंश साहित्य की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

इन विदेशी विद्वानों के गहन अध्ययन के कारण हमारे देश के

विद्वानों का भी ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामकुमार वर्मा, भोलाशंकर व्यास, नामवरसिंह, शिवप्रसादसिंह, रामचन्द तोमर, हीरालाल जैन, भयाणी, देवेन्द्रकुमार जैन, राजाराम जैन, भागचन्द्र जैन भास्कर आदि विद्वानों ने अपभ्रंश का अध्ययन किया और उसे पुरानी हिन्दी अथवा देशी भाषा कहकर सम्बोधित किया। सरहपा, कण्ह आदि बौद्ध संतों ने , स्वयंभू, पुष्पदंत आदि जैन विद्वानों और चन्दवरदाई तथा विद्यापति जैसे वैदिक कवियों ने भी इसको इसी रूप में देखा। अपभ्रंश और अवहट्ट ने हिन्दी के विकास में अनूठा योगदान दिया है। इसलिए हमने अपभ्रंश और अवहट्ट को हिन्दी के आदिकाल का प्रथम भाग तथा पुरानी हिन्दी को आदिकाल का द्वितीय भाग माना है।

अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव मरु गुर्जर साहित्य पर भी पडा है। अपभ्रंश की चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, शुकहंस आदि को दूत बनाने की प्रवृत्ति, समुद्र यात्रा में तूफान आदि कथानक रूढियां अपभ्रंश से गुर्जर और राजस्थानी साहित्य में पल्लवित हुई हैं। अपभ्रंश के दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग यहां बहुत हुआ है। रास, फागु, चउपइ, वेलि, चर्चरी, छप्पय, बारहमासा, लावणी, प्रहेलिका, आख्यान, चरित, वावनी, छत्तीसी, सत्तरी, चूनडी आदि जैसे विविध काव्य रूप अपभ्रंश साहित्य के ही प्रभाव में पनपे हैं। जैन साहित्य का अंगीरस शान्तरस भक्ति और निर्वेद की गोद में पलकर अपभ्रंश साहित्य के द्वार से यहां और भी विकसित हुआ है। रसराज शान्तरस का स्थायी भाव वैराग्य है जो जैनधर्म की मूल आत्मा है। जैन साहित्य का अधिकांश भाग वैराग्यपरक ही है।

अपभ्रंश और अवहट्ट

अपभ्रंश ने कालान्तर में साहित्यिक रूप ले लिया और भाषा के विकास की गति के हिसाब से वह आगे बढ़ी जिसको अवहट्ट कहा गया। इसी को हम पुरानी हिन्दी कहना चाहेंगे। विद्वानों ने इसकी काल सीमा ११ वीं शती से १४ वीं शती तक रखी है। अब्दुल रहमान का संदेसरासक, शालिभद्र सूरि का बाहुबली रास, जिनपद्म सूरि का थूलिभद्द फागु आदि रचनाएं इसी काल में आती हैं।

इस काल की अवहट्ट किंवा पुरानी हिन्दी में सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। विभक्तियों का लोप-सा होने लगा। परसर्गो का प्रयोग बढ़ गया। ध्वनि परिवर्तन और रूप परिवर्तन तो इतना अधिक हुआ कि आधुनिक भाषाओं के शब्दों के समीप तक पहुंचने का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा। विदेशी शब्दों का उपयोग बढ़ा। इल्ल, उल्ल आदि जैसे प्रत्ययों का प्रयोग अधिक होने लगा। संभवतः इसीलिए डॉ.रामकुमार वर्मा ने अपभ्रंश साहित्य को भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार हिया है। ''चूंकि भाषा को साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिए अपभ्रंश साहित्य भी हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध होना चाहिये भले ही वह संक्रान्तिकालीन रहा है।'' विद्वानों के इस मत को हम पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते। हॉ. प्रवृतियों के सन्दर्भ में उसका आकलन अवश्य किया जा सकता है।

हिन्दी -आदिकाल के विकास में जैनाचार्यों का योगदान

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जैनाचार्य जहाँ भी रहे, वहां की भाषा और साहित्य के विकास में भरपूर योगदान दिया। लगभग

सभी प्राच्य भाषाओं के आद्य साहित्यकार के रूप में उनके सशक्त हस्ताक्षर अविस्मरणीय हैं। हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। उसके आदिकाल को जैनाचार्यो ने अपनी प्रतिभा-प्रसूत लेखनी से बहुत समृद्ध किया है। उनके इस योगदान को रेखांकित करना ही हमारा उद्देश्य है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमने यहां 'आचार्य' शब्द को एक साहित्यकार के रूप में ग्रहीत किया है, पद के रूप में नहीं। इसलिए जैनाचार्य का तात्पर्य है जैन साहित्यकार, चाहे वह साधु हो या श्रावक।

काल विभाजन

हिन्दी साहित्य की अधुनातम शोध प्रवृत्तियों के आधार पर अन्ततः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। डॉ. ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, शिवसिंह सैंगर, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारम्भ वि. सं. ७ वीं शती से १४ वीं शती तक स्वीकार किया है। दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वान उसका प्रारम्भ १० वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक मानते हैं। इन विद्वानों में कुछ विद्वान आदिकालीन अपभ्रंश भाषा में लिखे साहित्य को पुरानी हिन्दी का रूप मानते हैं और कुछ हिन्दी साहित्य के विकास में उनका उल्लेख करते हैं।

आ. रामचन्द्र शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी जैन साहित्य को नितान्त धार्मिक, साम्प्रदायिक और शुष्क ठहराया। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी और भोलाशंकर व्यास जैसे तलस्पर्शी विद्वान उसे

यह कहकर अस्वीकार कर देते हैं कि यदि हिन्दी जैन साहित्य को साहित्य की सीमा से बहिर्भूत कर दिया गया तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा। लगभग दसवीं शती के पूर्व की भाषा में अपभ्रंश के तत्त्व अधिक मिलते हैं। यह स्वाभाविक भी है। इसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांकृत्यायन ने पुरानी हिन्दी कहकर उसके महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश भाषा और साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है। उसमें प्रयुक्त देशी शब्द ही वस्तुतः पुरानी हिन्दी का रूप है। स्वयंभू और पुष्पदन्त के अपभ्रंश ग्रन्थों में यह रूप बडी आसानी से देखा जा सकता है। अतः इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - पहला अपभ्रंश बहुल हिन्दी काल और दूसरा प्रारम्भिक हिन्दी काल। स्वयंभू ने अपभ्रंश को 'देसी भासा' की संज्ञा दी है। इससे हिन्दी के विकास में अपभ्रंश और देशी भाषा के महत्त्व को विशेष रूप से समझा जा सकता है। उत्तरकालीन कवि लक्ष्मणदेव ने णेमिणाहचरिउ में 'णउ सक्कड पाउअ देस भासा' कहकर इसी स्वरूप को 'अवहट्ट और देसिल वअना' की संज्ञा दी है। रुद्रट, राजशेखर आदि कवियों ने भी अपभ्रंश को भाषा के विभेदों में गिना है। अतः इस काल को हिन्दी का आदिकाल कहा जा सकता है। इसके बावजूद व्यावहारिक दृष्टि से हम आदिकाल को लगभग ११वीं शती से १४वीं शती तक मानते हैं; ७वीं शती से १०वीं शती तक का काल उसकी पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

आदिकाल संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बाण और श्री हर्ष तक कान्यकुब्ज संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहा। इसी तरह मान्यखेट,

माहिष्मती, पट्टण, धारा, काशी, लक्ष्मणवती आदि नगर भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कन्नोज का राजवंश, सिंध राजवंश, काबुल और पंजाब की राजशक्तियां, कश्मीर की राजनीतिक परम्परा, उज्जयिनी का परमारवंश, त्रिपुरी का कलचुरी वंश, शकम्भरी और दिल्ली के चौहान, जेजाक मुक्ति के चन्देल, इस्लामी संस्कृति का प्रवेश, इस्लामी आक्रमणों की भयंकरता और राजपूत शासन ने इस आदिकाल को बहुत प्रभावित किया। ब्राह्मणवाद और जातिवाद से त्रस्त जनसमाज में श्रमण विचारधारा द्वारा पोषित आध्यात्मिक चेतना ने नूतन चित्तवृत्तियों को जन्म दिया और सामाजिक विश्रृंखलता से बचने के दूरगामी उपाय जैनाचार्यो ने किये। अस्पृश्यता, दास प्रथा, मजहबी अत्याचार, नारी की गिरती हुई स्थिति आदि के विरोध में उन्होंने खुलकर अपना स्वर तेज किया। सूफियों और कलन्दरों के प्रभाव से उद्भूत इस्लाम के उदार रूप ने भी उनका सहयोग किया।

इस काल में संस्कृत साहित्य पाण्डित्य प्रदर्शन तथा शास्त्रीय वादविवाद के पचड़े में पड गया। वहां भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर अधिक जोर दिया गया। इसे ह्रासोन्मुख काल की संज्ञा दी जाती है। उत्तरकाल में इसका कोई विकास नहीं हो सका।

स्थापत्य कला में श्रृंगार और अलंकरण की प्रवृत्ति इस काल में अधिक पाई जाती है। वहां सामान्यतः नागरशैली का सम्बन्ध अधिक रहा है। भक्ति तत्त्वों का भी अच्छा विकास हुआ है। भक्ति आन्दोलनों से जैन समाज भी अप्रभावित नहीं रह सका। तान्त्रिक धारा ने भी उसमें अपना प्रवेश पा लिया जिस पर जैन मुनियों ने अपनी तीखी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की। पाहुड दोहा, योगसार, परमात्म प्रकाश, वैराग्यसार,

आनन्दा, सावय धम्मदोहा आदि रचनाओं में इस प्रतिक्रिया के दर्शन होते ही हैं। नाथ सम्प्रदाय, सूफी साधना, शैवधारा, वैष्णवधारा, आलवारयुग आदि में आये भक्ति आन्दोलनों ने भी जैनधर्म और साहित्य को भलीभांति प्रभावित किया।

आदिकाल का अपभ्रंश बहुल प्रारम्भिक साहित्य

प्राकृत के ही उत्तरवर्ती विकसित रूप अपभ्रंश ने तो हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वयंभू (७-८वीं शती) का पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ, धवल (१०-११वीं शती) और यश:कीर्ति के हरिवंशपुराण, पुष्पदन्त (१०वीं शती) तिसट्ठि-पुरिस गुणालंकारु (महापुराण), जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, धनपाल धक्कड (१०वीं शती) का भविसयत्त कहा, कनकामर (१०वीं शती) का करकण्डचरिउ, धाहिल (१०वीं शती) का पउमसिरिचरिउ, हरिदेव का मयणपराजय, अब्दुल रहमान का संदेसरासक, रामसिंह का पाहुड दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि सैकडों ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे गये हैं जिन्होंने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल को प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा, स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धान्तों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अपनी अमिट छाप छोडी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकासकी यह आद्य कडी है।

अपभ्रंश का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उसे हम पूर्वी, पश्चिमी उत्तरी और दक्षिणी अपभ्रंश में विभाजित कर सकते हैं। पूर्वी अपभ्रंश से

ही बंगला, उडिया, भोजपुरी, मैथिली, अवधी छत्तीसगढी, वघेली आदि भाषायें निकली हैं और पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती, बुन्देली आदि भाषायें उद्भूत हुई हैं। दोनों के मूल में शौरसेनी प्राकृत रही है। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और इससे एक ओर हिन्दी की बोलियां व्रजभाषा, खड़ी बोली, बुन्देली तथा दूसरी ओर उसके एक प्रादेशिक रूप नागर या महाराष्ट्री अपभ्रंश से गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी का विकास हुआ है।

अपभ्रंश कवियों की भाषा हिन्दी के आदिकाल की ओर झुकती हुई दिखाई देती है। हेमचन्द्र तक आते-आते यह प्रवृत्ति और अधिक परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणतः -

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसिय हु, जइ भग्ग धरु एंतु ।।

हिन्दी के आदिकाल को अधिकांश रूप में जैन कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें गुजराती और राजस्थानी कवियों का विशेष योगदान रहा है। यहां हम अपभ्रंश कवियों को छोडकर गुजराती और राजस्थानी हिन्दी जैन साहित्यकारों का विशेष उल्लेख कर रहे हैं। उनका समय साधारणतः १३-१४वीं शती के बीच होता है। इस युग में काव्य और रासा साहित्य ही अधिक मिलता है। इसलिए यहां हम प्रवृत्तिगत उल्लेख न कर आचार्य क्रम से उसका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। ११-१२वीं शती का साहित्य अपभ्रंश मूलक है। इसलिए उसे यहां विस्तारभय से छोडा जा रहा है।

१३वीं शती के हिन्दी जैन कवि

अभयदेव सूरि - नवांगी वृत्तिकार अभयदेव (सं. ११३९) का 'जयति-हुमणस्तोत्र' तथा द्वितीय अभयदेव का 'जयन्तविजय काव्य' (सं. १२८५) प्रसिद्ध है।

आसिग (सं. १२५७) - आपकी तीन रचनायें मिलती हैं - जीवदयारास, (५३ गा.) चन्दनवाला रास (३५ पद्य) और शान्तिनाथ रास। इनकी भाषा का उदाहरण है - ''के नर सालि दालि भुजंता, धिम धलहलु मज्झे विलहंता''।

श्रावक जगडू (१३-१४वीं शती) - खरतरगच्छीय आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। आपकी रचना 'सम्यक्त्व माइ चउपइ (६४ पद्य) उपलब्ध है। इसकी भाषा का उदाहरण देखें - ''समकित विणु जो क्रिया करेइ, तालइलोहि नीरू घालेइ''।

जिनेश्वर सूरि (सं. १२०७) - आप जिनपति के पट्टधर थे। आपकी चार रचनायें उपलब्ध हैं - १) महावीर जन्माभिषेक (१४ पद्य) २) श्रीवासु पूज्य बोलिका, ३) चर्चरी, और ४) शान्तिनाथ बोली।

अन्य प्रमुख आदिकालीन हिन्दी जैन कवि इस प्रकार हैं - जयमंगलसूरि (१३वीं शती) - महावीर जन्माभिषेक । जयदेवगणि (१३वीं शती) - 'भावना संधि' काव्य। देलहणु - गयसुकुमालरास (३४ पद्य) - सं. १३००। धर्मसूरि - जम्बूस्वामीचरित (४१ पद्य) - सं. १२६६, स्थूलिभद्ररास (४७ पद्य)। सुभद्रासती चतुष्पदिका (४२ पद्य), मयणरेहारास (३६ पद्य)। नेमिचन्द्र भण्डारी - षष्टिशतक (१६० गाथा, प्राकृत) गुरुगुणवर्णन (३५ पद्य)। पृथ्वीचन्द्र - मातृका

प्रथमाक्षर दोहा (५८ दोहे) (सं. १२६५), (रसविलास)। पाल्हण - आबूरास (नेमिनाथ रासो) - ५० पद्य (सं. १२८९)। पुण्यसागर - श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टकम् (सं. १२०५), भत्तउ - श्रीमज्जिनपति सूरीणां गीतम् (२० द्विपदिकायें) - १३वीं शती। यशःकीर्ति (प्रथम) - जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला - (१३वीं शती) । रत्नप्रभ सूरि - 'अन्तरंग सन्धि' काव्य (सं. १२२७) - ३७ कुलक। शाहरयण - जिनपति सूरि धवलगीत (सं. १२७७)। श्रावक लखण - जिनचन्द्रसूरि काव्याष्टकम् (१३वीं शती)। पंडित लाखू - जिणदत्तचरिउ (सं. १२७५)। श्रावकलखमसी - जिनचन्द्रसूरि वर्णनारास (सं. १३७१)। लक्खण - अणुवयरयण पईउ (सं. १३१३)। लाखभदेव - णेमिणाहचरिउ (सं. १५१०)। वरदत्त - वैर सामिचरित्र। वर्जसेन सूरि - भरतेश्वर बाहुबलि घोर (४५ पद्य) - सं. १२३५। वादिदेवसूरि - मुनिचन्द्र गुरु स्तृति (२५ पद्य) (सं. १२००)। प्रमाणनयतत्त्व लोकालंकार। विजयसेन सूरि - रेवंतगिरिरास (सं. १२८७) - (७२ पद्य) (खण्डकाव्य)। उदयप्रभसूरि - संघपतिचरित धर्माभ्युदय। वीरप्रभ - चन्द्रप्रभकलश। शालिभद्र - भरतेश्वर बाहुबलिरास (सं. १२४१) - २०३ पद्य बुद्धिरास, हितशिक्षाप्रबुद्धरास। सिरिमा महत्तरा - जिनपति सूरि बधामणा गीत (सं. १२३३) २० गाथा। सुमतिगणि - नेमिरास - ५७ पद्य (सं. १२६७ गणधर सार्धशतकवृहद् वृत्ति। सुप्रभाचार्य - वैराग्यसार (७७ पद्य) (१३वीं शती)। सोमप्रभ - कुमारपालप्रतिबोध (सं. १२५१)। सूक्तिमुक्तावली (सिन्दूर प्रकरण)। सुमतिनाथ चरित्र।

शतार्थ काव्य - हरिभद्रसूरि - णेमिनाहचरिउ (सं. १२१६) । हरिदेव - मयणपराजय चरिउ (१३वीं शती)। अज्ञातकवि

कर्तृक रचनायें - गुरुगण षट्पट (सं. १२७८)। जिणदत्तसूरिस्तुति (सं. १२११)।

१४वीं शती के हिन्दी जैन कवि

अभयतिलक गणि - महावीर रास (सं. १३०७) २१ पद्य। अमरप्रभसूरि - तीर्थमालस्तवन (सं. १३२३) - ३६ पद्य। आनन्दतिलक - आणंदा (१४वीं शती)। अम्बदेवसूरि - समरादास (सं. १३७१)। उदयकरण - कयलवाड पार्श्वस्तोत्र (१४वीं शती)। जीरावला पार्श्वनाथ स्तोत्र। फलबर्द्धि पार्श्वनाथ स्तोत्र। उदयधर्म - उवएस माल कहाणय छप्पय (८१ छप्पयछंद) (१४वीं शती)। गुणाकरसूरि - श्रावक विधि रास (सं. १३७१)। घेल्ह - चउवीस गीत (सं. १३७१)। चारित्रगणि - जिनचन्द्र सूरि रेलुआ (९ गा) (१४वीं शती)। छल्हु - क्षेत्रपाल द्विपदिका (सं. १४२५) - (८ गा.)। पहाडिया राग, प्रभातिक नामावलि।

जयदेव मुनि - भावना संधि प्रकरण (१४वीं शती) - ६ कडवक। जयधर्म - जिनकुसल सूरि रेलुआ (१० गा.)। धर्मचर्चरी, सालिभद्रसेलुआ, थूलिभद्रवर्णनाबोली। जिनकुशलसूरि - चैत्यवन्दना कुलकवृत्ति (१४वीं शती)। जिनचन्द्रसूरि चतुःसप्ततिका, फलौधी पार्श्वस्तोत्र, सिद्धक्षेत्र आदि जिन स्तवन और भी अनेक स्तोत्र। जिनपद्मसूरि - थूलिभद्दफागु (२७ पद्य) - १४वीं शती। श्री शत्रुंजय चतुर्विंशति स्तवन। जिनप्रभसूरि - पद्मावती चौपाई (३७ पद्य) लगभग ७०० संस्कृत स्तवन विविधतीर्थ कल्पप्रदीप। देवचन्द्रसूरि - रावण पार्श्वनाथ विनती (९ गा.) (१४वीं शती)। धर्मकलश -

जिनकुशल सूरिपट्टाभिषेकरास (सं. १३७७)। धर्मसूरि - समेदशिखरतीर्थ नमस्कार (१४वीं शती)। धारिसिंह - श्रीनेमिनाथ धुल (७१ छन्द)। पद्म - नेमिनाथ फागु (सं. १३७०) सालीभद्रकक्क, दूहामातृका। पद्मरत्न - जिनप्रबोध सूरिवर्णन (१० गा.)। प्रज्ञातिलक - कच्छुलीरास (सं. १३६३)। फेरु (ठक्कुर) - श्री युगप्रधान चतुष्पदिका (२८ गा.)। महेश्वरसूरि - संयममंजरी (३५ दोहे) (सं. १३६५)। मेरुतुंग - प्रबन्ध चिन्तामणि (सं. १३६१)। मोदमदिर - चतुर्विंशति जिनचतुष्पदिका (२७ छन्द)। मंडलिक - पेथड़ रास (६५ पद्य) (सं. १३६०)। रल्ह - जिणदत्तचरित्र (सं. १३५४)। मुनिराजतिलक - शालिभद्ररास (३५ पद्य) - सं. १३३२। राजकीर्ति - चउवीस जिन स्तवन (२५ गा.)। राजबल्लभ - थूलिभद्दफाग (सं. १३४०)। रामभद्र - शान्तिनाथकलश (१० गा.)। श्रावक लखमसी - जिनचन्द्रसूरिवर्णनारास (सं. १३४१)। लाखम (लक्ष्मणदेव) - णेमिणाहचरिउ (सं. १५१०)। लक्ष्मीतिलक उपाध्याय - प्रत्येक बुद्धचरित्र (१०१३० पद्य) - सं. १३११। श्रावक धर्मप्रकरण बृहद्वृत्ति (१५१३१ पद्य) (सं. १३१७)। शान्तिदेवरास (सं. १३१३)। वस्तिग - वीस विहरमानरास (सं. १४६२) चिहुंगति चउपई। विनयचन्द्रसूरि - नेमिनाथचतुष्पादिका (४० पद्य)। बारव्रतरास (५३ पद्य), आनंद प्रथमोपासक संधि। वीरप्रभ - श्री चन्द्रप्रभ कलश (१६ गाथा)। श्रीधर - भविष्यदत्तकथा, चन्द्रप्रभचरित, वड्ढमाणचरिउ, शान्तिजिनचरित । शान्तिभद्र - चतुर्विंशतिनमस्कार (१४वीं शती)। शान्तिसूरि - सीमन्धर स्तवन (८ गा.)। सहज ज्ञान - श्री जिनचन्द्रसूरि विवाहलउ। सारमूर्ति - जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक (सं. १३९०)। सोममूर्ति - श्री जिनेश्वर

सूरि संयम श्री विवाह वर्णनारास (३३ पद्य)। जिनप्रबोध सूरि चर्चरी (१६ गा.)। जिनप्रबोधसूरि बोलिका (१२ गा.)। सोलणु - चर्चरिका (३८ पद्य)। हेमभूषणगणि - युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि चर्चरी (सं. १३४१) (२५ पद्य)। अज्ञातकर्तृक रचनायें - जिनचन्द्रसूरि फागु (सं. १३४१), श्री जिणचंद सूरि चतुष्पदी (१० गा.), सप्तक्षत्री रास (सं. १३२७) ११९ पद्य, बारहव्रत चौपाई, स्तंभतीर्थ अजित स्तवन (२५ गा.), अनाथी कुलक (३६ कडी)। धना संधि (६१ गाथा), केसी गोयम संधि, अनाथी मुनि चौपाई (६३ गा.)। आनंद संधि, हेमतिलकसूरि संधि, युगवर गुरु स्तुति (गा. ६)। अंतरंगरास (६७ कडी), कर्मगति चौपाई। रत्नशेखररास (२६८ पद्य), मातृका चउपइ (६४ छन्द)।

आदिकालीन कवियों के इस संक्षिप्त विवरण को देखने पर हमारा ध्यान इस काल की विविध विधाओं की ओर खिंच जाता है जिनका प्रयोग इन कवियों ने किया है। इन काव्य रूप विधाओं में रासा, चउपइ, चर्चरी, फागु, रूपक, विवाहलउ, रेलुआ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

रासा - रासा का सम्बन्ध रास, रासा, रासु, रासो आदि शब्दों से रहा है जो रासक शब्द के ही परिवर्तित और विकसित रूप हैं। रासक का सम्बन्ध नृत्य, छन्द अथवा काव्य विशेष से है। ये रास तालियों या डंडियों की लय एवं धूमर के साथ विशेष उत्सवों पर जैन मन्दिरों में खेले जाते थे। यह परम्परा अपभ्रंश से मरु गुर्जर में आई। विजयसेन सूरिकृत रेवंतगिरि रास (सं. १२८७) की पंक्ति ''रंगिइ रमइ जे रासु'' या प्रज्ञातिलक कृत ''कच्छुली रास'' की पंक्ति 'जिणहरि दंत सुणंत,

मनवंछि पुरवउ' इसके समर्थक प्रमाण हैं। इसमें मण्डलाकार नृत्य तथा पदगान किया जाता है। रास, रासक या रासा नाम से छन्द भी मिलता है। पश्चिमी भारत में यह विधा अधिक प्रसिद्ध थी। इसका मुख्य विषय है तीर्थंकर, साधु-साध्वी या श्रावक का चरित गान जिसने अपने त्याग-तपस्या से लोकजीवन को प्रभावित किया हो। आसिम का जीवदया रास, देल्हण का गय सुकुमाल रास, धर्म का मयणरेहारास, पाल्हण का आबूरास, विजयसेन सूरि का रेवंतगिरिरास, शालिभद्रसूरि का भरतेश्वर बाहुबलिरास, सुमतिगणि का नेमिरास विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें शालिभद्रसूरि ही नहीं बल्कि ये सभी आचार्य हिन्दी के आदिकालीन कवि के रूप में स्वीकार्य होना चाहिए।

चउपइ - चउपइ छन्द में रचित प्रबन्ध रचना को चउपई या चौंपाई कहा जाता है। इसे चतुष्पादिका भी कहते हैं। जगडू की सम्यक्त्वमाइ चौपाइ, जयमंगलसूरि की महा. जन्माभिषेक चौपाई, धर्मसूरि की सुभद्रासती चतुष्पादिका, फेरु की युग प्रधान चतुष्पपादिका विनयचन्द्र कृत नेमिनाथ चतुष्पादिका और विजयभद्रकृत हंसराज वच्छराज चउपइ ऐसी ही रचनाएं हैं।

चर्चरी - रास के समान चर्चरी भी नृत्य-गीत परक काव्य है। इसे तालनृत्य के साथ विशेष उत्सवों पर गाया जाता था। जिनदत्त सूरि कृत चर्चरी, सोलणुकृत चर्चरी विशेष उल्लेखनीय हैं।

फागु, बेलि, बारहमासा और विवाहलो साहित्य -फागु का सम्बन्ध वसन्तागमन से है। जैन फागु का पर्यवसान शम में ही होता है। इसमें कवि अत्यन्त भक्ति विभोर और आध्यात्मिक सन्त-सा दिखाई देता है। इसमें कवि तीर्थंकर या आचार्य के प्रति समर्पित होकर

भक्तिरस को उड़ेलता है। जिनपद्मकृत स्थूलिभद्रफागु, राजशेखर सूरिकृत नेमिनाथ फागु आदि रचनायें उदाहरणीय हैं।

ऋतुओं से संबंधित साहित्यिक विधाओं में धमाल, बारहमासा, होली आदि भी काफी लोकप्रिय रहे हैं। इनमें बारहमासा विशेष लोकप्रिय रहे हैं। पाल्हण और विनयचन्द्र के नेमिनाथ बारहमासा बहुत प्रसिद्ध हैं। इसमें कवि अपने श्रद्धास्पद देव या आचार्य के बारहमासों की दिनचर्या का यथावत् आख्यान करता है।

विवाहलो में साधक कवि अपने भक्ति भाव को पिरोकर चरितनायकों के विवाह प्रसंगों का वर्णन करता है। इसे मंगल, बेलि, संयमश्री, धवल आदि नामों से भी जाना जाता है। सोममूर्तिगणि कृत जिनेश्वर सूरि संयमश्री वर्णनारास, मेरुनन्दनकृत जिनोदय सूरि विवाहलौ, जिनपति सूरि धवल, जयशेखर कृत नेमिनाथ धवल इसके उदाहरण हैं। जिनचन्द्रसूरि विवाहलउ एक रूपक काव्य है। महेश्वरसूरि की 'संयम मंजरी' रचना भी इसी विधा में समागत है।

काव्यरूप

अपभ्रंश की काव्यविद्या आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में अनेक रूपों में प्रवाहित हुई है। चरित, आख्यान, संधि, लावणी आदि सभी कुछ इसी के अंग हैं। प्रबन्ध काव्यों को छन्द, प्रबन्ध, रास-रासो, चरिउ आदि कहा गया है। समरारास, पेथड़-रास, वस्तुपाल-तेजपाल रास, वस्तुतः प्रबन्ध काव्य हैं। गणपतिकृत माधवानल, जयशेखरसूरिकृत त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध लाख का जिणदत्तचरिउ, वरदत्त का वैरसामिचरित्र हरिभद्रसूरि का नेमिनाहचरिउ, हरिदेव का मयणपराजयचरिउ ऐसी ही आदिकालीन रचनायें हैं।

संधि भी आकार-प्रकार में प्रबन्धकाव्य में लघु रूप ही हैं। रत्नप्रभकृत अंतरंगरास (सं. १२३७), जिनप्रभसूरिकृत मयणरेहा-संधि, अनाथी संधि, जीवानुशास्ति संधि, जयदेव गणि की भावना संधि इस विधा की उल्लेखनीय रचनायें हैं। इसी तरह मातृका भी एक प्रकार का काव्य रूप है जो बारह खडी पर आधारित है। छद्म की दूहामातृका ऐसी ही रचना है। उन्हीं की एक और रचना है जो सालीभद्रकक्क के नाम से विश्रुत है। यह कक्क शैली मातृका जैसी ही है। इसमें भी 'अ' से चलकर 'क्ष' पर रचना समाप्त होती है।

रेलुआ नाम की रचनायें भी ऐसी ही हैं। चारित्रगणि की जिनचन्द्रसूरि रेलुआ, जयधर्म की जिनकुशलसूरि रेलुआ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। १४वीं शती की रेलुआ संज्ञक कुछ अन्य रचनायें भी हैं - जिनकुशल सूरि रेलुआ, सालिभद्र रेलुआ, गुरावली रेलुआ आदि। स्तवन, प्रकरण, गीत, स्तोत्र, छप्पय आदि भी काव्य विधायें यहां दृष्टव्य हैं।

भाषादर्शन

अपभ्रंश से अवहट्ट होती हुई विविध सीढियों को पार करती हुई हिन्दी भाषा मरु-गुर्जर, मैथिली, अवधी, बुन्देली आदि रूपों में दिखाई देती है। यहां अपभ्रंश का प्रभाव अधिक होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ उकार बहुल प्रवृत्ति देखिए -

बनते बन छिपतउ फिरउ गव्हर वनहं निकुंज।
भधखउ भोजन मांगिबा बोवलि आवउ मुंज ।। (भोजनप्रबन्ध)

'हि' और 'हिं' विभक्ति का प्रयोग सभी कारकों में होने लगा

जैसे ''जिनवर स्वामी मुगतिहिं गामी सिद्धिनयर मंउणो (ब्रह्म जिनदास)। छन्द सौकर्म के लिए स्वरों को लघु या दीर्घ करने के साथ ही परवर्ती वर्णो को द्वित्व करके पूर्ववर्ती लघु स्वर को दीर्घ करने की प्रथा भी चल पडी थी। जैसे भखै, रखै के स्थान पर भक्खै, रक्खै आदि। स्तवयधम्मदोहा में पुरानी हिन्दी का रूप देखिए -

सहु धम्म जो आयरइ चउ वणा मह कोई।
सो णरणारी भव्वयण सुरइय पत्वह सोइ ।।

इसी तरह योगसार के दोहे को देखिए -

सो सिवसंकरु विणहुसो, सो रुद्दवि सो बुद्धा ।
सो जिण ईसरू बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धा ।।

शाह रयण के जिनपति सूरि धवल गीतम् (सं. १२७८) की भाषा में सरलता देखिए -

वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तस मह पणमिय पय कमले।
युगपति जिनपति सूरि गुण गाइसो भक्ति भर हरसिहि मन रमले ।

आदिकालीन हिन्दी जैन कवियो द्वारा लिखित साहित्य का मूल्यांकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में उनका ही साहित्य लिखित रूप में अधिक मिलता है। अपभ्रंश की कथानक रूढियां, भाषिक प्रवृत्तियां और काव्य विधायें यहां भलीभांति विकसित हुई हैं। यहीं से संक्रमित होकर इन प्रवृत्तियों ने मध्यकालीन कवियों को भी बेहद प्रभावित किया है। विषय, भाषा शैली और परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने आध्यात्मिक और भक्ति मूलक रचनायें लिखीं। इन रचनाओं में उन्होंने आदिकालीन काव्य शैलियों और काव्य रूढियों का भी भरसक प्रयोग किया। वस्तुतः समूचा हिन्दी

जैन साहित्य अपभ्रंश साहित्य की रूढियों पर लिखा गया है। हिन्दी जैनाचार्यो का आदिकालीन हिन्दी साहित्य के विकास में निःसन्देह महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसका सही मूल्यांकन अभी भी अपेक्षित है।

हिन्दी जैन गीति काव्य परंपरा

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, आदिकाल का काल निर्धारण और उसकी प्रामाणिक रचनाएं एक विवाद का विषय रहा है। जार्ज ग्रियर्सन से लेकर गणपति चन्द्र गुप्त तक इस विवाद ने अनेक मुद्दे बनाये पर उनका समाधान एक मत से कहीं नही हो पाया। जार्ज ग्रियर्सन ने चारणकाल (७००-१३०० ई.) की संज्ञा देकर उसके जिन नौ कवियों का उल्लेख किया है उनमें चन्दवरदायी को छोड़कर शेष कवियों की रचनायें ही उपलब्ध नहीं होती। इसके बाद मिश्रबन्धुओं ने "मिश्र बन्धु विनोद" के प्रथम संस्करण में इस काल को आरम्भिक काल (सं. ७००-१४४४) कह कर उसमें १९ कवियों को स्थान दिया है। पर उन पर मन्थन होने के बाद अधिकांश कवि प्रामाणिकता की सीमा से बाहर हो जाते हैं। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने हिन्दी जैन काव्यों को कोई स्थान नहीं दिया। डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को दो खण्डों में विभाजित किया है- संधिकाल (सं. ७५०-१२००) एवं चारणकाल (१०००-१३७५ सं.)। इसमें जैन साहित्य को समाहित करने का प्रयत्न हुआ है। उन्होंने उसे दो वर्गो में विभक्त किया है (हिन्दी साहित्य, पृष्ट १५)। - साहित्यिक अपभ्रंश रचनाएं, और (२) अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएं। प्रथम वर्ग में स्वयंभूदेव, देवसेन, पुष्पदंत, धनपाल, मुनि रामसिंह,

अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि,कनकामर मुनि, नयनन्दि, जिनदत सूरि, योगचन्द्र, हेमचन्द्र, हरिभद्रसूरि, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुंग आदि कवियों की रचनाएं आती है और द्वितीय वर्ग में शालिभद्र सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धर्मसूरि, विजयसेन सूरि, अम्बदेव सूरि, राजशेखर सूरि, आदि कवियों की रचनाओं को स्थान दिया गया है। इन कवियों का काल ८ वीं शदी से १४ वीं शदी तक आता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में जैन, सिद्ध एवं नाथ साहित्य को स्थान देना उचित नहीं समझा। फिर भी उन्होंने हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न माना है। हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास में इस संदर्भ में कुछ प्रयास अवश्य हुआ है पर उसमें भी कुछ उत्तम कोटि की रचनाएं रह गई है। अगर चन्द नाहटाने ''प्राचीन काव्यों की रूप परंपरा में आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की परवर्ती रचनाओं को समाहित करने का प्रयत्न किया है। इधर इस काल की विविध विधाओं पर स्वतन्त्र रूप से भी काफी काम हुआ है। गोविन्द, रजनीश, नरेन्द्र भानावत, महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, पुरुषोत्तम मेनारिया, शम्भूनाथ पाण्डेय, भोलाशंकर व्यास, वासुदेव सिंह, पुरुषोत्तम प्रसाद आसोया, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' परमानन्द शास्त्री, गणपतिचन्द्र गुप्त, डॉ. हरीश आदि विद्वानों के कार्य इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। गणपति चन्द्र गुप्त ने ''आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं'' पुस्तक में इस काल के हिन्दी जैन साहित्य को अच्छे ढंग से समायोजित किया है।

यहां हम इन सभी विद्वानों द्वारा उल्लिखित रचनाओं के आधार पर हिन्दी की आदिकालीन प्रमुख जैन कृतियों पर संक्षिप्त प्रकाश डाल

रहे हैं। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश कवियों के ग्रंथों को भी हमने इस काल में समेटा है। यह इसलिए कि इस काल में लोकभाषा के प्रचलित तत्त्व इन ग्रन्थों में यत्र-तत्र उभर आये हैं। इसी काल के द्वितीय भाग में ये तत्त्व आधुनिक हिन्दी के काफी नजदीक आते दिखाई देते हैं। कुछ विद्वानों ने इसे अवहट्ट का रूप कहा है और कुछ ने देशी भाषा का। हम इसे आदिकालीन ही कहना उपयुक्त समझते हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यद्यपि अपभ्रंश और हिन्दी को पृथक्-पृथक् माना जाता है और माना जाना चाहिये। पर चूंकि हिन्दी की संरचना में अपभ्रंश काल में प्रचलित देशी भाषा के तत्त्वों ने विशेष योगदान दिया है जो अपभ्रंश साहित्य में परिलक्षित होता है, इसलिए हमने आदिकाल की सीमा को स्वयंभू से प्रारम्भ करने का सुझाव दिया है। वैसे हिन्दी का यह आदिकाल सही रूप में मुनि शालिभद्रसूरि से प्रारम्भ होता है जिन्होंने भरतेश्वर बाहुबली रास (वि. सं. १२४१ सन् ११८४) लिखा है। यह रचना इस संदर्भ में असंदिग्ध रूप से प्रथम मानी जा सकती है। श्री अगरचन्द नाहटा ने वज्रसेन सूरि विरचित भरतेश्वर बाहुबली घोर को प्रथम रचना मानने का आग्रह किया है। पर वह अत्यंत संक्षिप्त होने के कारण प्रातिनिधिक रचना नहीं कही जा सकती। डॉ. दिनेश ने सरहपा को हिन्दी का प्रथमतम कवि प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है पर अपने पक्ष में प्रस्तुत तर्क तो फिर स्वयंभू को प्रथमतम कवि मानने को बाध्य कर देते हैं। यहां हमने इन दोनों मतों को समाहितकर हिन्दी के आदिकाल को दो भागों में विभाजित किया है प्रथम अपभ्रंश बहुल हिन्दी काल और दूसरा प्रारम्भिक हिन्दी काल। प्रथम काल भाग का प्रारम्भ स्वयंभू से होता है और दूसरे को शालिभद्रसूरि से प्रारम्भ किया है।

स्वयंभू यापनीय संघ के आचार्य थे। वे कोसल के मूल निवासी थे पर उनका कार्य क्षेत्र मान्यखेट अधिक रहा जहां वे राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (वि.सं. ८३७-८५१) के मंत्री रयडा धनंजय के आग्रह पर पहुंचे। स्वयंभू के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं - पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंश पुराण)। इन दोनों के अन्तिम भागों को वे पूरा नहीं कर सके। उन्हें पूरा किया उनके कनिष्ठ पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने। ब्राह्मण परम्परा में पले-पुसे कवि ने जैन परम्परा को स्वीकारा और उसी के अनुरूप ग्रन्थ रचना की। अलौकिकता से दूर उनके ग्रन्थ राम, कृष्ण, अरिष्टनेमि जैसे महापुरुषों की मानवीय दुर्बलताओं को अभिव्यक्त करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। संस्कृत काव्य परम्परा से जुड़े हुये इन अलंकृत काव्यों में सभी रसों का समान प्रवाह हुआ है। इन काव्यों की भाषा में लोक भाषा का भी प्रयोग काफी हुआ है। सेहरु, धवधवंति, घोलइ, भिडिय, खलइ, बलइ, गुंजा, आदि जैसे शब्द प्रारम्भिक हिन्दी की ओर यात्रा करते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणतः-

तो भिडिय परोप्परु रणकुसल। विण्णि वि णव-णाय सहास बल। विण्णि वि गिरि तुंग-सिंग-सिहर। विण्णि वि जल-हर-ख-गहिर-गिर।। (हरिवंशपुराण)

स्वयंभू के बाद पुष्पदंत अपभ्रंश भाषा के द्वितीय कवि हुये। वे मूलतः व्रज या यौधेय (दिल्ली) के आस पास के निवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण और शैवधर्म के उपासक थे। पर बाद में जैनधर्म के अनुयायी हो गये। इन्हें भी मान्यखेट राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (सं. ९९६-१०२५) के मंत्री भरत और उसके पुत्र नन्न का आश्रय मिला था। प्रकृति से स्वाभिमानी होने के कारण वे आपत्तियों के शिकार अधिक रहे। संस्कृत काव्य परम्परा से प्रभावित होने के

कारण डॉ. भयाणी ने इन्हें संस्कृत का भवभूति कहा है। कवि की विशिष्ट रचनाएं तीन हैं। (१) तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (महापुराण), (२) णायकुमार चरिउ, और (३) जसहर चरिउ। महापुराण में ६३ शलाका महापुरुषों का चरित्र चित्रण है। स्वयंभू ने विमलसूरि की परम्परा का पोषण किया तो पुष्पदंत ने गुणभद्र के उत्तरपुराण की परम्परा का अनुसरण किया। वर्णन के संदर्भ में उन पर त्रिविक्रम भट्ट का प्रभाव परिलक्षित होता है। णायकुमार चरिउ में श्रुतपंचमी के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुये मगध राजकुमार नागकुमार की कथा निबद्ध है। तृतीय ग्रंथ जसहरचरिउ प्रसिद्ध यशोधर कथा का आख्यान करता है। वार्णिक और मात्रिक दोनों तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा के विकास की दृष्टि से अधोलिखित कडवक देखिए।

जलु गलइ, झल, झलइ । दरि भरइ, सरि सरइ।
तडयडइ, तडि पडइ, गिरि फुडइ, सिह णइइ।।
मरु चलइ, तरु धुलइ। जलु थलुवि गोउलु वि।
गिरु रसिउ, भय तसिउ। थर हरइ, किर भरइ। (महापुराण)

इसके बाद मुनि कनकामर (११२२ सं.) का करकंड चरिउ, नयनंदि (सं. ११५०) का सुदंसण चरिउ, धक्कड़वंशीय धनपाल की भविसयत्त कहा, धाहिल का पउमसिरि चरिउ, हरिभद्र सूरि का णेमिणाह चरिउ, यशः कीर्ति का चन्दप्पहचरिउ आदि जैसे कथा और चरित काव्यों में हिन्दी के विकास का इतिहास छिपा हुआ है। इन कथा चरित काव्यों में जैनाचार्यो ने व्यक्ति के सहज विकास की प्रस्तुत किया है और काल्पनिकता से दूर हटकर प्रगतिवादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया है।

अध्यात्मवादी कवियों में दसवीं शताब्दी के देवसेन और जोइन्दु तथा रामसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देवसेंन का सावय धम्म दोहा श्रावकों के लिये नीतिपरक उपदेश प्रस्तुत करता है। जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार में सरल भाषा में संसारी आत्मा को परमात्मपद प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। रामसिंह ने पाहुड़ दोहा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के व्यावहारिक स्वरूप को प्रतिपादित किया है। इन तीनों आचार्यो के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी के आदिकाल की ओर झुकती हुई दिखायी देती है। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई.) तक आते-आते यह प्रवृत्ति और अधिक परिलक्षित होने लगती है -

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसियहु, जइ भग्ग धरु एंतु।।

हिन्दी के आदिकाल को अधिकांश रूप में जैन कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें गुजराती और राजस्थानी कवियों का विशेष योगदान रहा है। आदिकाल के प्रथम हिन्दी कवि के रूप में भरतेश्वर बाहुबली के रचयिता (सं. १२४१) शालिभद्र सूरि को स्वीकार किया जाने लगा है। यह रचना पश्चिमी राजस्थानी की है जिसमें प्राचीन हिन्दी का रूप उद्घाटित हुआ है। इसमें २०३ छन्द हैं। कथा का विभाजन वसतु, ठवणि, धउल, त्रोटक में किया गया है। नाटकीय संवाद सरस, सरल और प्रभावक है। भाषा की सरलता उदाहरणीय है-

चन्द्र चूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइं मनि विहीय विसाउ।
हा कुल मण्डण हा कृलवीर, हा समरंगणि साहस धीर।।ठवणि १३।।

जिनदत्त सूरि के चर्चरी उपदेश, रसावनरास और काल स्वरूप

कुलकम अपभ्रंश की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कवि आसिग का जीवदया रास (वि. सं. १२५७, सन् १२००) यद्यपि आकार में छोटा है पर प्रकार की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इसमें संसार का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन्हीं कवि का चन्दनवाला रास है जिसमें उसने नारी की संवदेना को बड़े ही सरस ढंग से उकेरा है, अभिव्यक्त किया है। भाषा की दृष्टि से देखिये -

भुंभर भोली ता सुकुमाला नाउ दीन्हु तसु चंदण बाला ।।२१।।
आधो खंडा तप किआ, किव आभइ बहु सुक्ख निहाणु।।२६।।

विजयसेन सूरि का रेवंतगिरि रास (वि. सं. १२८७, सन् १२३०) ऐतिहासिकरास है जिसमें रेवंतगिरि जैन तीर्थ यात्रा का वर्णन है। यह चार कडवों में विभक्त है। इसमें वस्तुपाल, तेजपाल के संघ द्वारा तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति-प्रतिष्ठा का गीतिपरक वर्णन है। भाषा प्रांजल और शैली आकर्षक है। इसी तरह सुमतिगणि को नेमिनाथ रास (सं. १२९५), देवेन्द्र सूरि का गयसुकुमाल रास (सं. १३००), पल्हण का आबूरास १३ वीं शती), प्रज्ञातिलक का कछूली रास (सं. १३६३), अम्बदेव का समरा रासु (सं. १३७१) शालिभद्र सूरि का पंचपांडव चरित रास (सं १४१०), विनयप्रभ का गौतम स्वामी रास (सं. १४१२), देवप्रभ का कुमारपाल रास (सं. १४५०), आदि कृतियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल की कुछ फागु कृतियां भी इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। इन फागु कृतियों में जिनपद्म की सिरि थूलिभद्द फागु (सं. १३९०), राजशेखर सूरि का नेमिनाथ फागु (सं. १४०५), कतिपय अज्ञात कवियों की जिन चन्द्र सूरि फागु (सं. १३४१), वसन्त विलास फागु सं. १४००) का भी उल्लेख करना आवश्यक है। भाषा की दृष्टि यहां देखिए कितना सामीप्य है -

सोम मरुव धूव परिणाविय, जायवि तहि जन्न तह आविय।
नच्चइ हरिसिय वज्जहिं तूरा, देवइ ताम्ब मणोरह पूरा।।
गय सुकुमाल रास।।२२।।
मेरु ठामह न चलइ जाव, जां चंद दिवायर।
सेषुनागु जां धरइ भूमि जां सातई सायर।।
धम्मह विसउ जां जगह मही, धीर निश्चल होए।
कूमरउ रायहं तणउ रासु तों नंदउ लोए।। -कुमारपाल रास

अपभ्रंश के रूपों से प्रभावित वैसे अनेक रचनाएं और हैं पर कान्ह की "अंचलगच्छ नायक गुरु रास" रचना (सं. १४२०) देखिए जो अपभ्रंश से बोझिल है -

रिसह जिणु नमिवि गुरु वयण अविचल धरी।
पंच परमेट्ठि महमंतु मनिदृदु करी।
अंचल गच्छि गछराय इणि अणुकमिइं।
सुगुरु वन्नेसुउ गुरुभक्ति मदविक्कमिइ ।।१।।

आदिकाल की इस भाषिक और साहित्यिक प्रवृत्ति ने मध्यकालीन कवियों को बेहद प्रभावित किया। विषय, भाषा शैली और परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने आध्यात्मिक और भक्ति मूलक रचनाएं लिखीं। इन रचनाओं में उन्होंने आदिकालीन काव्य शैलियों और काव्य रूढियों का भी भरसक उपयोग किया। हिन्दी के आख्यानक काव्य अपभ्रंश साहित्य में ग्रंथित लोक कथाओं पर खड़े हुए हैं। देवसेन, जोइन्दु और रामसिंह जैसे रहस्यवादी जैन कवियों के प्रभाव को हिन्दी संत साहित्य पर आसानी से देखा जा सकता है। भाषा, छन्द, विधान और काव्य रूपों की दृष्टि से भी अपभ्रंश काव्यगत वसन्त ऋतु वर्णन

और प्रकृति चित्रण उत्तरकालीन हिन्दी कवियों के लिए उपजीवक सिद्ध हुये हैं। जायसी और तुलसी पर उनका अमिट प्रभाव दृष्टव्य है। छन्दविधान, काव्य और कथानक रूढ़ियों के क्षेत्र में यह प्रभाव अधिक देखा जाता है। प्रभाव ही क्या प्रायः समूचा हिन्दी जैन साहित्य अपभ्रंश साहित्य की रूढ़ियों पर लिखा गया है।

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में गीति काव्य परम्परा

गीतिकाव्य की एक अजस्र परम्परा है, जिसका सम्बन्ध भावों की मनोरम कल्पना और उनकी सूक्ष्मतम अनुभूति से रहा है। सौन्दर्य की संश्लिष्ट संकल्पना और भावप्रवणता की सरिता में प्रकृति और पुरुष को एक स्वर में बाँधने का जो काम प्रगीति काव्य ने किया है, वह अपने आप में अनूठा है। कालिदास का 'विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातम्' वाक्य इसी महत्ता को द्योतित करता है। इसमें सत्, चित् और आनन्द की अभिव्यक्ति, मनोहारी संगीतात्मक लय में होती है। इसलिए गेयता उसका एक विशिष्ट गुण है। इस गुण में भावाद्रता संक्षिप्तता, सहज अन्तःप्रेरणा और स्वाभाविक अभिव्यक्ति जैसी विशेषताएँ भी संन्निहित रहती हैं।

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में गीति परम्परा को समझने के लिए हम संक्षेप में समूचे भारतीय साहित्य पर एक दृष्टिपात कर लें। क्योंकि उसका प्रभाव संस्कृत-प्राकृत जैन कवियों पर पडा है और वही परम्परा हिन्दी जैन कवियों ने आकलित की है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के दो भेद किये गये हैं - प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य में प्रबन्ध को महत्ता

दिये जाने के कारण गीतों को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया और गीतिकाव्य में भावों की उदात्तता होने पर भी उसमें सन्निहित ऐकान्तिकता उसे सामाजिक नहीं बना पाई। इसमें वैयक्तिक अनुभूति की गहराई का उद्घाटन होता है, इसलिए प्रबन्ध काव्य जैसा सामाजिक और सामूहिक व्यक्तित्त्व का पक्षधर गीतिकाव्य नहीं हो पाया। यही कारण है कि गीतिकाव्य का प्रचार अपेक्षाकृत कम रहा है।

गीति या प्रगीति काव्य को मुक्तक काव्य भी कहा जाता है। मुक्तक का व्युत्पत्तिपरक तात्पर्य है - मुच्यतेऽस्येति मुक्तम् अर्थात् जो काव्य अर्थ पर्यवसान के लिए परमुखापेक्षी न हो, वह मुक्तक कहलाता है। तदनुसार यों कहा जा सकता है कि जो काव्य पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा न रखता हो, स्वयं में स्वतंत्र हो तथा पूर्ण अर्थ देने में सक्षम हो वह मुक्तक काव्य है। इसीलिए उसकी ये परिभाषाएँ की गई हैं -

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् (पुराणकार)
मुक्तकं वाक्यान्तर-निरपेक्षो यः श्लोकः (काव्यादर्श)
पूर्वापर-निरपेक्षाति येन रसचर्वणा क्रियते तत्मुक्तम् (अभिनव गुप्त)
विना कृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितं।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहे मुक्तं यो वातिशोभनः।।शब्दकल्पद्रुम

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि मुक्तक या प्रगीतिकाव्य एक रमणीय सरस काव्य है, जिसमें जीवनदर्शन और अनुभूतिपरक तथ्यों का समावेश रहता है। इसमें समास शैली में भावाभिव्यक्ति होती है। शब्द और अर्थ का जो चमत्कार मुक्तक काव्य में रहता है, वह प्रबन्ध में नहीं दिखेगा। उसका क्षेत्र भले ही संकीर्ण हो, पर रसात्मकता और चमत्कृति तथा जीवन की विधायक शक्ति उसमें बेजोड़ होती है।

आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में मुक्तक के सात भेदों का उल्लेख किया गया है - मुक्तक,युग्मक, विशेषक, कलापक, कुल्क, कोष और संघात। कुछ आचार्यो ने प्रच्छदृक और विकीर्णक को मिलाकर यह संख्या ८ कर दी है। वर्तमान में इनमें से केवल मुक्तक ही प्रसिद्ध है जिसे प्रो. शंभुनाथसिंह ने ६ भागों में विभाजित किया है - १. संख्याश्रित, २. वर्णमालाश्रित, ३. छन्दाश्रित, ४. रागाश्रित, ५. ऋतुआश्रित और ६ पूजाधर्माश्रित। इस विभाजन को परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर संक्षेप में हम इसे रसात्मक, धार्मिक, प्रशस्ति और सूक्ति मुक्तक के रूप में विभाजित कर सकते हैं।

गीति या मुक्तक काव्य की दृष्टि से ऋग्वेद कदाचित् प्राचीनतम काव्य है, जिसमें "रसो वै सः' भी दृष्टिगत होता है। उषस् सूक्त इसका सर्वोत्तम निदर्शन है। इसी प्रकार अथर्ववेद के युद्ध गीतों में भी गीतितत्त्व सहज ही उपलब्ध है। रामायण और महाभारत तथा कालिदास के साहित्य में भी ये तत्त्व प्रचुर मात्रा में दृष्टव्य है। इसी विधा को हम वाल्मीकि के अन्तर्मानस से उद्भूत उस क्रौंच मिथुन की व्यथा को स्वानुभूति में ला सकते हैं -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा ।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।।

इसमें जो 'तन्त्रीलय समन्वितः' की ध्वनि है वही गीतात्मक काव्य की आत्मा है। रसात्मकता की दृष्टि से यह सुंदर काव्य है। संस्कृत काव्य की उत्तरकालीन परम्परा ऐसी ही काव्य परम्परा पर आधारित रही है। कालिदास, भवभूति जैसे महाकवियों की यही स्वानुभूति उनके काव्यों की आधारशिला रही है। इसे संस्कृत के स्तोत्रकाव्य, नीतिकाव्य, मुक्तक काव्य आदि विधाओं में भी खेाजा जा सकता है।

पालि साहित्य यद्यपि गद्य और पद्य दोनों में उपलब्ध है, पर उसकी पद्य परम्परा प्रगीत काव्य परम्परा का ही अभिन्न अंग कही जा सकती है। "सुत्तपिटक' के लगभग सभी ग्रंथों में यह परम्परा द्रष्टव्य है। उदान, इतिवुत्तक, थेर गाथा, थेरी गाथा, धम्मपद और सुत्तनिपात तो हैं ही, साथ ही दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय और संयुत्तनिकाय में तथागत द्वारा कथित "उदान वचन' भी प्रगीतकाव्य के ही अंग हैं। उदान का अर्थ ही है - उदानति पीतिवेग समुट्ठावितो उदाहारो। उदान का पद्यभाग इस प्रकार के प्रीति के आवेग से समुत्थित बुद्ध के वचनों से भरा हुआ है। चित्त के परम शान्त, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म, आचार आदि सन्दर्भो में उक्त ये वचन उदाहरणीय हैं। इसी तरह जैनेतर प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में भी गीति-परम्परा देखी जा सकती है, जैसे कर्पूरमंजरी, सन्देस रासक, दोहाकोश, सिद्ध साहित्य आदि।

जैन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश गीति काव्य परम्परा

जैन गीति काव्य परम्परा उपलब्ध जैन साहित्य में प्रभूत रूप से देखी जा सकती है। यहां हम उसके प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत और हिन्दी साहित्य की ओर विशेष रूप से झांकेगे और उसके महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम हमारा ध्यान आगमों में उल्लिखित बहत्तर कलाओं पर जाता है जहां गीति को कला का दर्जा दिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा (सूत्र ९९) में उसे २५ वें क्रम पर रखा गया है तो औपपातिकसूत्र क्र. ४० में उसे पांचवीं कला के रूप में पहचाना गया है। रायपसेणिय सूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, समवायांग आदि आगम ग्रन्थों में भी उल्लिखित ७२ कलाओं में गीति को समुचित स्थान मिला है। समवायांग (सूत्र ७२) में तो गीत के साथ ही गाहा को भी कलाओं में समाहित किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा आदि ग्रन्थों में भी गाथा को पृथक् कला के रूप में

संयोजित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में गीति और गाथा का पृथक् पृथक् अस्तित्व था। पर उत्तर काल में इन के बीच का अन्तर समाप्त होता गया और सभी को गीति काव्य के अन्तर्गत माना जाने लगा। वस्तुतः प्राकृत भाषा में गीतिकाव्य का विकास छान्दस् की मुक्तक शैली में हुआ है और आगम में उसे प्रवचन पद्धति में सम्हारा गया है। इसके बाद ही प्राकृत में गाहा सतसइ, वज्जालग्गं, जैसे गीतिकाव्य और बाद में प्राकृत के रसेतर मुक्तक, काव्यों की भी रचना हुई। जैसे - वैराग्यशतक, वैराग्यरसायन प्रकरण, ऋषभ पंचाशिका, अजिय संतिथय आदि।

इसी तरह संस्कृत के गीतिकाव्यों में स्तोत्रकाव्य और ऋंगारिक गीतिकाव्य आते हैं। संस्कृत में रचित लगभग सहस्र स्तोत्र काव्यों में विशेष रूप से समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र, देवागम स्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिनशतकालंकार, सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाएं, पूज्यपाद का भक्तिस्तोत्र, पात्रकेशरी का पात्रकेशरी स्तोत्र, विद्यानन्द का पार्श्वनाथ स्तोत्र, धनंजय का विषापहार स्तोत्र, मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, हेमचन्द्र का वीतरागस्तोत्र, महावीर स्तोत्र एवं चारुकीर्ति का गीतवीतराग स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। गीतवीतराग स्तोत्र की निम्न पंक्तियां देखिए -

चन्दनलिप्तसुवर्णशरीरसुधौतवसनवरधीरम्,
मन्दरशिखरनिभामलमणियुतसन्नुतमुकुटमुदारम्।
कथमिह लप्स्ये द्विजवर मानिनिमन्मथकेलिपरम्।।
इन्दुरविद्वयनिभमणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगेशम्
चन्दिरदलसमनिटिलविराजितसुन्दरतिलकसुकेशम्।।

प्राकृत साहित्य का प्रगीत काव्य मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन से

प्रारंभ होता है। इसमें पृथक्-पृथक् विषय पर पृथक् अध्याय लिखे गये हैं जिनमें गीतात्मकता, संक्षिप्तता और प्रभावोत्पादकता भी है। उसके बाद मुक्तक के रूप में नंदी और अनुयोगद्वार का उल्लेख किया जा सकता है। उल्लेखनीय यह है कि अनुयोगद्वार में नव-रसों में श्रृंगार रस को भी महत्ता दी गयी है, यद्यपि भक्ति रस और शां तरस के भी बीज वहाँ दिखाई देते हैं। इन्हीं ग्रंथों से मुक्तक काव्य में यह परम्परा प्रतिबिम्बत हुई है। उत्तरकाल में इसी परम्परा का विकास हुआ है। इस दृष्टि से प्राकृत का इतना अधिक महत्त्व हो गया कि यह प्रसिद्ध हुआ -

अमिअ पाउय कव्वं पढिउं सोउं अ जेण जाणंसि।
कामस्स तत्त-तंतिं कुणंति ते कहं न लज्जंति।।

इसलिए प्राकृत साहित्य को मुक्तक काव्य की दृष्टि से स्वर्णयुग कहा जाने लगा। गाहा सतसई, वज्जालग्गं जैसे काव्य इस मान्यता की पृष्ठभूमि में रहे हैं। राजा सतवाहन हाल के जैन होने की संभावना अधिक है। उनके द्वारा विरचित/संकलित गाहा सतसई प्राकृत साहित्य का मूर्धन्य मुक्तक काव्य है। कहा जाता है, हाल ने एक करोड प्राकृत गाथाओं में से मात्र ७०० गाथाएं संग्रहीत कीं जिनमें रसप्रवणता और गेयात्मकता अधिक थी। वाणभट्ट रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ, गोवर्धन आदि महाकवियों ने गाहासतसई में संकलित गाथाओं की ध्वन्यात्मकता की बडी प्रशंसा की है और उन्हें अपने ग्रन्थों में उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। एक उदाहरण देखिए -

रेहंति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ।
ससिअरणीसेसपणासिअस्स गंठि व्व तिमिरस्स।। - गाथा सं. ५६१

वज्जालग्गं सूक्ति-मुक्तक काव्यों का एक सुन्दर संकलन है

जिसे जैन मुनि जयवल्लभ ने ७९५ गाथाएं संकलित कर अपने गंभीर अध्यन का परिचय दिया है। वज्जा संस्कृत व्रज्या का प्राकृत रूप है जिसका अर्थ होता है सजातीय विषयों का एकत्र सन्निवेश (कविराज विश्वनाथ)। व्रज धातु का अर्थ गमन भी है। जैन बौद्ध साधु परिभ्रमण करते रहते हैं। मुनि जयवल्लभ को अपने परिव्रजन काल में जो भी मनोरम मुक्तक काव्य मिले उन्हें उन्होंने वज्जालग्गं में संग्रहीत कर दिये। मंगलाचरण में उन्होंने कदाचित् वज्ज पद्धई कहकर यही कहना चाहा हो - तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति पद्धई भणिया (गाथा ४)।

हिन्दी गीति काव्य

गाथासत्तसई का प्रभाव संस्कृत के आचार्य गोवर्धन और अमरुक पर दिखाई देता है तो हिन्दी के कवि विहारी की विहारी सतसई, दयाराम की दयाराम सतसई जैसे काव्यों में भी उसकी परम्परा समाहित है। इसी तरह वज्जालग्गं ने भामह, भर्तृहरि, पण्डितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत कवियों को और तुलसीदास, रहीम आदि हिन्दी कवियों को प्रभावित किया है। इस काव्य में मुनि जयवल्लभ ने लोकजीवन का बडा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। उदाहरण के रूप में निम्न गाथा देखिए जिसमें लौकी के फूल का कितना सुन्दर चित्रण हुआ है -

मा इंदिंदिर तुंगसु पंकयदलणिलय मालईविरहे।
तुंकिणिकुसुमाइँ न संपडंति दिव्वे पराहुत्ते।। -

भ्रमरवज्जाः गाथा सं. २४५

इसी सन्दर्भ में प्राकृत के उवसग्गहर स्तोत्र, अजियसंतिथुय

आदि स्तोत्र काव्य और वैराग्यशतक, वैराग्य रसायन प्रकरण आदि नीतिपरक गीतिकाव्यों को भी उल्लिखित किया जा सकता है।

प्राकृत गीतिकाव्य या मुक्तक काव्य की पृष्ठभूमि में पारलौकिकता और मुक्ति-प्राप्ति का दृष्टिकोण मुख्य रहा है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग और उत्तराध्यन का विशेष स्थान है। मुक्तक काव्य के रचनाकारों में आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी, कार्तिकेय, शिवार्य, नेमिचन्द्र, सिद्धान्तचक्रवर्ती, योगीन्दु, हेमचन्द्र, मुनि रामसिंह, देवसेन आदि सन्तों के नाम उल्लेखनीय हैं। गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, कर्पूरमंजरी, वज्जालग्गं आदि ग्रन्थ भी मुक्तक काव्य की परम्परा में आते हैं।

इसी परम्परा से परमात्मप्रकाश, पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा जैसे मुक्तक काव्य भी सम्बद्ध हैं। इस परम्परा ने रीति युगीन हिन्दी मुक्तक काव्य परम्परा पर भी विषद् प्रभाव डाला है। इस युग में ऋंगार और प्रकृति को काव्य का मुख्य विषय बनाया गया। विशेषता यह रही कि रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के ऋंगार और प्रसाधन में जो अतिशयोक्ति पूर्ण व्यंजना का प्रदर्शन किया, वह प्राकृत काव्य में नहीं दिखता। प्राकृत मुक्तक काव्य में नायिकाएँ नागरिक एवं ग्राम्य इन दोनों क्षेत्रों से आती थीं। इनके प्रेम-प्रसंगों में तत्कालीन रीति-नीति, आचार-विचार एवं युग-संदर्भो का प्रतिफलन होता था। यहाँ मात्र शब्दाडम्बर और अलंकार-प्रियता ही नहीं थी, बल्कि तारल्य और उक्ति वैचित्र्य भी दिखाई देता था। यह सब रीतिकालीन हिन्दी मुक्तक काव्य में नहीं मिलता। सतसई के व्यंजना गर्भित काव्य जैसा

कोई भी रीतिकालीन हिन्दी काव्य देखने में नही आया। यही कारण है कि प्राकृत काव्यों को अलंकार-शास्त्रियों ने काफी उद्धृत किया है। पालि में कोई उद्धरण उन्हें इसीलिए नहीं मिल पाया क्योंकि प्राकृत जैसा वैविध्य वहाँ नहीं था। इसी तरह के अन्य प्राकृत काव्यों में विल्हण कृत चौर पंचासिकाय, गोवर्धन कृत आर्या सप्तसती, क्षेमेन्द्र कृत घटकर्पूर तथा नेमिदूतम् और रहमाण कृत संदेसरासक विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य ऋंगार परक रचनाओं में जयवल्लभ कृत वज्जालग्गं प्रमुख है। इस काल की कवियत्रियों में विजया करनाटी, शील भट्टिका और मारूला मोतिका के नाम भी छन्दल ग्रंथों में उल्लखित हुए हैं। जयदेव और विद्यापति भी प्राकृत और अपभ्रंश मुक्तक परम्परा के ऋणी हैं।

प्राकृत गीतिकाव्य के साथ उसके प्रमुख छन्द गाहा की बात किये बिना मुक्तक काव्य परम्परा की बात अधूरी रह जायेगी। गाथा वस्तुतः गीति है जिसका सम्बन्ध मंत्रगान और लोकगीत से रहा है। सामवेद में उसके प्राचीन तत्त्व दृष्टव्य हैं। वैदिकयुग में यह मात्रिक छन्द था (शतपथ ब्राह्मण, ११.५.७)। बाद में उसने अनुष्टुप जैसे वार्णिक छन्द का स्थान ले लिया। डॉ. हरिराम आचार्य ने इसे द्रविड संपर्क का प्रभाव बताया और इसे मात्रिक गेयपद माना। बाद में नाट्य परम्परा में ध्रुवा गीतियों या प्राकृत गीतियों में इसी छन्द का और प्राकृत भाषा का प्रचलन रहा। भरतमुनि ने ऋचा, पाणिका, गाथा और सप्तगीत को ध्रुवा संज्ञा दी है (३२.२)। यह गाथा वस्तुतः संस्कृत आर्या का रूप है। ध्रुवागीति ही ध्रुवपद हो गया। इनके अनेक भेद-प्रभेदों का वर्णन उत्तरकाल में होता रहा है।

इस प्रकार अपभ्रंश और अवहट्ट से संक्रमित होकर आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्राचीन दाय के साथ सतत बढ़ता रहा और मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य को वह परम्परा सौंप दी। मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य की लगभग सभी विशेषताओं का आचमन किया और उन्हें सुनियोजित ढंग से संवारा, बढ़ाया और समृद्ध किया। इस प्रवृत्ति में जैन कवियों ने आदान-प्रदान करते हुए कतिपय नये मानों को भी प्रस्तुत किया है जो कालान्तर में विधा के रूप में स्वीकृत हुए हैं। यही उनका योगदान है।

प्राचीन हिन्दी भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करने से यह तथ्य भी प्रच्छन्न नहीं रहता कि शौरसेनी प्राकृत के आधार पर आधुनिक पश्चिमी और मध्यदेशीय हिन्दी भाषाओं का विकास हुआ। पश्चिमी हिन्दी में गुजराती और राजस्थानी तथा मध्यदेशीय हिन्दी में पश्चिमी हिन्दी सम्मिलित है। यह पश्चिमी हिन्दी उत्तरप्रदेश के सम्पूर्ण पश्चिमी क्षेत्र और हरियाणा में बोली जाती है। व्रजभाषा, बुन्देली और कन्नौजी भी इसी में गर्भित है। पूर्वी हिन्दी से यह पृथक् है। पूर्वी हिन्दी का विकास अर्धमागधी की अपभ्रंश से हुआ है। इसके अन्तर्गत तीन बोलियां आती हैं - अवधी, वघेली और छत्तीसगढी। इन पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी के रूपों में वैसे ही आदान-प्रदान हुआ है जैसे शौरसेनी और अर्धमागधी में। शौरसेनी ही अपभ्रंश, अवहट्ट और नागर अपभ्रंश को पार करती हुई पश्चिमी हिन्दी को जन्म देती है और पूर्वी हिन्दी को भी समृद्ध करती है। इतना ही नहीं, तमिल, कन्नड और आधुनिक आर्य भाषाओं को भी प्रभावित करती है। इसी तरह महाराष्ट्री प्राकृत का भी अच्छा प्रभाव जैनेत्तर साहित्य पर दिखाई देता है।

प्राचीन काल में जैन संस्कृति समग्र वृहत्तर भारत में फैली हुई थी। जैन साधक पदविहारी होने के कारण लोक संस्कृति और भाषा के आवाहक रहे हैं। प्रायः सभी प्राच्य भारतीय भाषाओं का साहित्य जैनाचार्यो की लेखनी से प्रभूत संवर्धित हुआ है। तमिल भाषा के प्राचीन पांच महाकाव्यों में शिलप्पदिकारम, वलयापनि और जीवक चिन्तामणि जैन काव्य हैं। उसके पांच लघुकाव्य भी जैन काव्य हैं - नीलकेशि, चूडामणि, यशोधर काविय्म, नाग कुमार काविय्म तथा उदयपान कथै। इसी तरह व्याकरण, छन्द शास्त्र, कोश आदि क्षेत्रों में भी जैन कवियों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

कर्नाटक प्रदेश तो जैनधर्म का गढ रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंक, सोमदेव आदि शताधिक आचार्य यहीं हुए हैं। कन्नड जैन कवियों में पम्प, पोन्न, रन्न, जिनसेन, चामुण्डराय, श्रीधर, शान्तिनाथ, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र, वोप्पण, आचण्ण, महबल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कन्नड साहित्य की सभी विधाओं को आदिकाल से ही समृद्ध किया है। इसी तरह मराठी साहित्य के प्राचीन जैन कवियों में जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, गुणनन्दि, जिनसेन आदि के नाम अविस्मरणीय हैं।

गुजराती का भी विकास अपभ्रंश से हुआ है। १२वीं शती से अपभ्रंश और गुजराती में पार्थक्य दिखाई देने लगता है। गुजरात प्रारम्भ से ही जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। जैन कवियों ने रासो, फागु, बारहमासा, कक्को, विवाहलु, चच्चरी, आख्यान आदि विधाओं को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से शालिभद्रसूरि (११८५ ई.) का भरतेश्वर बाहुबलिरास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है। उसके बाद धम्मु का जम्बुरास, विनयप्रभ का गौतमरास, राजशेखर का नेमिनाथ फागु आदि प्राचीन गुजराती साहित्य की श्रेष्ठ कृतियां हैं जिन्हें हिन्दी जैन साहित्य से जोडा जाता है।

तृतीय परिवर्त

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियां

विगत पृष्ठों में हमने हिन्दी के आदियुग और मध्ययुग का काल क्षेत्र और सांस्कृतिक तथा भाषिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त अवलोकन किया और इसी के साथ आदिकालीन काव्य प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात किया । यहां अब हम मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियों पर विशेष विचार करेंगे क्योंकि इस युग का हिन्दी जैन साहित्य परिमाण की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक है ।

इस सन्दर्भ में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) के रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। चूंकि भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण विचारधारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही हैं तथा रीतिकाल में भक्ति सम्बन्धी रचनायें अधिक उपलब्ध होती हैं, अतः इस मध्यकाल का धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक लगता है। जैन साहित्य का उपर्युक्त विभाजन और भी सम्भव नहीं क्योंकि वहां भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं। इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य-स्रोत जैन आचार्यो और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल में भी प्रवाहित हुआ है।

अतः हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यों का वर्गीकरण कलात्मक न होकर प्रवृत्यात्मक किया जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैन कवियों और आचार्यो ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पैठकर अनेक साहित्यिक विधाओं को प्रस्फुटित किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हम निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं :-

१. प्रबन्ध काव्य - महाकाव्य, खण्डकाव्य, पुराण, कथा चरित, रासा, संधि आदि।

२. रूपक काव्य - होली, विवाहलो, चेतनकर्मचरित आदि।

३. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य - स्तवन, पूजा, चौपई, जयमाल, चांचर, फागु, चूनड़ी, वेली, संख्यात्मक, बारहमासा आदि।

४. गीतिकाव्य, और

५. प्रकीर्णक काव्य - रीतिकाव्य, कोश, आत्मचरित, गुर्वावली आदि।

श्री अगरचन्द नाहटा ने भाषा काव्यों का परिचय प्रस्तुत करने के प्रसंग में उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की है[1] - १. रास, २. संधि, ३. चौपाई, ४. फागु, ५. धमाल, ६. विवाहलो, ७. धवल, ८. मंगल, ९. वेलि, १०. सलोक, ११. संवाद, १२. बाद, १३. झगड़ो, १४. मातृका, १५. वावनी, १६. कक्क, १७. बचरहमासा, १८. चौमासा, १९. पवाड़ा, २०. चर्चरी (चंचरि), २१. जन्माभिषेक, २२. कलश, २३. तीर्थमाला, २४. चैत्यपरिपाटी, २५.

संघवर्णन, २६. ढाल, २७. ढालिया, २८. चौढालिया, २९. छढालिया, ३०. प्रबन्ध, ३१. चरित, ३२. सम्बन्ध, ३३. बत्तासी, ३४. इक्कीसो, ३५. इकतीसो चौबीसी, ३६. बीसी, ३७. अष्टक, ३८. स्तुति, ३९. स्तवन, ४०. स्तोत्र, ४१. गीत, ४२. सज्झाय, ४३. चैत्यवंदन, ४४. देववंदन, ४५. वीनती, ४६. नमस्कार, ४७. प्रभाती, ४८. मंगल, ४९. सांझ, ५०. बधावा, ५१. गहूँली, ५२. हीयाली, ५३. आख्यान, ५४. कथा, ५५. सतक, ५६. बहोत्तरी, ५७. छत्तीसी, ५८. सत्तरी, ५९. गूढा, ६०. गजल, ६१. लावणी, ६२. छंद, ६३. नीसाणी, ६४. नवरसो, ६५. प्रवहण, ६६. पारणी, ६७. वाहण, ६८. पट्टावली, ६९. गुर्वावली, ७०. हमचड़ी, ७१. हींच, ७२. मालामालिका, ७३. नाममाला, ७४. रागमाला, ७५. कुलक, ७६. पूजा, ७७. गीता, ७८. पट्टाभिषेक, ७९. निर्वाण, ८०. संयमश्री ८१. विवाह वर्णन, ८२. भास, ८३. पद, ८४. मंजरी, ८५. रसावलो, ८६. रसायन, ८७. रसलहरी, ८८. चंद्रावला, ८९. दीपक, ९०. प्रदीपिका, ९१. फुलडा, ९२. जोड़, ९३. परिक्रम, ९४. कल्पलता, ९५. लेख, ९६. विरह, ९७. मूँदड़ी, ९८. सत, ९९. प्रकाश, १००. होरी, १०१. तरंग, १०२. तरंगिणी, १०३. चौक, १०४. हुँडी, १०५. हरण, १०६. विलास, १०७. गरबा, १०८. बोली, १०९. अमृतध्वनि, ११०. हालरियो, १११. रसोई, ११२. कड़ा, ११३. झूलणा, ११४. जकड़ी, ११५. दोहा, ११६. कुंडलिया, ११७. छप्पय आदि।

मध्यकालीन जैन काव्य की इन प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रवृत्तियां मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्तुत हुई हैं जहां आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान हो जाता है, वहां स्वभावतः कवि की लेखनी आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक हो जाती है। उसका मूल उत्स रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

१. प्रबन्ध काव्य

प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों आते हैं। यहां उनके स्वरूप का विश्लेषण करना हमारा अभीष्ट नहीं है पर इतना कथन अवश्यक है कि उनके आख्यानों का वस्तु-तत्त्व पौराणिक, निजन्धरी, समसामयिक तथा कल्पित होता है। उनमें लोकतत्त्व का प्राधान्य रहता है। लोकतत्त्व गाथात्मक और कथात्मक रहता है। उनके पीछे धार्मिक अनुश्रुतियां, इतिहास और मान्यतायें छिपी रहती हैं। सृष्टि, प्रलय, वंशपरम्परा, मन्वन्तर और विशिष्ट वंशों में होने वाले महापुरुषों का चरित ये पांच विषय पौराणिक सीमा में आते हैं:-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ।।

जैन साहित्य में प्रबन्धकाव्य की परम्परा आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है। जैन आचार्यो ने ६३ शलाका महापुरुषों के चित्रांकन को अपना विशेष लक्ष्य बनाया है। उनकी जीवन गाथाओं के माध्यम से कवियों ने जैनधर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार अभिव्यक्त किये हैं। इसके बावजूद प्रबन्ध काव्य में अपेक्षित क्रमबद्धता, गतिशिलता और भावव्यंजना में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। कवियों ने भाषा के क्षेत्र में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा के मिश्रित रूप का प्रयोग किया है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से ये काव्य जायसी और तुलसी के काव्यों से हीन नहीं है बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि जायसी और तुलसी ने प्राचीन जैन प्रबन्ध काव्यों से प्राभूत सामग्री ग्रहणकर अपनी प्रतिभा से अपने समूचे साहित्य को उन्मेषित किया है।

पुराण, कथा और चरित काव्य भी प्रबन्ध के अन्तर्गत आते हैं। आचार्यो ने उन्हें भी जैन तत्त्वों को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाया है। फिर भी यथावश्यक रसों के संयोजन में कोई व्यवधान नहीं आ पाया। कवियों ने यथासमय श्रृंगार और वीररस का भरपूर वर्णन किया है। पर उसमें भी शान्तरस का भाव सूख नहीं पाया बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि श्रृंगार और वीररस की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक अनुभूति के कारण संसार का चित्रण कहीं अधिक सक्षम रूप से प्रस्तुत हुआ है। इनमें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की कथाओं और चरित्रों का आलेखन मिलता है। इस आलेखन में कवियों ने लोक तत्त्वों की काव्यात्मक रूढ़ियों का भी भरपूर उपयोग किया है।

जहां तक रासों काव्य परम्परा का सम्बन्ध है, उसके मूल प्रवर्तक जैन आचार्य ही रहे हैं। जैन रासो काव्य गीत नृत्य परक अधिक दिखाई देते हैं। इन्हें हम खण्डकाव्य के अनतर्गत ले सकते हैं। कवियों ने इनमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और आचार्यो केचरित का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं ये रासो उपदेश परक भी हुये हैं।

इनमें साधारणतः पौराणिकता का अंश अधिक है, काव्य का कम । संयोग-वियोग का चित्रण भी किया गया है पर विशेषता यह है कि वह वैराग्यमूलक और शान्तरस से आपूरित है। आध्यात्मिकता की अनुभूति वहां टपकती हुई दिखाई देती है। राजुल और नेमिनाथ का सन्दर्भ जैन कवियों के लिए अधिक अनुकूल सा दिखाई दिया है।

इस भूमिका के साथ जैन प्रबन्ध काव्यों को हम समासतः इस प्रकार आलेखित कर सकते हैं - १. पुराण काव्य (महाकाव्य और खण्ड काव्य), २. चरित काव्य, ३. कथा काव्य और ४. रासो काव्य ।

२. पौराणिक काव्य

पौराणिक काव्य में महाकाव्य और खण्ड काव्य सम्मिलित होते है। हिन्दी जैन कवियों ने दोनों काव्य विधाओं में तदनुकूल लक्षणों एवं विशेषताओं से समन्वित साहित्य की सर्जना की है। उनके ग्रंथ सर्ग अथवा अधिकारों में विभक्त हैं। नायक कोई तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा माहपुरुष है, शांतरस की प्रमुखता है तथा श्रृंगार और वीर रस उसके सहायक बने हैं। कथा वस्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है, चतुर्पुरुषार्थो का यथास्थान वर्णन है, सर्गो की संख्या आठ से अधिक है, सर्ग के अंत में छन्द का परिवर्तन तथा यथास्थान प्राकृतिक दृश्यों का संयोजन किया गया है। महाकाव्य के इन लक्षणों के साथ ही खण्ड काव्य के लक्षण भी इस काल के साहित्य में पूरी तरह से मिलते हैं। वहां कवि का लक्ष्य जीवन के किसी एक पहलु को प्रकाशित करना रहा है। घटनाओं, परिस्थितियों तथा दृश्यों का संयोजन अत्यन्त मर्मस्पर्शी हुआ है। ऐसे ही कुछ महाकाव्यों और खण्डकाव्यों का यहां हम उल्लेख कर रहे हैं। उदाहरणार्थ-

ब्रह्मजिनदास के आदिपुराण और हरिवंशपुराण (वि. सं. १५२०), वादिचन्द्र का पाण्डवपुराण (वि.सं. १६५४), शालिवाहन का हरिवंशपुराण (वि.सं. १६९५) बूलाकीदास का पाण्डवपुराण (वि.सं. १७५४, पद्य ५५००), खुशालचन्द्रकाला के हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण और पद्मपुराण (सं. १७८३), भूधरदास का पार्श्वपुराण (सं. १७८९), नवलराम का वर्तमान पुराण (सं. १८२५), धनसागर का पार्श्वनाथपुराण (सं. १६२१), ब्रह्मजित का मुनिसुव्रतनाथ पुराण (सं. १६४५), वैजनाथ माथुर का वर्धमानपुराण (सं. १९००),

सेवाराम का शान्तिनाथ पुराण (सं. १८२४) जिनेन्द्रभूषणका नेमिपुराण। ये पुराण भाव और भाषा की दृष्टि से उत्तम हैं। इस दृष्टि से कविवर भूधरदास का पार्श्व पुराण दृष्टव्य है -

किलकिलंत वैताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं।
मौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं।।
मुंडमाल गल धरहिं लाय लोयननि उरहिंजन।
मुख फुलिंग फुंकरहि करहिं निर्दय धुनि हन हन।।
इहि विधि अनेक दुर्वेष धरि, कमठ जीव उपसर्ग किय।
तिहुं लोक वंद जिनचन्द्र प्रति धूलि डाल निज सीस लिय।।[२]

हिन्दी जैन साहित्य में पौराणिक प्रबन्ध काव्य की धारा लगभग आठवीं शती से प्रारम्भ हुई और मध्यकाल आते-आते उसमें और अधिक वृद्धि हुई। कवियों ने तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, नारायणों आदि महापुरुषों के चरितों को जीवन-निर्माण के लिए अधिक उपयोगी पाया और फलतः उन्होंने अपनी प्रतिभा को यहां प्रस्फुटित किया। यद्यपि उनमें जैनधर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है पर उससे कथा प्रवाह में कही बाधा नहीं दिखाई देती। भावव्यंजना संवाद, घटनावर्णन, परिस्थिति संयोजन आदि सभी तत्त्व यहां सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।

जिन्हें आज खण्डकाव्य कहा जाता है उन्हें मध्यकाल में 'संधि' काव्य की संज्ञा दी गई। संधि वस्तुतः सर्ग के अर्थ में प्रयुक्त होता था, पर उत्तरकाल में एक सर्ग वाले खण्ड काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा प्रमुख जैन संधि काव्यों में उल्लेखनीय काव्य हैं जिनप्रभसूरि का अनत्थि संधि (सं. १२९७) और मयणरेहा संधि, जयदेव का भावना संधि विनयचन्द का आनन्द संधि (१४ वी शती),

कल्याण तिलक का मृगापुत्र संधि (सं. १५५०), चारुचन्द्र का नन्दन मणिहार संधि, (सं. १५८७), संयममूर्ति का उदाहर राजर्षि संधि (सं. १५९०), धर्ममेरु का सुख-दुखः विपाक संधि (सं. १६०४, गुणप्रभसूरि का चित्रसंभूति संधि (सं. १६०८), कुशल लाभ का जिनरक्षित संधि (सं. १६२१), कनकसोम का हरिकेशी संधि (सं. १६४०), गुणराज का सम्मति संधि (सं. १६३०), चारित्र सिंह का प्रकीर्णक संधि (सं. १६३१), विमल विनय का अनाथी संधि (सं. १६४७), विनय समुद्र का नमि संधि (सं. १७ वीं शती), गुणप्रभ सूरि का चित्र संभूति संधि (सं. १७५९) आदि। ऐसे पचासों संधि काव्य भण्डारों में बिखरे पड़े हुए हैं।

३. चरित काव्य

हिन्दी जैन कवियों ने जैन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के लिए महापुरुषों के चरित का आख्यान किया है। कहीं-कहीं व्यक्ति के किसी गुण-अवगुण को लेकर भी चरित ग्रन्थों की रचना की गई है जैसे ठकुरसी का कृष्ण चरित्र। इन चरित ग्रन्थों में कवियों ने मानव की सहज प्रकृति और रागादि विकारों का सुन्दर वर्णन किया है। मध्यकालीन कतिपय चरित काव्य इस प्रकार हैं -

सघारु का प्रद्युम्नचरित (सं. १४११), ईश्वरसूरि का ललितांग चरित (सं. १५६१), ठकुरसी का कृष्ण चरित (सं. १५८०), जयकीर्ति का भवदेवचरित (सं. १६६१), गौरवदास का यशोधर चरित (सं. १५८१), मालदेव का भोजप्रबन्ध (सं. १६१२, पद्य २०००), पाण्डे जिनदास का जम्बूस्वामी चरित (सं. १६४२), नरेन्द्रकीर्ति का सगर प्रबन्ध (सं. १६४६), वादिचन्द्र का श्रीपाल

आख्यान (सं. १६५१), परिमल्ल का श्रीपाल चरित्र (सं. १६५१), पामे का भरतभुजबलि चरित्र (सं. १६१६), ज्ञानकीर्ति का यशोधर चरित्र (सं. १६५८), पार्श्वचन्द्र सूरि का राजचन्द्र प्रवहण (सं. १६६१), कुमुदचन्द्र का भरत बाहुबली छन्द (सं. १६७०), नन्दलाल का सुदर्शन चरित (सं. १६६३), बनवारी लाल का भविष्यदत्त चरित्र (सं. १६६६), भगवतीदास का लघुसीता सतु (सं. १६८४), कल्याण कीर्तिमुनि का चारुदत्त प्रबन्ध (सं. १६१२), लालचन्द्र का पद्मिनी चरित्र (सं. १७०७) रामचन्द्र का सीता चरित्र (सं. १७१३), जोधराज गोदीका का प्रीतंकर चरित्र (सं. १७२१, जिनहर्ष का श्रेणिक चरित्र (सं. १७२४), विश्वभूषण का पार्श्वनाथ चरित्र (सं. १७३८), किशनसिंह के भद्रबाहु चरित्र (सं. १७८३) और यशोधर चरित (सं. १७८१), लोहट का यशोधर चरित्र (सं. १७२१), अजयराज का यशोधर चरित्र (सं. १७२१), अजयराज पाटणी का नेमिनाथ चरित्र (सं. १७९३), दौलत राम कासलीवाल का जीवन्धर चरित्र (सं. १८०५), भारमल का चारुदत्त चरित्र (सं. १८१३), शुभचन्द्रदेव का श्रेणिक चरित्र (सं. १८२४), नाथमल मिल्ढाका नागकुमार चरित्र (सं. १८१०), चेतन विजय का सीता चरित्र और जम्बूचरित्र (सं. १८५३), पाण्डे लालचन्द का वरांगचरित्र (सं. १८२७), हीरालाल का चन्द्रप्रभ चरित्र, टेकचन्द का श्रेणिक चरित्र (सं. १८८३), और ब्रह्म जयसागर का सीताहरण (सं. १८३५)।

इन चरित काव्यों के तीर्थंकरों युवा महापुरुषों के चरित का चित्रण कर मानवीय भावनाओं का बड़ी सुगमता पूर्वक चित्रण किया गया है। यद्यपि यहां काव्य की अपेक्षा चारित्रांकन अधिक हुआ है परन्तु चरित्र प्रस्तुत करने का ढंग और उसका प्रवाह प्रभावक है।

आनन्द और विषाद, राग और द्वेष तथा धर्म और अधर्म आदि भावों की अभिव्यक्ति बड़ी सरस हुई है। कवि भगवतीदास का लघु सीता सतु उल्लेखनीय है जहां उन्होंने मानसिक घात-प्रतिघातों का आकर्षक वर्णन किया है -

तब बोलइ मन्दोदरी रानी, सखि अषाढ़ घनघट घहरानी।
पीय गये ते फिर घर आवा, पामर मर नित मंदिर छावा।।
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग धरत नहीं धीरा।
बादर उमहि रहे चौमासा, तिथ पिय बिनु लिहिं उरु न उसासा।
नन्हीं बून्द झरत झर लावा। पावस नभ आगमु दरसावा।।
दामिनि दमकत निशि अंधियारी। विरहिनि काम वान उरभारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी। जानति काहे भई मति वौरी।।
मदन रसायनु हइ जग सारू। संजमु नेमु कथन विवहारू।
तब लग हंस शरीर, महि, तक लग कीजई भोगु।
राज तजहि भिक्षा अमहिं, इउ भूला सबु लोगु।।

इसी प्रकार कृष्ण चरित्र में कवि ठकुरसी ने कंजूस धनी का जो आखों देखा हाल चित्रित किया है वह दृष्टव्य है -

कृपणु एक परसिद्ध नयरि निवसंतु निलक्खणु ।
कही करम संयोग तासु घटि, नाटि विचक्खणु ।।
देखि दुहू की जोड़, सथलु जगि रहिउ तमासै।
याहि पुरिष कै याहि, दई किम दे इम भासै।
वह रह्यो रीति चाहे भली, दाण पुज्ज गुणसील गति।
यह देन खाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति।।

कवि हीरालाल द्वारा रचित चन्द्रप्रभचरित काव्य चमत्कार की दृष्टि से अति मनोहर है। इस सन्दर्भ में निम्न पद्य दर्शनीय है-

कवल बिना जल, जल बिन सरवर, सरवर बिन पुर, पुर बिन राय।
राय सचिव बिन, सचिव बिना बुध, बुध विवेक बिन बिन शोध न पाय।।

इसी प्रकार नवलशाह विरचित वर्द्धमान चरित्र में अंकित महारानी प्रिय कारिणी के रूप सौन्दर्य का चित्रण (नख शिख वर्णन) जैनेतर कवियों से हीन नहीं है।

अम्बुज सौं जुग पाय बेने, नख देख नखन्त भयौ भय भारी।
नूपुर की झनकार सुनै, दुग शरीर भयौ दशहू दिश भारी।
कंदल थंभ बनै जुग जंग, सुचाल चलै गज की पिय प्यारी।
क्षीन बनौ कटि केहरि सौ, तन दामिनी होय रही लज सारी।।
नाभि निबौरियसी निकसी, पढ़हावत पेट संकुचन धारी।
काम कपिच्छ कियौ पट रन्तर, शील सुधी धरै अविकारी।।
भूषण बारह भाँतिन के अन्त, कण्ठ में ज्योति लसै अधिकारी।
देखत सूरज चन्द्र छिपै, मुख दाडिम दंद महाछविकारी।।

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन चरित काव्य भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। वस्तु और उद्देश्य बडी सूक्ष्मता से समाहित है। पात्रों के व्यक्तित्त्व को उभारने में जैन सिद्धान्तों का अवलम्बन जिस ढंग से किया गया है वह प्रशंसनीय है। सांसारिक विषमताओं का स्पष्टीकरण और लोकरंजनकारी तत्त्वों की अभिव्यंजना जैन साधक कवियों की लेखनी की विशेषता है। प्राचीन काव्यों में चरितार्थक पवीड़ो काव्य भी उपलब्ध होते हैं। इसी सन्दर्भ में भगवतीदास के वृहद् सीता सतु और लघु सीता सतु जैसे सत् संज्ञक काव्य भी उल्लेखनीय हैं।

४. कथा काव्य

मध्यकालीन हिन्दी जैन कथा काव्य विशेष रूप से व्रत, भक्ति और स्तवन के महत्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वहां इन कथाओं के माध्यम से विषय-कषायों की निवृत्ति, भौतिक सुखों की अपेक्षा तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया गया है। उनमें चित्रित पात्रों के भाव चरित्र, प्रकृति और वृत्ति को स्पष्ट करने में ये कथा काव्य अधिक सक्षम दिखाई देते हैं। ऐसे ही कथा काव्यों में ब्रह्मजिनदास (वि. सं. १५२०) की रविव्रत कथा, विद्याधर कथा सम्यक्त्व कथा आदि, विनयचन्द्र की निर्जरपंचमी कथा (सं. १५७६), ठकुरसी की मेघमालाव्रत कथा (सं. १५८०), देवकलश की ऋषिदत्ता (सं. १५६९), रायमल्ल की भविष्यदत्तकथा (सं. १६३३), वादिचन्द्र की अम्बिका कथा (सं. १६५१), छीतर ठोलिया की होलिका कथा (सं. १६६०), ब्रह्मगुलाल की कृपण जगावनद्वार कथा (सं. १६७१), भवगतीदास की सुगंधदसमी कथा, पांडे हेमराज की रोहणीव्रत कथा, महीचन्द की आदित्यव्रत कथा, टीकम की चन्द्रहंस कथा (सं. १७०८), जोधराज गोदीका का कथाकोश (सं. १७२२), विनोदीलाल की भक्तामरस्तोत्र कथा (सं. १७४७), किशनसिंह की रात्रिभोजन कथा (सं. १७७३), टेकचन्द्र का पुण्याश्रवकथाकोश (सं. १८२२), जगतराय की सम्यक्त्व कौमुदी (सं. १७२१), उल्लेखनीय हैं। ये कथा काव्य कवियों की रचना कौशल्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'सम्यक्त्व कौमुदी' की कथाओं में निबद्ध काव्य वैशिष्ट्य उल्लेख्य है -

तबहिं पावड़ी देखि चोर भूपति निज जान्यौ।
देखि मुद्रिका चोर तर्ब मन्त्री पहिचान्यौ।
सूत जनेऊ देखि चोर प्रोहित है भारी।
पंचनि लखि विरतान्त यहै मन में जु विचारी।।
भूपति यह मन्त्री सहित प्रोहित युत काढी दयौ।
इह भांति न्याव करि भलिय विकध धर्म थापि जग जस लयौ।।

इस प्रकार का काव्य वैशिष्ट्य मध्यकालीन हिन्दी जैन कथा काव्यों में अन्यत्र भी देखा जा सकता है। इसके साथ ही यहां जैन सिद्धान्तों का निरूपण कवियों का विशेष लक्ष्य रहा है।

५. रासा साहित्य

हिन्दी जैन कवियों ने रासा साहित्य के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया है। सर्वेक्षण करने से स्पष्ट है कि रासा साहित्य को जन्म देने वाले जैन कवि ही थे। जन्म से लेकर विकास तक जैनाचार्यो ने रासा साहित्य का सृजन किया है। रासा का सम्बन्ध रास, रासा, रासु, रासौ आदि शब्दों से रहा है जो 'रासक' शब्द के ही परिवर्तित और विकसित रूप है। 'रासक' का सम्बन्ध नृत्य, छन्द अथवा काव्य विशेष से है। यह साहित्य गीत-नृत्य परक और छन्द वैविध्य परक मिलता है। जैन कवियों ने गीत-नृत्य परक परम्परा को अधिक अपनाया है। इनमें कवियों ने धर्म प्रचार की विशेष महत्त्व दिया है। इस सन्दर्भ में शालिभद्रसूरि का पांच पाण्डव रास (सं. १४१०), विनयप्रभ उपाध्याय का गौतमरास (सं. १४१२), सोमसुन्दरसूरि का आराधनारास (सं. १४५०), जयसागर के वयरस्वामी गुरुरास और गौतमरास, हीरानन्दसूरि के वस्तुपाल तेजपाल रासादि (सं. १४८६),

सकलकीर्ति (सं. १४४३), के सोलहकारणरास आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मजिनदास (सं. १४४५-१५२५) का रासा साहित्य कदाचित् सर्वाधिक है। उनमें रामसीतारास, यशोधररास, हनुमतरास (सं. ७२५ पद्य) नागकुमाररास परमहंसरास (१९०० पद्य) अजितनाथ रास, होली रास (१४८ पद्य) धर्मपरीक्षारास, ज्येष्ठजिनवर रास (१२० पद्य), श्रेणिकरास, रामकितमिथ्यात्वरास (७० पद्य), सुदर्शनरास (३३७ पद्य), अम्बिका रास (१५८ पद्य), नागश्रीरास (२५३ पद्य), जम्बूस्वामी रास (१०००५ पद्य), भद्रबहुरास, कर्मविपाक रास, सुकौशल स्वामी रास, रोहिणीरास, सोलहकारणरास, दशलक्षणरास, अनन्तव्रतरास, बंकचूल रास, धन्यकुमाररास, चारुदत्त प्रबन्ध रास, पुष्पांजलि रास, धनपालरास (दानकथा रास), भविष्यदत्तरास, जीवंधररास, नेमीश्वररास, करकण्डुरास, सुभौमचक्रवर्तीरास और अट्ठमूलगुण रास प्रमुख हैं। इनकी भाषा गुजराती मिश्रित है। इन ग्रन्थों की प्रतियां जयपुर, उदयपुर दिल्ली आदि के जैनशास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त मुनिसुन्दरसूरि का सुदर्शन श्रेष्ठिरास (सं. १५०१), मुनि प्रतापचन्द का स्वप्नावलीरास (सं. १५००), सोमकीर्ति का यशोधररास (सं. १५२६), संवेग सुन्दर उपाध्याय का सारसिखामनरास (सं. १५४८), ज्ञानभूषण का पोसहरास (सं. १५५८), यशःकीर्ति का नेमिनाथरास (सं. १५५८), ब्रह्मज्ञानसागर का हनुमंतरास (सं. १६३०), मतिशेखर का धन्नारास (सं. १५१४), विद्याभूषणका भविष्यदत्तरास (सं. १६००), उदयसेन का जीवंधररास (सं. १६०६), विनयसमुद्र का चित्रसेन पद्मावतीरास (सं. १६०५), रायमल्ल का प्रद्युम्नरास (सं. १६६८), पांडे जिनदास

का योगीरासा (सं. १६६०), हीरकलश का सम्यक्त्व कौमुदीरास (सं. १६२६), भगवतीदास (सं. १६६२), के जोगीरासा आदि, सहजकीर्ति के शीलरासादि (सं. १६८६) भाऊ का नेमिनाथ रास (सं. १७५९), चेतनविजय का पालरास जैन रासा ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं।

इन रासा ग्रन्थों में श्रृंगार, वीर, शान्त और भक्ति रस का प्रवाह दिखाई देता है। प्रायः सभी रासों का अन्त शान्तरस से रंजित है। फिर भी प्रेम और विरह के चित्रों की कमी नहीं है। इस सन्दर्भ में 'अंजना सुन्दरी रास' उल्लेख्य है जिसमें अंजना के विरह का सुन्दर चित्रण किया गया है। इस सन्दर्भ में वसन्त का चित्रण देखिए, कितना मनोहारी है -

मधुकर करइं गुंजारव मार विकार वहंति ।
कोयल करइ पटहुकड़ा ढूकढ़ा मेलवा कन्त ।।
मलयाचल थी चलकिरा पुलकिउ पवन प्रचण्ड।
मदन महानृप पाझइ विरहिनि सिरदण्ड।।

शान्तरस से युक्त पं. भगवतीदास का 'जोगीरास' भी दृष्टव्य है। जिसमें जीव को अपने ही अन्दर विराजमान चिदानन्द रूपी शिवनायक का भजन कर संसार समुद्र से पार होने की अभिव्यंजना की है -

पेखहू हो तुम पेखहु भाई, जोगी जगमहि सोई।
घट-घट अन्तरि वसइ चिदानन्दु, अलखु न लखिए कोई।।
भव-वन-भूल रह्मी भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुध विसराई।
परम अतीन्द्रिय शिव-सुख-तजि करि, विषयनि रहिउ लुभाइ।।
अनन्त चतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्हकी हउ बलिहारी।
ममनिधरि ध्यानु जयहु शिवनायक, जिउं उतरहुं भवपारी।।

इसी प्रकार भक्ति रस से ओतप्रोत सहजकीर्ति के - सुदर्शनश्रेष्ठिरास' की निम्न पंक्तियां दुष्टव्य हैं :-

केवन कमलाकर सुर, कोमल वचन विलास,
कवियण कमल दिवाकर, पणमिय फलविधि पास।
सुरनर किनर वर भ्रमर, सुन चरणकंज जास,
सरस वचन कर सरसती, नमीयइ सोहाग वास।
जासु पसाइय कविलहर, कविजनमई जसवास,
हंसगमणि सा भारती, देउ मुझ वचन विलास।

इस प्रकार जैन रासा साहित्य एक ओर जहाँ ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महापुरुषों के चरित्र का चित्रण करता है वहीं साथ ही आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आदर्शो को भी प्रस्तुत करता है। जैनों की धार्मिक रास परम्परा हिन्दी के आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है। मध्ययुगीन रासा साहित्य में आदिकाल रासा साहित्य की अपेक्षा भाव और भाषा का अधिक सौष्ठव दिखाई देता है। आध्यात्मिक रसानुभूति की दृष्टि से यह रासा साहित्य अधिक विवेचनीय है।

६. रूपक काव्य

आध्यात्मिक रहस्य को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रतीक और रूपक होते हैं। जैन कवियों ने सांसारिक चित्रण, आत्मा की शुद्धाशुद्ध अवस्था, सुख दुःख की अवस्थायें, रागात्मक विकार और क्षणभंगुरता के दृश्य जिस सूक्ष्मान्वेक्षण और गहन अनुभूति के साथ प्रस्तुत किये हैं, वह अभिनन्दनीय है। रूपक काव्यों का उद्देश्य वीतरागता की सहज प्रवृत्ति का लोक मांगलिक चित्रण करना रहा है। आत्मा की स्वाभाविक क्षमता मिथ्यात्व आदि के बन्धन से किस प्रकार

ग्रसित होकर भवसागर में भ्रमण करता रहता है और किस प्रकार उससे मुक्त होता है, इस प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग को विश्लेषित कर जैन कवियों ने आत्मा की अतुल शक्ति को रूपकों के माध्यम से उद्‌घाटित करने का प्रयत्न किया है। इस विधि से जैन तत्त्वों के निरूपण में नीरसता नाहीं आ पायी। बल्कि भाव-व्यंजना कहीं अधिक गहराई से उभर सकी है। इस दृष्टि से त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध, विद्याविलास पवाड़ा, नाटक समयसार, चेतनकर्मचरित, मधु बिन्दुक चौपई, उपशम पच्चीसिका, परमहंस चौपई, मुक्तिरमणी चूनड़ी, चेतन पुद्गल धमाल, मोहविवेक युद्ध आदि रचनायें महत्त्वपूर्ण है। रूपकों के माध्यम से विवाहलउ भी बड़े सरस रचे गये हैं।

इन रूपक काव्यों में दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। नाटक समयसार इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कवि बनारसीदास ने रूपक के माध्यम से मिथ्यादृष्टि जीव की स्थिति का कितना सुन्दर चित्रण किया है यह देखते ही बनता है -

काया चित्रसारी मैं करम परजंक मारी,
माया की सवारी सेज चादरि कल्पना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियै,
मोह की मोर यहै लोचन को ढपना।।
उदै बल जोर यहै स्वास की सबद घोर,
विषै-सुख कारज की दौर यहै त्रसना।
ऐसी मूढ़ दसा मैं मगन रहै तिहूँकाल,
धावै भ्रम जाल मै न पावै रूप अपना।।१४।।

इसी प्रकार 'मधुबिन्दुक चौपाई' में कवि भगवतीदास ने रूपक के माध्यम संसार का सुन्दर चित्रण किया है :-

यह संसार महावन जान। तामहिं भयभ्रम कूप समान।।
गज जिम काल फिरत निशदीस। तिहं पकरन कहुँ विस्वावीस।।
वट की जटा लटकि जो रही। सो आयुर्दा जिनवर कही।।
तिहँ जर काटत मूसा दोय। दिन अरु रैन लखहु तुम सोय।।
मांखी चूंटत ताहि शरीर। सो बहु रोगादिक की पीर।।
अजगर पस्यो कूप के बीच। सो बहु रोगादिक की पीर।।
अजगर पस्यो कूप के बीच। सो निगोद सबतैं गति बीच।।
याकी कछु मरजादा नाहिं। काल अनादि रहै इह माहिं।।
तातैं भिन्न कही इहि ठौर। चहुँगति महितैं भिन्न न और।।
चहुँदिश चारहु महाभुजंग। सो गति चार कही सखंग।।
मधु की बून्द विषै सुख जान। जिहँ सुख काज रह्यौ क्तिमान।।
ज्यों नर त्यों विषयाश्रित जीव। इह विधि संकट सहै सदीव।।
विद्याधर तहँ सुगुरु समान। दे उपदेश सुनावत ज्ञान।।

इस प्रकार रूपक काव्य आध्यात्मिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान करते हैं। साधकों ने आध्यात्मिक साधनों में प्रयुक्त विविध तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूपकों में खोजा है और उनके माध्यम से चिन्तन की गहराई में पहुंचे हैं। इससे साधना में निखार आ गया है। रूपकों के प्रयोग के कारण भाषा में सरसता और आलंकारिकता स्वभावतः अभिव्यंजित हुई है।

७. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य

हिन्दी जैन साहित्य मूलत: अध्यात्म और भक्तिपरक है। उसमें श्रद्धा, ज्ञान और आचार, तीनों का समन्वय है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों की भक्ति में साधक कवि सम्यक् साधना पथ पर चलता है और साध्य की प्राप्ति कर लेता है। इस सम्यक् साधन और साध्य की अनुभूति कवियें के निम्नांकित साहित्य में विविध प्रका र से हुई है।

१. जैन कवियों ने जैन सिद्धान्तों का विवेचन कहीं-कहीं गद्य में न कर पद्य में किया है। वहाँ प्राय: काव्य गौण हो गया है और तत्त्व-विवेचन मुख्य। उदाहरणत: भ.रत्नकीर्ति के शिष्य सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, यशोधर का तत्त्वसारदूहा, वीरचन्द की संबोधसत्ताणु भावना आदि। इन्हें हम आध्यात्मिक काव्य कह सकते हैं।

२. स्तवन जैन कवियों का प्रिय विषय रहा है। भक्ति के क्षेत्र में वे किसी से कम नहीं रहे। इन कवियों और साधकों की आराध्य के प्रति व्यक्त निष्काम भक्ति है। उन्होंने पंचपरमेष्ठियों की भक्ति में स्तोत्र, स्तुति, विनती, धूल आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं। पंचकल्याणक स्तोत्र, पंचसतोत्र आदि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध है। इन रचनाओं में मात्र स्तुति ही नहीं, प्रत्युत वहां जैन सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन भी निबद्ध है।

३. चौपाई, जयमाल, पूजा आदि जैसी रचनाओं में भी भक्ति के तत्त्व निहित हैं। दोहा और चौपाई अपभ्रंश साहित्य की देन है। ज्ञानपंचमी चौपाई, सिद्धान्त चौपाई, ढोला मारु चौपाई, कुमति

विध्वंस चौपाई जैसी चौपाईयां जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं। यहां एक ओर जहां सिद्धान्त की प्रस्तुति होती है दूसरी और ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन भी। मूलदेव चौपाई इसका उदाहरण है।

४. पूजा साहित्य जैन कवियों का अधिक है। पंचपरमेष्ठियों की पूजा, पंचम दशलक्षण, सोलहकारण, निर्दोषसप्तमीव्रत आदिव्रत सम्बन्धी पूजा, देवगुरु-शास्त्रपूजा, जयमाल आदि अनेक प्रकार की भक्तिपरक रचनायें मिलती हैं। द्यानतराय का पूजा साहित्य विशेष लोकप्रिय हुआ है।

५. चांचर, होली, फागु, यद्यपि लोकोत्सवपरक काव्य रूप है पर उनमें जैन कवियों ने बड़े ही सरस ढंग से आध्यात्मिक विवेचन किया है। चांचर या चर्चरी में स्त्री-पुरुष हाथों में छोटे-छोटे डण्डे लेकर टोली नृत्य करते हैं। रास में भी लगभग यही होता है। हिण्डोलना होली और फागु में तो कवियों ने आध्यात्मिकता का सुन्दर पुट दिया है। कहीं-कहीं सुन्दर रूपक तत्त्व भी मिलता है।

६. वेलिकाव्य राजस्थान की परम्परा से गुंथा हुआ है। वहां चारण कवियों ने इसका उपयोग किया है। बाद में वेलि काव्य का सम्बन्ध भक्ति काव्य से हो गया। जैन कवियों ने इन वेलि काव्यों में भक्ति तत्त्व विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया है।

७. संख्यात्मक और वर्णनात्मक साहित्य का भी सृजन हुआ है। छन्द संख्या के आधार पर काव्य का नामकरण कर दिया जाना उस समय एक सर्वसाधारण प्रथा थी, जैसे मदनशतक, नामवावनी, समकित वत्तीसी आदि।

८. बारहमासा यद्यपि ऋतुपरक गीत है पर जैन कवियों ने इसे आध्यात्मिक सा बना लिया है। नेमिनाथ के वियोग में राजलु के बारहमास कैसे व्यतीत होते, इसका कल्पनाजन्य चित्रण बारहमासों का मुख्य विषय रहा है। पर साथ ही अध्यात्म बारहमासा, समुति-कुमति बारहमासा आदि जैसी रचनायें भी उपलब्ध होती हैं।

८. आध्यात्मिक काव्य

कतिपय आध्यात्मिक काव्य यहाँ उल्लेखनीय हैं - रत्नकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार (सं १४५०), महनन्दि का पाहुड़ दोहा (सं १६००), ब्रह्मगुलाल की त्रेपनक्रिया (सं १६६५), बनारसीदास का नाटक समयसार (सं १६३०) और बनारसीविलास, मनोहरदास की धर्म परीक्षा (सं १७०५), भगवतीदास का ब्रह्म विलास (सं १७५५), विनयविजय का विनयविलास (सं १७३९), द्यानतराय की संबोधपंचासिका तथा धर्मविलास (सं १७८०), भूधर विलास का भूधरविलास, दीपचंद शाह के अनुभव प्रकाश आदि (सं १७८१), देवीदास का परमानन्द विलास और पदपंकत (सं १८१२), टोडरमल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी (सं १८११), वुधजन का बुधजनविलास, पं. भागचन्द की उपदेश सिद्धान्त माला (सं १९०५), छत्रपत का मनमोहन पंचशती सं. १९०५ आदि।

जयसागर (सं. १५८०-१६५५) का चुनडी गीत एक रूपक काव्य है जिसमें नेमिनाथ के वन चले जाने पर राजुल ने चारित्ररूपी चूनड़ी को जिस प्रकार धारण किया, उसका वर्णन है। वह चुनड़ी नवरंगी थी। गुणों का रंग, जिनवाणी का रस, तप का तेज मिलाकर वह चूनड़ी रंगी गई। इसी चूनड़ी को ओढ़कर वह स्वर्ग गई।

चित चुनड़ी ए जे धर से मनवंछित नेम सुख कर से,
संसार सागर ते तरसे, पुण्यरत्न नो भंडार भरसे।
सुरि रत्नकीर्ति जसकारी, शुभ धर्मराशि गुणधारी,
नरनारि चुनड़ी गावें ब्रह्मजयसागर कहें भावें।

जिनराजसूरि के वैराग्यगीत की कुछ पंक्तियां देखिए -

सुणि वेहेनी पीउडो परदेसी आज कइ कालि चलेसि रे,
कहो कुण मोरी सार करेली, छिन छिन विरह दहेसी रे।
विलुद्धो अरु मदमातो काल न जाण्यो जातो रे।

अचिं प्रीयाणो आव्यो तातो रही न सके रंग रातो रे। सुण० बाट विशम कोइ संग न आवइ प्रिउ अकेलो जावे रे, विणु स्वारथ कहो कुण पहोचावे, आप कीया फल पावेइ रे। सुण० (जैन गुर्जर कविओ भाग ३ पृ० ३७५ (द्वितीय संस्करण)

त्रिभुवनचन्द्र के अनित्यपंचाशक (सं. १६५०) में छप्पक और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है जिनमें वैराग्य और अध्यात्म के भाव कूट-कूट कर भरे हुए हैं। कुछ पंक्तियां देखिए -

जहाँ है संयोग तहां होत है वियोग सही,
जहाँ है जनम तहाँ मरण को वास है।
संपति विपति दोऊ एक ही भवन दासी,
जहाँ वसै सुष तहाँ दुष को विलास है।
जगत में बार-बार फिरे नाना परकार,
करम अवस्था झूठी थिरता की आस है।
नट कैसे भेष और और रूप होहिं तातैं,
हरष न सोग ग्याता सहज उदास है।

चन्द्रशतक भी कवि की प्रौढ रचना है जिसमें आध्यात्मिक भाव गहराई से उभरा हुआ है। एक उद्धरण देखिए -

गुन सदा गुनी मांहि, गुन गुनी भिन्न नाहिं,
भिन्नतो विभावता स्वभाव सदा देखिये।
सोई है स्वरूप आप, आप सों न है मिउाप,
मोह के अभाव में स्वभाव शुद्ध देखिये।
छहो द्रव्य सासते, अनादि के ही भिन्न-भिन्न,
आपने स्वभाव सदा ऐसी विधि लेखिये।
पांच जड़ रूप भूप चेतन सरूप एक,
जानपनों सारा चन्द्र माथे यो विसेखिये।

(डा० प्रेमसागर जैन हिन्दी जैनभक्ति काव्य एवं कवि पृ० १२८-१३०।

धर्महंस (सं. १५८०-१६१६) की संयमरत्नसूरि स्तुति में संयमहीन साधु के सम्बन्ध में बहुत अच्छा लिखा है -

नवि सोभइ जिम हाथी ओ रे, दंत बिना उत्तंग,
रूप वलिं करी आगलु रे, गति बिना तुरंग।
चन्द्र बिना जिम रातडी रे, गंध बिना जिम फूल।
मुनिवर चरित्रहीन तिम, नवि सोभइ गुणचंग,
सर्वविरति तिणि सोहती, पालि मनि जिरंग।

(जैन ऐतिहासिक काव्य संचय (सं० मुनि जिनविजय) रचना क्रम सं० २४

संवाद भी एक प्राचीन विधा रही है जसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान किया जाता था। नरपति (१६वीं शती) का दंतजिव्हा संवाद, सहज सुन्दर (सं १५७२) का आंख-कान संवाद, यौवन जरा संवाद जैसी आकर्षक ऐसी सरस रचनाएँ हैं जिनमें दो इन्द्रियों में संवाद होता है जिनकी परिणत अध्यात्म में होती है। अन्य रचनाओं में रावण मन्दोदरी संवाद (सं

१५६२), मोती कम्पासिया संवाद, उद्यम कर्म संवाद, समकितशील संवाद, केसिगोतम संवाद, मनज्ञान संग्राम, सुमति-कुमति का झगड़ा, अंजना सुन्दरी संवाद उद्यम कर्म संवाद, कपणनारी संवाद, पंचेन्द्रिय संवाद, रावण मन्दोदरी संवाद, ज्ञान दर्शन चारित्र संवाद, जसवंतसूरि का लोचन काजल संवाद (१७ वीं शती) आदि बीसों रचनाएँ हैं जिनमें रहस्यात्मकता के तत्त्व इतने अधिक मुखरित हुए हैं कि संवाद गौण हो गये हैं।

इन आध्यात्मिक काव्यों में कवियों ने जैन सिद्धान्तों को सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में एक और जहाँ दार्शनिक छटा दिखाई देती है वहीं काव्यात्मक भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय भी मिलता है। विलास काव्य इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। कवि बनारसीदास ने 'परमार्थहिंडोलना' में आत्मतत्त्व का विवेचन काव्यात्मक शैली में चित्रित किया है -

सहज हिंडना हरख हिडोलना, झुकत चेतनराव।
जहां धर्म कर्म संवेग उपजत, रस स्वभाव ।।
जहं सुमन रूप अनूप मंदिर, सूरुचि भूमि सुरंग।
तहं ज्ञान दर्शन खंभ अविचल, चरन आड अभंग।।
मरुवा सुगुन परजाय विचरन, भौंर विमल विवेक।
व्यवहार निश्चय नय सुदण्डी, सुमति पटली एक ।।१।।

कवि भगवतीदास ने ब्रह्मविलास की शतअष्टोत्तरी में विशुद्ध आत्मा कर्मो के कारण किस प्रकार अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है इसका सरस चित्रण खींचा है -

कायासी जु नगरी में चितानन्द राज करै,
मचयासी जु रानी पै मगन बहु भयौ है।

मोहसो है फोजदार क्रोध सो है कौतवार,
लोभ सो वजीर जहां लूटिवे को रह्यो है।।
उदैको जु काजी मानै, मान को अदल जानै,
कामसेवा कानवीस आइ वाको कह्यो है।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूल गयौ,
सुधि जब आई तवै ज्ञान आय गह्यो है।।२९।।

भेदविज्ञान के महत्त्व को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया है वह स्पृहणीय है -

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढै,
पावक कनक काढि दाहत उपलकौं।
पंक के गरभ मैं ज्यौं डारिये कुतलफल,
नीर करै उज्ज्वल नितारि डारै मचलकौ।।
दधि कौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौ,
राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौ।
तैसें ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पदल कौ।।१।।[३]

९. स्तवन पूजा और जयमाल साहित्य

आध्यात्मिक सावन पूजा और जयमाल का अपना महत्त्व है। साधक रहस्य की प्राप्ति के लिए इष्टदेव की स्तुति और पूजा करता है। भक्ति के सरस प्रवाह में उसके रागादिक विकार प्रशान्त होने लगते हैं और साधक शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की और बढने लगता है। पंचपरमेष्ठियों का स्तवन, तीर्थकरों की पूजा और उनकी जयमाला तथा आरती साधना का पथ निर्माण करते हैं। इस साहित्य विधा की

सीमंधर स्वामी स्तवन, मिथ्या दुक्कण विनती गर्भविचार स्तोत्र, गजानन्द पंचासिका, पंच स्तोत्र,सम्मेदशिखिर स्तवन,जैन चौबीसी, विनती संग्रह, नयनिक्षेप स्तवन आदि शताधिक रचनाएं हैं जो रहस्य भावना की अभिव्यक्ति में अन्यतम साधन कही जा सकती हैं । भक्तिभाव से ओतप्रोत होना इनकी स्वाभाविकता है।

उपर्युक्त स्तवन साहित्य में कुछ पदों का रसास्वादन कीजिए। कवि भूदरदास की जिनेन्द्रस्तुति अन्तः करण को गहराई से छूती हुई निकल रही है -

अहो जगत गुरु देव सुनिए हमारी ।
तुम प्रभु दीनदयाल, मैं दुखिया संसारी ।।
इस भव वन के मांहि , काल अनादि गमायो ।
भ्रम्यो चतुर्गति माहिं सुख नहिं दुख बहु पाया ।।
कर्म महारिपु जोर एक न काम करै जी ।
मन माने दुख देहिं काहू सों नाहिं डरै जी ।।

इसी प्रकार द्यानतराय का स्वयंभू स्तोत्र भी उल्लेखनीय है जिसमें तीर्थकरों की महिमा का गान है। इसमें पार्श्वनाथ और वर्द्धमान की महिमा के पद्य दृष्टव्य हैं

दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार ।
गयो कमठ शठ मुख कर श्याम ,नमों मेरु सम पारस स्वाम ।।
भवसागर तें जीव अपार, धरम पोतमें धरे निहार ।
डूबत और काढे दया विचार वर्द्धमान बंदों बहु बार ।।

पूजा और जयमाला साहित्य में भी कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं जो रहस्यात्मक तत्त्व की गहनता को समझने में सहायक बनते हैं। अर्जुनदास, अजयराज पाटनी, द्यानतराय, विश्वभूषण,पांडे जिनदास

आदि अनेक कवि हुए है जिन्होंने संगीत साहित्य लिखा है। देखिए कविवर द्यानतराय की सोलहकारण पूजा में कितनी भाव विभोरता है -

कंचन झारी निर्मल नीर, पूजो जिनवर गुन गभीर ।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो ।।
दरशविशुद्ध भावना भाय सोलह तीर्थकर पद पाय ।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो ।।

इसी पकार भगवतीदास ने ब्रह्मविलास में परमात्मा की जयमाला में ब्रह्म रूप परमात्मा का चित्रण किया है।

एक हि ब्रह्म असंख्यप्रदेश । गुण अनंत चेतनता भेष ।
शक्ति अनंत लसै जिह माहि। जासम और दूसरा नाहिं ।।
दर्शन ज्ञान रूप व्यवहार । निश्चय सिद्ध समान निहार।
नहिं करता नहिं करि है कोय। सदा सर्वदा अविचल सोय।।

चडपई काव्यों में ज्ञानपंचमी, बलिभद्र, ढोलामारु, कुमतिविध्वंस, विवेक, मलसुन्दरी आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं जो भाषा और विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त मालदेव की पुरन्दर चौ., सुरसुन्दरी चौ., वीरांगद चौ., देवदत्त चौ. आदि,रायमल की चन्द्रगुप्त चौ., साधुकीर्ति की नमिराज चौ., सहजकीर्ति की हरिश्चन्द्र चौ., नाहर जटमल की प्रेमविलास चौ., टीकम की चतुर्दश चौ., जिनहर्ष की ऋषिदत्ता चौ., यति रामचन्द्र की मूलदेव चौ., लक्ष्मी बल्लभ की रत्नहास चउपई भी सरसता की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

१०. चूनड़ी काव्य

चूनड़ी काव्य में रूपक तत्त्व अधिक गर्भित रहता है। इसी के माध्यम से जैनधर्म के प्रमुख तत्त्वों को प्रस्तुत किया जाता है।

विनयचन्द की चूनड़ी (सं १५७६), साधुकीर्ति की चूनड़ी (सं १६४८), भगवतीदास की मुकति रमणी चूनड़ी (सं १६८०), चन्द्रकीर्ति की चारित्र चूनड़ी (सं १६५५) आदि काव्य इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। विनयचन्द्र की चूनड़ी में पत्नी पति से ऐसी चूनड़ी चाहती है जो उसे भव समुद्र से पार करा सके -[४]

११. फागु, बेलि, बारहमासो और विवाहलो साहित्य

फागु में भी कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक संत-सा दिखाई देता है। इसमें कवि तीर्थंकर या आचार्य के प्रति समर्पित होकर भक्तिरस को उड़ेलता है। मलधारी राजशेखर सूरि की नेमिचन्द फागु (सं १४०५), हलराज की स्थूलिभद्र फागु (सं १४०९), सकलकीर्ति की शान्तिनाथ फागु (सं १४८०), सोमसुन्दर सूरि की नेमिनाथ वरस फागु (सं १४५०), ज्ञानभूषण की आदीश्वर फागु (सं १५६०), मालदेव की स्थूलभद्र फागु (सं १६१२), वाचक कनक सोम की मंगल कलश फागु (सं १६४९), रत्नकीर्ति, धनदेवगर्णा, समंधर, रत्नमण्डल, रायमल, अंचलकीर्ति, विद्याभूषण आदि कवियों की नेमिनाथ तीर्थंकर पर आधारित फागु रचनाएं काव्य की नयी विधा को प्रस्तुत करती है जिसमें सरसता, सहजता और समरसता का दर्शन होता है। नेमिनाथ और राजुल के विवाह का वर्णन करते समय कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक संतसा दिखाई देता है। इसी तरह हेमविमल सूरि फागु (सं १५५४), पार्श्वनाथ फागु (सं १५५८), वसन्त फागु, सुरंगानिध नेमि फागु, अध्यात्म फागु आदि शताधिक फागु रचनाएँ आध्यात्मिकता से जुड़ी हुई हैं।

खरतरगच्छ के आचार्य जिनपद्मसूरि (सं. १४००) की सिरिथूलिभद्दफागु बडी सुन्दर रचना है। काव्यत्व की दृष्टि से सरस और मधुर हैं। उन्होंने पहले तो कोशा के अंग-प्रत्यंग की सुषमा का बड़ा आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया। कवि लिखता है -

मयण खग्ग जिम लहलहंत जसु वेणी दंडो।
सरलउ तरलउ सामलउ रोमावलि दंडो।
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का।
कुसुम वाणि निय अमिथ कुंभ किर थायणि मुक्का ।।१२।।१

(प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह क्रम सं० ५, एवम्)

और फिर कोशा द्वारा नाना प्रकार के स्थूलभद्र को रिझाने का प्रयत्न करने पर भी स्थूलभद्र का अडिग रहने का चित्र खींचना है। उनकी संयम साधना का एक और मार्मिक चित्रण देखिए -

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थर गिव्हेइ।
तिम संजय सिरि परिन एवि बहुधम्म समुज्जल,
आलिंगइ तुह कोस कवनु पर संत महाबल।

इनके अतिरिक्त फागुलमास वर्णन सिद्धिविलास (सं १७६३), अध्यात्म फागु, लक्ष्मीबल्लभ फागु रचनाओं के साथही धमाल-संज्ञक रचनाएँ भी जैन कवियों की मिलती है जिन्हें हिन्दी में धमार कहा जाता है। अष्टछाप के कवि नन्ददास और गोविन्ददास आदिने वसंत और टोली पदों की रचना धमार नाम से ही की है। लगभग १५-२० ऐसी ही धमार रचनाएँ मिलती हैं जिनमें जिन समुद्रसूरि की नेमि होरी रचना विशेष उल्लेखनीय है।

बेलि साहित्य में वाछा की चहुंगति वेलि (सं १५२० ई०),

सकलकीर्ति (१६वीं शताब्दी) की कर्पूरकथ बेलि, महारक वीरचंद की जम्बूस्वामी बेलि (सं १६९०), ठकुरसी की पंचेन्द्रिय बेलि (सं १५७८), मल्लदास की क्रोधबेलि (सं १५८८), हर्षकीर्ति की पंचगति बेलि (सं १६८३), ब्रह्म जीवंधर की गुणणा बेलि (१६वीं शताब्दी), अभयनंदि की हरियाल बेलि (सं १६३०), कल्याणकीर्ति की लघु-बाहुबली बेलि (सं १६९२), लाखाचरण की कृष्णरुक्मणि बेलि टब्बाटीका (सं १६३८), तथा ६वीं शती के वीरचन्द, देवानंदि, शांतिदास, धर्मदास की क्रमशः सुदर्शन बलि, जम्बूस्वामिनी बेलि, बाहुबलिनी बेलि, भरत बेलि, लघुबाहुबलि बेलि, गुरुबेलि और १७वीं शती के ब्रह्मजयसागर की मल्लिदासिनी बेलि व साह लोहठकी षड्लेश्याबेलि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जिसमें भक्त कवियों ने अपने सरस भावों को गुनगुनाती भाषा में उतारने का सफल प्रयत्न किया है।

बारहमासा भी मध्यकाल की एक विधा रही है जिसमें कविअपने श्रद्धास्पद देव या आचार्य के बारहमासों की दिनचर्या का विधिवत् आख्यान करता है। ऐसी रचनाओं में हीरानन्द सूरि का स्थूलिभद्र बारहमासा और नेमिनाथ बारहमासा (१५वीं शती) डूंगर का नेमिनाथ फाग के नाम से बारहमासा (सं १५३५) ब्रह्मबूचराज का नेमीश्वर, बारहमासा (सं १५८१), रत्नकीर्ति का नेमि बारहमासा (सं १६१४), जिनहर्ष का नेमिराजमति बारहमासा (सं १७१३), बल्लभ का नेमिराजुल बारहमासा (सं १७२७), विनोदीलाल अग्रवाल का नेमिराजुल बारहमासा (सं १७४९) सिद्धिविलास का फागुणमास वर्णन (सं १७६३), भवानीदासके अध्यात्म बारहमास (सं १७८१),

सुमति-कुमति-कुमति बारहमास, विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमास (१८वीं शती) आदि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। ये रचनाएं अध्यात्म और भक्तिपरक हैं। इसी तरह की और भी शताधिक रचनाएं है जो रहस्य साधना की पावन सरिता को प्रवाहित कर रही है। स्वतन्त्र रूप से बारहमासा १६वीं शती के उत्तरार्ध से अधिक मिलते हैं।

विवाहलो भी एक विधा रही है। जिसमें साधक कवि ने अपने भक्तिभाव को पिरोया है। इस सन्दर्भ में जिनप्रभसूरि (१४वीं शती) का अंतरंग विवाह, हीरानंदसूरि (१५वीं शती) के अठारहनाता विवाहलो और जम्बूस्वामी विवाहलो, ब्रह्मविनयदेव सूरि (सं. १६१५) का नेमिनाथ विवाहलो, महिमसुन्दर (सं १६६५) का नेमिनाथ विवाहलो, सहजकीर्ति का शांतिनाथ विवाहलउ (सं १६७८), विजय रत्नसूरि का पार्श्वनाथ विवाहलो (सं ८वीं शती) जैसी रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। इन काव्यों में चरित नायकों के विवाह प्रसंगो का वर्णन तो है ही पर कुछ कवियों ने व्रतों के ग्रहण को नारी का रूपक देकर उसका विवाह किसी संयमी व्यक्ति से रचाया है। इस तरह द्रव्य और भाव दोनों विवाह के रूप यहां मिलते हैं। ऐसे काव्यों में उदयनंदि सूरि विवाहला, कीर्तिरत्न सूरि, गुणरत्न सूरि सुमतिसाधु सूरि और हेम विमल सूरि विवाहले हैं।

इसी तरह खरतरगच्छीय सोममूर्ति का जिनेश्वरसूरि संयम श्री विवाह वर्णनारास (सं.`१३३१-३२) की निम्न पंक्तियां देखिये जिसमें बालक अम्बड संसार की असारता का अनुभवकर अपनी माता से आग्रह करता है -

परणिसु संयमसिरि वर नारी भाइ माए मज्झु मणह पियारी;
जासु पसाइण वंछिउ सिज्झए बलवि न संसारमिं पडिज्झए ।।१।।

ब्रह्म जिनदास (१५वीं शती) ने अपेन रूपक काव्य 'परमहंस रास' में शुद्ध स्वभावी आत्मा का चित्रण किया है। यह परमहंस आत्मा माया रूप रमणी के आकर्षण से मोह ग्रसित हो जाता है। चेतना महिषी के द्वारा समझाये जाने पर भी वह मायाजाल से बाहर नहीं निकल पाता। उसका मात्र बहिरात्मा जीव काया नगरी में बच रहता है। माया से मन-पुत्र पैदा होता है। मन की निवृत्ति व प्रवृत्ति रूप दो पत्नियों से क्रमशः विवेक और मोह नामक पुत्रों की उत्पत्ति होती है। ये सभी परमहंस (बहिरात्मा) को कारागार में बन्द कर देते हैं और निवृत्ति तथा विवेक को घर से बाहर कर देते हैं। इधर मोह के शासनकाल में पाप वासनाओं का व्यापार प्रारंभ हो जाता है। मोह की दासी दुर्गति से काम, राग, और द्वेष ये तीन पुत्र तथा हिंसा, घृणा और निद्रा ये तीन पुत्रियाँ होती हैं। विवेक सन्मति से विवाह करता है सम्यक्त्व के खड्ग से मिथ्यात्व को समाप्त करता है। परमहंस आत्मशक्ति को जाग्रत कर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करता हैं।[५] इसी तरह ब्रह्मवूचराज, बनारसीदास आदि के काव्य भी इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति से ओतप्रोत है।

फागु साहित्य में नेमिनाथ फागु (भट्टारक रत्नकीर्ति) यहां उल्लेखनीय है। कवि ने राजुल की सुन्दरता का वर्णन किया है -

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खंजन मीन ।
वासग नीत्पो वेणिइ, मेणिण मधुकर दीन।।

युगल गल दाये शशि, उपमा नासा कीट।
अधर विद्रुम सम उपमा, दंत नू निर्मल नीर।।
चिदुक कमल पर षट्पद, आनन्द करै सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोमीत कम्ब कपोलने बान।।[६]

कुछ फागुओं में अध्यातम का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से बनारसीदास का अध्यातम फाग उल्लेखनीय है जिसमें कविने फाग के सभी अंग प्रत्यंगों का सम्बन्ध अध्यात्म से जोड दिया है -

भवपरणति चाचरित भई हो, अष्टकर्म बन जाल।
अलख अमूरति आतमा हो, खेलै धर्म धमाल।।
नयपंकति चाचरि मिलि हो ज्ञान ध्यान उफताल।
पिचकारी पद साधना हो संवर भाव गुलाल।।[७]

ऐतिहासिक काव्य के साथ ही आध्यात्मिक वेलियाँ भी मिलती हैं। इन आध्यात्मिक वेलियों में 'पंचेन्द्रिय वेलि' विशेष उल्लेखनीय है जिसमें कवि ठाकुरसी ने पंचेन्द्रियविषय वासना के फल को स्पष्ट किया है। स्पर्शेन्द्रिय में आसक्ति का परिणाम है कि हाथी लौह श्रृंखलाओं से बंध जाता है और कीचक, रावण आदि दारुण दुःख पाते हैं।

वन तरुवर फल सउँ फिरि, पय पीवत हु स्वच्छंद।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहै गयन्द।।
बाध्यो पाग संकुल घाले, सो कियो मसकै चाले।
परसण प्ररेहं दुख पायो, तिनि अंकुश धावा धायो।।
परसण रस कीचक पूरयौ, सहि भीम शिलातल चूर्‌यौ।
परसण रस रावण नामइ, वारचौ लंकेसुर रामइ।।
परसण रस शंकर राच्यौ तिय आगे नट ज्यौ नाच्यो।।[८]

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में 'बारहमासा' बहुत लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो निश्चित ही उच्चकोटि के हैं। कवि विनोदीलाल का नेमि-राजुल बारहमासा यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। यहाँ राजुल ने अपने प्रिय नेमि को प्राप्य पौष माह की विविध कठिनाइयों का स्मरण दिलाया है -

पिय पौष में जाड़ौ धनो, बिन सौंढ़ के शीत कैसे भर हो।
कहा ओढेगे शीत लगे जब ही, किधी पातन की धुवनीधर हो।।
तुम्हरो प्रभुजी तन कोमल है, कैसे काम की फौजन सौं लर हौ।
जब आवेगी शीत तरंग सबै, तब देखत ही तिनकौ डर हो।।[९]

१२. संख्यात्मक काव्य

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने संख्यात्मक साहित्य का विपुल परिमाण में सृजन किया है। कहीं यह साहित्य स्तुतिपरक है तो कहीं उपदेश परक, कहीं अध्यात्मक परक है तो कहीं रहस्य भावना परक। इस विधा में समासशैली का उपयोग दृष्टव्य है।

लावण्यसमय का स्थूलभद्र एकवीसो (सं. १५५३), हीरकलश सिंहासनवतीसी (सं. १६३१), समयसुन्दर का दसशील तपभावना संवादशतक (सं. १६६२), दासो का मदनशतक (सं. १६४५), उदयराज की गुणवावनी (सं. १६७६), बनारसीदास की समकितवत्तीसी (सं. १६८१), पांडे रूपचन्द का परमार्थ दोहाशतक, आनन्दघन का आनन्दघन बहत्तरी (सं. १७०५), पाण्डे हेलराज का सितपट चौरासी बोल (सं. १७०९), जिनरंग सूरि की प्रबोधवावनी

(सं. १७३१), रायमल्ल की अध्यात्मवत्तीसी (१७वीं शती), विहारीदास की सम्बोधपंचासिका (सं. १७५८), भूधरदास का जैनशतक (सं. १७८१), बुधजन का चर्चाशतक आदि काव्य अध्यात्मरसता के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त संख्यात्मक साहित्य में से कुछ मनोरम पद्य नीचे उदृधृत हैं। बनारसीदास विरचित ज्ञानवावनी के निम्न पद्य में आत्मज्ञानी की अवस्था और उसके जीवन की गतिविधियों का चित्रण देखते ही बनता है -

ऋतु बरसात नदी नाले सर जोर चढ़ै,
बाढ़ै नहिं मरजाद सागर के फेन की।
नीर के प्रवाह तृण काठवृन्द बहे जात,
चित्रावेले आइ चढ़ै नाहीं कहू गैल की।।
बनारसीदास ऐसे पंचन के परपंच,
रंचक न संक आवै वीर बुद्धि छैल की।
कुछ न अनीत न क्यों प्रीति पर गुण केती,
ऐसी रीति विन रीति अध्यातम शैली।।

इसी प्रकार भैया भगवतीदास ने अनित्यपच्चीसिका के एक पद्य में स्पष्ट किया है कि दुर्लभ नरभव को पाकर सच्चा आत्मबोध न होने से प्राणी भौतिक सुखों में उलझा रहता है।

नर देह हाये कहा, पंडित कहाये कहा,
तीर्थ के न्हाये कहा तटि तो न जैहै रे ।
लच्छि के कमाये कहा, अच्छ के अधाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहैरे ।।

केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जीवन के आये कहा, जराहू न खैहे रे।
भ्रम को विलास कहा, दुर्जन में वास कहा,
आतम प्रकाश विन पीछें पछितैहे रे।।

इसी तरह विनयचन्द्र सूरि (१४ वीं शती) की नेमिनाथ चतुष्पादिका का फाल्गुन वर्णन देखिए जो जायसी के वियोग वर्णन की भांति अत्यन्त मार्मिक बन पडा है -

फागुन वागुणि पन्न पडंति, राजल दुरिक कि तरु रोयँति।
गब्भि भलिवि हउं काइ न मूय, भणइ विहंगल धारणि धूप ।।२३।।

१३. गीति काव्य

हिन्दी का भक्तिकाल भक्ति भावनाओं का युग था। सामाजिक दायित्व के प्रति इतनी प्रतिबद्धता नहीं थी। इस काल के भक्त कवि ईश्वरोन्मुखी अधिक रहे। फलतः आध्यात्मिक रहस्यवाद पनपा, जिस पर स्पष्टतः अपभ्रंश मुक्तक काव्यों का प्रभाव था। यहीं से हिन्दी गीतिकाव्य का विकास हुआ । हिन्दी के पहले गीतिकार मैथिल कवि विद्यापति थे, जिनके काव्य में गीतिकाव्य की लगभग सभी विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। उनके बाद आचार्य वल्लभ और आचार्य विट्ठल ने अष्टछाप की स्थापना की और गीतिकाव्य परम्परा का विकास किया। इन अष्टछाप कवियों के पूर्ववर्ती निर्गुणियाँ संतों (नामदेव, कबीर, नानक, दादू, दयाल, रैदास आदि) पर अपभ्रंश के योगीन्दु और मुनि राम सिंह आदि संत कवियों के मुक्तक काव्यों का प्रभाव देखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि अष्टछाप के कवियों ने

ऋंगार एवं वात्सल्य का उत्कर्ष दिखाया और मधुरा भक्ति के चित्रण में विरहिणी गोपियों के माध्यम से संयोग और विप्रलम्भ की प्राय:सभी दशाओं का वर्णन किया और इसी क्रम में नख-शिख एवं उद्दीपक प्रकृति का विस्तृत विवेचन किया जिस पर थेर-थेरी गाथा तथा प्राकृत अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव दिखाई देता है।

गीति काव्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक साधना से भी है। आध्यात्मिक भावना के बाधक तत्त्वों को दूरकर साधक, साधक तत्त्वों को प्राप्त करता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलत: वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुंच जाता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठती है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्यों में इन विधाओं का विशेष उपयोग हुआ है। उसमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य साधनाओं के दिग्दर्शन होते हैं। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता संवेदनशीलता, स्वसंवेदनता, भेदविज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परम वीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रस्तुत किया है और चिदानन्द चैतन्यमय ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यात्मगम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरंजन, अनक्षर, अशरीरी, गुरुगुसाई, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है। दाम्पत्य मूलक

प्रेम का भी सरल प्रवाह उसकी अभिव्यकित के निर्झर से झरता हुआ दिखाई देता है इन सब तत्त्वों के मिलन से जैन-साधकों का रहस्य परम रहस्य बन जाता है जो गीतिकाव्य की आत्मा है।

गीति काव्य में नामस्मरण और ध्यान का विशेष महत्त्व है। उनसे गेयात्मक तत्त्व में सघनता आती है। इसलिए जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं उन्हें जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाया है। उन्होंने बाह्यसाधन का खंडनकर अन्त:साधना पर बल दिया है। व्यवहार नय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है पर निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो द्यानतराय जी ऐसे सुमिरन को महत्त्व देते हैं जिसमें -

ऐसो सुमरन करिये रे भाई। पवन थंमै मन कितहु न जाई।।
परमेसुर सौं साचौं रहिजै। लोक रंजना भय तजि दीजै।।
यम अरु नियम दोऊ विधि धारौं। आसन प्राणायाम सामरौ।।
प्रत्याहार धारना कीजै। ध्यान समाधि महारस वीजै।।

अनहद को ध्यान की सर्वोच्च अवस्था कहा जा सकता है जहां साधक अन्तरतम में प्रवेश कर राग-द्वेषादिक विकारी भावों से शून्य हो जाता है। वहां शब्द अतीत हो जाते हैं और अन्त में आत्मा का ही भाव शेष रह जाता है। कान भी अपना कार्य करना बंद कर देता है। केवल भ्रमरगुंजन-सा शब्द कानों में गूंजता रहता है।

अनहद सबद सदा सुन रे।। आप ही जानैं और न जानैं,
कान बिना सुनिये धुन रे।। भमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अंतर गति चितवन रे।।

इसीलिए द्यानतराय ने सोऽहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छवास के साथ सदैव "सोऽहं सोऽहं" की ध्वनि होती रहती है और जो सोऽहं के अर्थ को समझकर, अजपा की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं -

सोहं सोहं होत नित, सांसा उसास मझार।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार।।
तीन लोक में सार, घर सिव खेत निवासी।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी।।
जैसा तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं।।

आनंदघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अंत: कारण में अजपा जाप को जगाते हैं वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए संत आनंदघन भी सोऽहं को संसार का सार मानते हैं -

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो।
सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो।।

इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनंद के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश्य भावविभोर हो उठती है -

उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नक्षारेवारी।
झड़ी सदा आनंदघन बरखत, बन मोर एकनतारी।।

१. हिन्दी साहित्य, पृ. १५,

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी जैन साहित्य में गीतिकाव्य का प्रमुख स्थान रहा है। उसमें वैयक्तिक भावात्मक अनुभूति की गहराई, आत्मनिष्ठता, सरसता और संगीतात्मकता आदि तत्त्वों का सन्निवेश सहज ही देखने को मिल जाता है। लावनी, भजन, गीत, पद आदि प्रकार का साहित्य इसके अन्तर्गत आता है। इसमें आध्यात्म, नीति, उपदेश, दर्शन, वैराग्य, भक्ति आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है। कविवर बनारसीदास, बुधजन, द्यानतराय, दौलतराम, भैया भगवतीदास आदि कवियों का गीति साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। जैन गीतिकाव्य सूर, तुलसी, मीरा आदि के पद साहित्य से किसी प्रकार कम नहीं। भक्ति सम्बन्धी पदो में सूर, तुलसी के समान दास्य-सख्य भाव, दीनता, पश्चात्ताप आदि भावों का सुन्दर और सरस चित्रण है। जैन कवियों के आराध्य राम के समान शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित या कृष्ण के समान शक्ति सौन्दर्य से युक्त नहीं है। वे तो पूर्ण वीतरागी है। अतः भक्त न उनसे कुछ अभीष्ट की कामना कर सकता है और न उसकी आकांक्षापूर्ण ही हो सकती है। इसके लिए तो उसे ही सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन करना होगा। अतः यहां अभिव्यक्त भक्ति निष्काम अहेतुक भक्ति हैं। भावावेश में कुछ कवियों ने अवश्य उनका पतितपावन रूप और उलाहना आदि से सम्बद्ध पद लिखे हैं।

हिन्दी जैन कवियों ने गीतिकाव्य को एक नई दिशा दी है। उसे उन्होंने अध्यात्मिक साधना से जोड दिया है। इसलिए उसमें सघनता, गंभीरता और सचेतनता अधिक दिखाई देती है। मध्यकालीन हिन्दी

जैन कवियों में ये गीतात्मक तत्त्व अधिक विकसित हुए हैं। बनारसीदास, जिनप्रभसूरि, आनन्दतिलक, वृन्दावन, उदयराज, जिनराजसूरि, भूधरदास, द्यानतराय, देवीदास, भगवतीदास, विनयसागर, अनन्दघन, यशोविजय आदि कवि इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं -

म्हारे प्रगटे देव निरंजन (बनारसीदास)
पिया तुम निठुर भये क्यूँ सेसे (आनंदधन)
रे मन भज-भज दीनदयाल (द्यानतराय)
निजपुर में आज मची होरी (बुद्धजन)
मेरी मन ऐसी खेलत होरी (दौलतराम)
भगवंत भजन क्यों भूला रे (भूधरदास)
मुनि ठगनी माया, तैं सब जग ठग खया (भूधरदास)
रे मन! कर सदा संतोष (बनारसीदास)
सतसंगति जन में सुखदायी (द्यानतराय)

इन सभी विशेषताओं को हम शताधिक हिन्दी जैन पद और गीतिकाव्यों में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ-णमोकारफलगीत, मुक्ताफलगीत, नेमीश्वरगीत, (भ. सकलकीर्ति, सं. १४४३-१४९९), बारहव्रतगीत- जीवपड़ागीत-जिणन्दगीत (ब्रह्मजिनदास, सं. १४४५ से १५२५), नेमीश्वरगीत (चतरुमल, सं. १५७१), त्रेपनक्रियागीत (भ. भीमसेन, सं. १५२०), विजयकीर्तिगीत, टंडाणागीतनेमिनाथ वसंत (ब्रह्मबूचराज, सं. १५९१), नेमिनाथगीत-मल्लनाथगीत (यशोधर, सं. १५८१), अष्टान्हिका गीत और पद (शुभचन्द्र), सीमंधर स्वामीगीत (भ. वीरचन्द्र, सं. १५८०), वसन्तविलासगीत (सुमतिकीर्ति, सं. १६२६), पंवसहेली-पंथिगीत-उदरगीत (छीहल, सं. १५७४), पदसंग्रह (जिनदास

पांडे), फुटकर शताधिक गीत (समयसुन्दर, सं. १६४१-१७००), पूज्यवाहनगीत (कुशललाभ), गीतसाहित्य (ब्रह्मसागर, सं. १५८०-१६५५), कुमुदचन्द्र का गीतसाहित्य सं. १६४५-१६८७), आराधनागीत वादिचन्द्र (सं. १६५१), जिनराजसूरिगीत (सहजकीर्ति, सं. १६६२), नेमिनाथपद (हेमविजय, सं. १६६६), नेमिनाथराजुल आदि गीत (हर्षकीर्ति, सं. १६८३), मुनि अभयचन्द्र का गीत साहित्य (सं. १६८५-१७२१), ब्रह्मधर्मरुचि का गीत साहित्य (१६ वीं), संयम सागर का गीत साहित्य, (सं. १६वीं शती), कनककीर्ति का गीत साहित्य (१६वीं शती), जिनहर्ष का गीत साहित्य (१७वीं शती), लगतराम की जैन पदावली (सं. १७२४), किशनसिंह का गीत साहित्य (सं. १७७१), भूधरदास का पद संग्रह, भवानीदास का गीत साहित्य (सं. १७९१), माणिकचंद का पद साहित्य (सं. १८००), नवलराम का पद साहित्य (सं. १८२५), ऐसे हजारों पद हिन्दी जैन कवियों के यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनमें आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता के तत्त्व गुंजित हो रहे हैं।

यह काव्य विधा व्यष्टि और समष्टि चेतना का समहित किए हुए है। आध्यात्मिक विश्लेषण को ध्यानात्मकता के साथ जोड़कर कवियों ने सुन्दर और सरस भावबोध की सर्जना प्रस्तुत की है। आत्मा से परमात्मा तक की आयासमयी दीर्घ यात्रा में पूजा, उपासना, उलाहना, दास्यभक्ति, शरणागति, दाम्पत्यभाव, फाग, होली, वात्सल्यभाव, मन की चंचलता, स्नेहादिक विकारभावों की परिणति, सत्संगति, संसार की असारता, आत्मसंबोधन, भेदविज्ञान, आध्यात्मिक विवाह, चित्तशुद्धि आदि विषयों पर हिन्दी जैन कवियों ने जिस मार्मिकता और तलस्पर्शिता के साथ शब्दों में अपने भाव गूँथे हैं वे काव्य की दृष्टि से तो उत्तम हैं ही पर रहस्य साधना के क्षेत्र में भी वे अनुपमता लिये हुए हैं।

उपर्युक्त गीत अथवा पद मे से कतिपय पदों की सरसता उल्लेखनीय है। अधिकांश पदों में आवश्यक सभी तत्त्व निहित हैं। संगीतात्मकता की दृष्टि से भैया भगवतीदास का निम्न पद कितना मधुर है। इसमें शरीर को परदेशी के रूप में दर्शाकर यथार्थता का चित्रण बडी कुशलता से किया है-

कहा परदेशी को पतियारो ।
मनमाने तब चलै पंथ को, सांझ गिनै न सकारौ ।
सबै कुटुम्ब छांड़ इतही पुनि, त्याग चलै तन प्यारौ।
दूर दिशावर चलत आप ही, कौउ न रोकन हारौ।।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अन्त होयगा न्यारौ।
धन सौं राचि धरम सौ भूलत, झूलत मोह मंझारौ।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायों नहिं भव पारौ।।
सांचै सुखसो विमुख होत हो, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे भइया, आप ही आप संभारौ।।

इसी प्रकार आत्माभिव्यक्ति का तत्त्व कवि दौलतराम के निम्न पद में अभिव्यंजित है -

मेरौ मन ऐसी खेलत होरी । मन मिरदंगसाज करि तयारी,
तन को तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी।
राग पांचों पद कोरी।।मेरो मन।।
समकितिरूप नीर भी झारी, करुना केशर घौरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ कर माहिं सम्होरी।
इन्द्री पांचौ सखि बोरी। मेरो मन ।।२।।

कविवर बनारसीदास के इस पद में भाव और अभिव्यंजना का कितना समन्वय है -

चेतन तू तिहूँकाल अकेला। नदी नाव संजोग मिलै ज्यौ,
त्यौं कुटुम्ब का मेला ।।चेतना।।
यह संसार अपार रूप सब, ज्यौ पट पेखन खेला।
सुख सम्पत्ति शरीर जल बुदबुद,
विनशत नाहीं बेला।।चेतन।।
मोह मगन अति मगन भूलत, परी तोहि गलजेला।
मैं मैं करत चहूँ गति डोलत, बोलत जैसे छेला ।।चेतन।।
कहत बनारसि मिथ्यामत तजि, होय सगुरु का चेला।
तास वचन परतीत, आनयि, होइ राहज सुरझेला।।चेतना।।

उपाध्याय यशोविजय के निम्न गीति पद को देखिए जिसे भक्तिभाव के समर्थ कवि सूर, तुलसी, नन्ददास, मीरा, और सुन्दरदास आदि के पदों के समकक्ष रखा जा सकता है -

भजन बिनु जीवित जैसे प्रेत,
मलिन मन्द मति घर-घर डोलत, उदर भरन के हेत,
दुर्मुख वचन बकत नित निन्दा, सज्जनसकलदुख देत।
कबहुँ पापको पावत पैसो, गाढ़े धूरि में देत,
गुरु ब्रह्मन अबुत जन सज्जन, जात न कवण निकेत।
सेवा नहीं प्रभुतेरी कबहुं, भुवन नील को खेत।

(सं० मुनि श्री कीर्तियश विजय - गुर्जरसाहित्यसंग्रह - १, बम्बई)

इस संदर्भ में जैनेतर गीति काव्य परम्परा पर जैन गीति परम्परा का प्रभाव भी अन्वेषणीय है। जैन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी गीतिकाव्यों ने तो जैनेतर गीतिकाव्यों को प्रभावित किया ही है, तमिल और कन्नड जैसी प्राचीन दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी जैन कवियों और आचार्यो ने प्रभूत मात्रा में गीतिकाव्यों का सृजन किया है और उनका उनपर प्रभाव भी पड़ा है।

आधुनिक काल में गीतिकाव्य का और भी विकास हुआ। व्यक्ति की परिस्थितियां बदलती गईं और वह सांसारिकता में फंसता गया। फिर भी संस्कारों ने उसे स्वयं को खोजने के लिए विवश कर दिया। भावों के संसार ने आध्यात्मिकता की ओर खींचकर उसे सत्य पर प्रतिष्ठित होने का आमन्त्रण दिया। जैन कवियों ने इस आमन्त्रण को अपने काव्य-सृजन में उतारा। शताधिक जैन कवियों ने गीतिकाव्य लिखे। आधुनिक जैनकवि, अनेकान्त काव्य संग्रह और आधुनिक जैन कवि: चेतना के स्वर नाम से प्रकाशित संकलन इसके उदाहरण हैं। युगल किशोर मुख्तार और भागचन्द्र भास्कर ने मेरी भावना लिखकर गीतिकाव्य को नया रूप दिया। नरेन्द्र भानावत, शान्ता जैन, मिश्रीलाल जैन, जुगलकिशोर युगल, सरोज कुमार जैन, कल्याणकुमार शशि, रूपवती किरण, महेन्द्र सागर प्रचण्डिया आदि शताधिक कवियों ने इस क्षेत्र में नये मानदण्ड स्थापित किये हैं। चूंकि आधुनिक काल को हमने अपनी अध्ययन परिधि से बाहर रखा है, इसलिए हम इस पर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

१४. प्रकीर्णक काव्य

प्रकीर्णक काव्य में यहां हमने लाक्षणिक साहित्य, कोश, गजल, गुर्वावली आत्मकथा आदि विधाओं को अन्तर्भूत किया है। इन विधाओं की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि अध्यात्म और भक्ति की ओर ही आकर्षित नहीं हुए बल्कि उन्होंने छन्द, अलंकार, आत्मकथा, इतिहास आदि से सम्बद्ध साहित्य की सर्जना में भी अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

लाक्षणिक साहित्य में पिंगल शिरोमणि, छन्दोविद्या, छन्द मालिका, रसमंजरी, चतुरप्रिया, अनूपरसाल, रसमोह, श्रृंगार,

लखपति पिंगल, मालापिंगल, छन्दशतक, अलंकार आशय आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसी तरह अनस्तमितव्रत संधि, मदनयुद्ध, अनेकार्थ नाममाला, नाममाला, आत्मप्रबोधनाममाला, अर्धकथानक, अक्षरमाला, गोराबादल की बात, रामविनोद, वैद्यकसार,वचनकोष चित्तौड़ की गजल, क्रियाकोष, रत्नपरीक्षा, शकुनपरीक्षा, रासविलास, लखपतमंजरी नाममाला, गुर्वावली, चैत्य परिपाटी आदि रचनाएँ विविध विधाओं को समेटे हुए हैं।

इसी तरह कुछ हियाली संज्ञक रचनाएँ भी मिलती हैं जो प्रहेलिका के रूप में लिखी गई हैं। बौद्धिक व्यायाम की दृष्टि से इनकी उपयोगिता निःसंदिग्ध है। मध्यकालीन जैनाचार्यो ने ऐसी अनेक समस्या मूलक रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओं में समयसुन्दर और धर्मसी की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त प्रकीर्णक काव्य में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने कहीं रस के सम्बन्ध में विचार किया है तो कहीं अलंकार और छन्द के, कहीं कोश लिखे हैं तो कहीं गुर्वावलियां, कहीं गजलें लिखी हैं तो कही ज्योतिष पर विचार किया है। यह सब उनकी प्रतिभा का परिणाम है। यहां हम उनमें से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करेंगे । रीतिकालिन अधिकांश वैदिक कवि मांसल श्रृंगार की विवृत्ति में लगे थे जबकि जैन कवि लोकप्रिय माध्यमों का सदुपयोग आध्यात्मिक क्षेत्र में कर रहे थे। इस संदर्भ में एक कवि ने हरियाली लिखी है तो अन्य संत कवियों ने उलटवासियों जैसे कवित्त लिखे हैं। उपाध्याय यशोविजय ये उलटवासियां देखिए -

कहियो पंडित ! कोण ये नारी
बीस बरस की अवधि विचारी कहियो।
दोय पिताअे अेह निपाई, संघ चतुर्विधि मन में आई।
कीडीअे एक हाथी जायो, हाथी साहमो ससलो धायो।

कविवर बनारसीदास ने काव्य रसों की संख्या ९ मानी हैं - श्रृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत और शान्त। इनमें शान्त रस को 'रसनिकौ नायक' कहा है। उसका निवास वैराग्य में बताया है - माया की अरुचिता में शान्त रस मानिये।'[१०] उन्होंने इन रसों के पारमार्थिक स्थानों पर भी विचार किया है। -

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख।।
अष्ट करम दल मजल, रूद्र वरतै तिहि थानक।
तन विलेछ वीभत्छ द्वन्द मुख दसा भयानक।।
अद्‌भुत अनंत बल चिंतवन, सांत सहज वैाग धुव।
नवरसविलास परगास तब, जब सुबोध घट प्रगट हुव।।[११]

रस के समान अलंकार पर भी हिन्दी जैन कवियों ने विचार किया है। इस संदर्भ में कुंवरकुशल का लखपतजयसिंधु और आमचन्द्र का अलंकार आशय मचरी उल्लेखनीय हैं। यहां रस, वस्तु और अलंकार को स्पष्ट किया गया है। अलंकार के कारण वस्तु का चित्रण रमणीय बनता है। उससे रस उपकृत होता है और भवों की रमणीयता में निखार आता है। परिमल का श्रीपालचरित्र इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इसका निम्न पद्य देखिये-

प्रथमहि लीजै ऊँ अकारु, जो भव दुख विनासन हारु।
सिद्धचक्रव्रत केवलरिद्धि, गुन अनंत फल जाकी सिद्धि।
प्रनमौ परम सिद्ध गुरु सोइ, अन्य समल सब मंगल होइ,
सिंधपुरी जाकौ सुभ थान, सिंध पुरी सुभ अनंत निधान।
वंदौ जिनशासन के धम्म, आप साय नासे अधकर्म्म,
छंदौ गुरु जे गुण के मूर, जिनते होय ग्यान कौ छूर।

वंदौ माता सिंहवाहिनी, जातैं सुमति होय अति वीर,
वंदौ मुनियन जे गुनधम्म, नवरस महिमा उदति न कर्म।

छन्दोविधान की दृष्टि से भी हिन्दी जैन कवि स्मरणीय हैं। कविवर वृन्दावनदास ने अत्यन्त सरल भाषा में लघु-गुरु को पहचानने की प्रक्रिया बतायी है-

लघु की रेखा सरल है, गुरु की रेखा बंक।
इहि क्रम सी गुरुलघु परखि, पढ़ियों छन्द निशंक।।
कहुं-कहुं सुकवि प्रबन्ध महं, लघु को गुरु कह देत।
गुरु हूँ को लघु कहत है, समझत सकवि सुचेत।।

आठों गणों के नाम, स्वामी और फल का निरूपण कवि ने एक ही सवैये में कर दिया है -

मगन तिगुरु मूलच्छि लहावत नगन तिलघु सुर शुभ फल देत।
मगन आदि गुरु इन्दु सुजस, लघु आदि मगन जल वृद्धि करेत।।
रमन मध्य लघु, अगिन मृत्यु, गुरुमध्य जगन रवि रोग निकेत।
सगत अन्त गुरु, वायु भ्रमन तगनत लघु नव शून्य समेत।।

इसी प्रकार बनारसीदास की नाममाला, भवगतीदास की अनेकार्थ नाममाला आदि कोश ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। यह कोश साहित्य संस्कृत कोश साहित्य से प्रभावित है।[१२]

१५. मरु-गुर्जर हिन्दी जैन साहित्यिक प्रवृत्तियां

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में मरु-गुर्जर हिन्दी जैन साहित्यिक प्रवृत्तियों की ओर स्वतन्त्र रूप से दृष्टिपात करना आवश्यक है। मरु-गुर्जर या पुरानी हिन्दी का विकास शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ और महाराष्ट्री का उसपर विशेष प्रभाव पड़ा। इसे हम सन्धिकालीन साहित्यिक भाषा के अर्थ में प्रयुक्त कर

सकते हैं जिसकी कालावधि लगभग १३ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। इसे मरु-गुर्जर का आदिकाल कहा जाता है। यह काल १५-१६ वीं शताब्दी तक आधुनिक आर्य भाषाओं के उदयकाल तक माना जाता है जिस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव अधिक रहा है। इसके बाद १६ वीं से १९ वीं तक हम इसे और भी विस्तृत रूप में देख पाते हैं। जहां आधुनिक हिन्दी भाषा का रूप दिखाई देने लगता है। इसे मरु गुर्जर का मध्यकाल कहा जाता है। कुल मिलाकर हम इन दोनों भागों को मध्यकाल में रख सकते हैं। प्रारम्भ में इसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसा भेद नहीं था पर १५-१६ वीं शताब्दी का अधिकांश मरु-गुर्जर जैन साहित्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा लिखित है। इसमें चरित्त, प्रबन्ध, संधि, चडपइ, रास, पवाडो, आख्यान, पुराण, रूपक, बेलि, संझाय, विवाहलउ, चर्चरी, फागु, बारहमासा, चौमासा, कूट या उलटवास, अन्तरालाय, मुकरी, प्रहेलिका, गजल आदि विविध प्रवृत्तियां प्रवाहित होती रही हैं जो भक्ति से अधिक संबद्ध हैं। इसमें शान्तरस के माध्यम से आत्मानुभूति को शब्दों में उतारा गया है। जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण वहां दिखाई देता है जिसमें संसार की नश्वरता, समत्व दृष्टि, अहिंसा, जीवदया, नैतिक संयम आदि जैसे जैन तत्त्वों का सुन्दर प्रतिबिम्बन हुआ है। निष्कल और सकल भक्तिधारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है।

मरु-गुर्जर जैन साहित्य की इन प्रवृत्तियों को हमने यथास्थान रेखांकित किया है। फिर भी संक्षेप में उनका उल्लेख यहां किया जा सकता है। उदाहरणार्थ आचार्य जिनरत्नसूरि (१२-१३वीं शती) का उपदेशरसायनरास और कालस्वरूपकुलक, श्रावक जगडू का सम्यक्त्व माइचउपइ, रत्नसिंह सूरि की अन्तरंग संधि, विजयसेन सूरि का रेवंतगिरि रास, शालिभद्रसूरि का भरतेश्वर बाहुबलिरास, जिनप्रभ सूरि की पद्मावती चउपई, जयशेखरसूरि का नेमिनाथ फागु, राजशेखरसूरि का नेमिनाथ फागु, कुशलहर्ष का नेमिनाथ स्तवन,

छीहल की पंचसहेली, ब्रह्ममुनि का जिन नेमिनाथ विवाहलु, सोम विमलसूरि का श्रेणिक रास विशेष उल्लेखनीय हैं। मरु गुर्जर गद्य साहित्य भी काफी लिखा गया है। इस काल में भाषा में सरली करण होता गया।

१७ वीं शती के हिन्दी रचनाकारों में आनन्दघन, कल्याणकीर्ति, क्षेमराज, त्रिभुवनकीर्ति, धर्मसागर, यशोविजय, सुमतिसागर, हीरकुशल आदि तथा १८वीं शती के हिन्दी रचनाकारों में कनककीर्ति, कुशलविजय, खुशालचन्द काला, जोधराज गोधीका, देवीदास, दौलतराम कासलीवाल, बुलाकीदास, भूधरदास, यशोविजय, लावण्य विजय, विद्यासागर, सुरेन्द्रकीर्ति, पांडे हेमराज आदि शताधिक हिन्दी जैनाचार्य हुए हैं। जिन्होंने हिन्दी की विविध प्रवृत्तियों को समृद्ध किया है। इस काल के काव्य में भवगाम्भीर्य और तीव्रानुभूति का प्रतिबिम्बन होता है जिसमें अध्यात्म, भक्ति और शील समाया हुआ है। यहां व्रज भाषा का विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

इस प्रकार आदि-मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है साधक कवियों ने साहित्य की किसी एक विधा को नहीं अपनाया, बल्कि लगभग सभी विधाओं में अपनी प्रतिभा को उन्मेषित किया है। यह साहित्य भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उच्चकोटि का है। यद्यपि कवियों का यहाँ आध्यात्मिक अथवा रहस्य भावनात्मक उद्देश्य मूलतः काम करता रहा पर उन्होंने किसी भी प्रकार से प्रवाह में गतिरोध नहीं होने दिया। रसचर्वणा, छन्द-वैविध्य, उपमादि अलंकार, ओजादि गुण स्वाभाविक रूप से अभिव्यंजित हुए हैं। भाषादि भी कहीं बोझिल नहीं हो पाई। फलतः पाठक सरसता और स्वाभाविकता के प्रवाह में लगातार बहता रहता है और रहस्य भावना के मार्ग को प्रशस्त कर लेता है। जैनेतर कवियों की तुलना से भी यही बात स्पष्ट होती है।

चतुर्थ परिवर्त

रहस्य भावना एक विश्लेषण

रहस्यः शाब्दिक अर्थ, अभिव्यक्ति और प्रयोग

सृष्टि के सर्जक तत्त्व अनादि अनन्त हैं। उनकी सर्जनशीलता प्राकृतिक शक्तियों के संगठित रूप पर निर्भर करती है। पर उसे हम प्रायः किसी अज्ञात शक्ति विशेष से सम्बद्ध कर देते हैं जिसका मूल कारण मानसिक दृष्टि से स्वयं को असमर्थ स्वीकार करना है। इसी असामथ्र्य पैदा करने वाले सत्यं शिवं सुन्दरम् तत्त्व की गवेषणा और स्वानुभूति की प्राप्ति के पीछे हमारी रहस्य भावना एक बहुत बडा सम्बल है। साधक के लिए यह एक गुह्य तत्त्व बन जाता है जिसका सम्बन्ध पराबौद्धिक ऋषि महर्षियों की गुह्य साधना की पराकाष्ठा और उसकी विशुद्ध तपस्या से जुडा है। प्रत्येक दृष्टा के साक्षात्कार की दिशा अनुभूति और अभिव्यक्ति समान नहीं हो सकती। उसका ज्ञान *और साधनागम्य अनुभव अन्य प्रत्यक्षदर्शियों के ज्ञान और अनुभव से* पृथक् होने की ही सम्भावना अधिक रहा करती है फिर भी लगभग समान मार्ग को किसी एक पन्थ या सम्प्रदाय से जोडा जाना भी अस्वाभाविक नहीं। जिस मार्ग को कोई चुम्बकीय व्यक्तित्व प्रस्तुत कर देता है। उससे उसका चिरन्तन सम्बन्ध जुड जाता है और आगामी शिष्य परम्परा उसी मार्ग का अनुसरण करती रहती है। यथासमय इसी

मार्ग को अपनी परम्परा के अनुकुल कोई नाम दे दिया जाता है, जिसे हम अपनी भाषा में धर्म कहने लगते हैं। रहस्यभावना के साथ ही उस धर्म का अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है और कालान्तर में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सीमा मे उसे बांध दिया जाता है।

'रहस्य' शब्द 'रहस्' पर आधारित है। रहस् शब्द रह् त्यागार्थक धातु से असुन् प्रत्यय लगाने पर बनता है।[1] तदनंतर यत् प्रत्यय जोडने पर रहस्य शब्द निर्मित होता है। उसका विग्रह होगा रहस्यम् - रहसि भवम् रहस्यम्।[2] अर्थात् रहस्य एक ऐसी मानसिक प्रतीति अथवा अनुभूति है जिसमें साधक ज्ञेय वस्तु के अतिरिक्त ज्ञेयान्तर वस्तुओं की वासना से असंपृक्त हो जाता है।

'रहस्' शब्द का द्वितीय अर्थ विविक्त, विजन, छन्न, निःशलाक, रह, उपांशु और एकान्त है।[3] और विजन में होने वाले को रहस्य कहते हैं। (रहसि भवम् रहस्यम्)। गुह्य अर्थ में भी रहस्य शब्द का विशेष प्रयोग हुआ है।[4] श्रीमद्भागवद् गीता और उपनिषदों में रहस्य शब्द का विशेष प्रयोग दिखाई देता है। वहां एकान्त अर्थ में 'योगी यो जीत सततमात्मानं रहसि स्थितम्', मर्म अर्थ में 'भक्तो सि सखा चेति रहस्यम् हवे तदमुत्त' और गुह्यार्थ में 'गुह्ययाद् गुह्यतरं (१८.६३), 'परम गुह्यं' (१८.३८) आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इस रहस्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभूति के रूप में और काव्यात्मक क्षेत्र रस के रूप में प्रस्फुटित किया गया है। रहस्य के उक्त दोनों क्षेत्रों के मर्मज्ञों ने स्वानुभूति को चिदानन्द चैतन्य अथवा ब्रह्मानंद सहोदर नाम समर्पित किया है। रस निष्पति के सन्दर्भ में ध्वन्यालोक, काव्य

प्रकाश, साहित्यदर्पण आदि प्राचीन काव्य ग्रन्थों में इसका गम्भीर विवेचन किया गया है।

जहां तक जैन साहित्य का प्रश्न है, उसमें रहस्य शब्द का प्रयोग अन्तराय कर्म के अर्थ में हुआ है। धवलाकार ने इसी अर्थ को 'रहस्यमंतराय' कहकर स्पष्ट किया है। रहस्य शब्द का यह अर्थ कहां से आया है यह गुत्थी अभी तक सुलझ नहीं सकी। सम्भव है, अन्तराय कर्म की विशेषता के सन्दर्भ में रहस्य शब्द ही अन्तराय कर्म का पर्यायार्थक मान लिया गया हो। जो भी हो, इस अर्थ को उत्तरकालीन आचार्यो ने विशेष महत्त्व नहीं दिया, अन्यथा उसका प्रयोग लोकप्रिय हो जाता। दूसरी ओर जैनाचार्यो ने रहस्य शब्द के इर्दगिर्द घूमने वाले अर्थ को अधिक समेटा है। गुह्य साधना में उन्होनें रहस्य शब्द का प्रयोग भले ही प्रथमतः न किया हो पर उसमें सन्निहित आध्यात्मिक वस्तुनिष्ठता को तो मूल भावना के रूप में स्वीकार किया ही है। हमें इस संदर्भ में आदि तीर्थकर ऋषभदेव को प्रथम रहस्यवादी व्यक्तित्व स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होगा। उनकी ही परम्परा का प्रवर्तन करने वाले नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर जेसै ऐतिहासिक महापुरुषों का नाम भी आचार्य कुंदकुंद, कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगेन्दु, मुनि रामसिंह, बनारसीदास, आनन्दघन आदि जैसे साधकों का नाम किसी भी तरह भुलाया नहीं जा सकता। उनके ग्रन्थों में आध्यात्मिक तत्त्व को रहस्य से जोड दिया गया है जहॉ जैन रहस्य साधना का स्पष्ट विश्लेषण दिखाई देता है। जैन साधक टोडरमल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी इसी अर्थ को व्यक्त करती है। इस चिट्ठी में उन्होंने अपने कतिपय मित्रों को आध्यात्मिकता का संदेश दिया है। इसी तरह पाइयलच्छिनाममाला, सुपासणाहचरिउ तथा हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण आदि ग्रन्थों में भी रहस्य शब्द को गुह्य अथवा अध्यात्म की

परिधि में मढ दिया है । अतएव इस आधार पर यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि जैन साधकों ने भी रहस्य के दर्शन को अध्यात्म से अछूता नहीं रखा । उन्होंने तो वस्तुतः यथासमय रहस्य शब्द का प्रयोग अध्यात्म के अर्थ में ही किया है । अध्यात्म का अर्थ है आत्मा को अर्थात् स्वयं को अधिश्रित करके वर्तमान में होना । (आत्मानमधिश्रिन्य वर्तमानो अध्यात्मम्-अष्टसहस्री, कारिका-२) । इसमें आत्मा को केन्द्रित कर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन अर्धमागधी जैनागमों में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है ।[५]

इस रहस्य तत्त्व की भावानूभुति वासना रूप भाव के माध्यम से भावक के मानस पटल पर अंकित होती है । इसी को साक्षात्कार तभी हो पाता है ,जब मिथ्यात्व या अज्ञान का आवरण साधक की आत्मा से हट जाये। तब इसको रहस्यानुभूति कहा जायगा। भावानुभूति काव्यात्मक है और रहस्यानुभूति साधनात्मक या दार्शनिक है। एक का सम्बन्ध रस से है और दूसरे की परिधि आध्यात्मिक है । प्रथम प्रक्रिया विचार से प्रारम्भ होती है और भावना से होती हुई अनुभूति में विराम लेती है । द्वितीय प्रक्रिया अनुभूति से अपनी यात्रा प्रारम्भ करती है और भावना से होती हुई विचार में गर्भित हो जाती है। प्रथम को विषय प्रधान (Objective) कहा जाता है और द्वितीय को आत्मप्रधान या भावात्मक (Subjective) माना जा सकता है ।

भावना को न्याय प्रणाली में चिन्ता वेदान्त में निदिध्यासन, योग में ध्यान और काव्य के क्षेत्र में साधारणीकरण व्यापार, व्यापना, आदि के रूप में चित्रित किया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भावना साधन मात्र है पर काव्य के क्षेत्र में वह साधन और साध्य दोनों है। दूसरे

शब्दों में कहा जा सकता है कि रहस्य भावना का सम्बन्ध आत्मिक-आध्यात्मिक साधना से है। पर उसकी भावात्मक साधना काव्यात्मक क्षेत्र में आ जाती है।

वाद के साथ रहस्य (रहस्यवाद) शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् १९२७ में सरस्वती पत्रिका के मई अंक में किया था। लगभग इसी समय अवधनारायण उपाध्याय तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस शब्द का उपयोग किया। जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, प्राचीन काल में रहस्य जैसे शब्द साहित्यिक क्षेत्र में आ चुके थे पर उसके पीछे अधिकांशतः अध्यात्मरस से सिक्त साधना पथ जुडा हुआ था। उसकी अभिव्यक्ति भले ही किसी भाव और भाषा में होती रही हो पर उसकी सहानुभूति सार्वभौमिक रही है। जहां तक उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न है, उसे निश्चित ही साक्षात्कार कर्ता गूगें के गुड की भांति पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता। अपनी अभिव्यक्ति में सामर्थ्य लाने के लिए वह तरह-तरह के साधन अवश्य हैं। उन साधनों में हम विशेष रूप से संकेतमयी और प्रतीकात्मक भाषा को ले सकते हैं। ये दोनों साधन साहित्य में भी मिल जाते हैं।

यद्यपि 'रहस्यवाद' जैसा शब्द प्राचीन भारतीय योग-साधनाओं में उपलब्ध नहीं होता, पर 'रहस्य' शब्द का प्रयोग अथवा उसकी भूमिका का विनियोग वहां सदैव से होता रहा है। इसलिए भारतीय साहित्य के लिए यह कोई नवीन तथ्य नहीं रहा। पर्यवेक्षण करने से आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य के अंग्रेजी शब्द Mysticism के रूपान्तर के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस Mysticism शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी साहित्य में

सन् १९०० के आस-पास प्रारम्भिक हुआ।[६] उसकी रचना ग्रीक भाषा के Mystikes शब्द से होनी चाहिए[७] जिसका अर्थ किसी गुह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधनारत दीक्षित शिष्य है।[८] उस दीक्षित शिष्य द्वारा व्यक्त उद्‌गार अथवा सिद्धान्त को रहस्यवाद कहा गया है। इसमें साधना प्रधान है और अनुभूति या साक्षात्कार की व्यंजना गर्भित है।

रहस्यवाद की परिभाषा

वाद शब्द की निष्पत्ति वद् धातु प्रत्यय घञ् (वद् +अ)से हुई है जिसका अर्थ कथन होता है। उत्तरकाल में इसका प्रयोग सिद्धान्त और विचारधारा के संदर्भ में होने लगा है। आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, अनेकान्तवाद, विज्ञानवाद, मायावाद आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। जहा वाद होता है, वहां विवाद की श्रृंखला तैयार हो जाती है। आत्मसाक्षात्कार की भावना से की गई योग साधना के साथ भी वाद जुडा और रहस्यवाद की परिभाषा में अनेक रूपता आयी । इसलिए साहित्यकारों में रहस्य भावना को कहीं दर्शन परक माना और कहीं भावात्मक तो कहीं प्रकृति मूलक, कहीं यौगिक तो कहीं अभिव्यक्तिमूलक । परिभाषाओं का यह वैविध्य साधकों की रहस्यानुभूति की विविधता पर ही आधारित रहा है। इतना ही नहीं, कुछ विद्धानों ने तो रहस्य भावना का सम्बन्ध चेतना, संवेदन मनोवृत्ति और चमत्कारिता से भी जोडने का प्रयत्न किया है। इसलिए आजतक रहस्यवाद की परिभाषा सर्वसम्मत नहीं हो सकी । रहस्यवाद की कतिपय परिभाषायें इस प्रकार हैं -

१. भारतीय विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद

डॉ. एस राधाकृष्णन् ने धर्म, अध्यात्म और रहस्यवाद के बीच

सम्बन्ध बनाते हुए लिखा है कि प्रत्येक धर्मो में बाह्य विधि-निषेधों का प्रावधान रहता है जबकि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सत्ता को समझाने और उससे तादात्म्य स्थापित करने तथा जीवन के सर्वांगीण विकास की और संकेत करती है। आध्यात्मिकता धर्म और उसके अन्तर्गत निहित तत्त्व का सार है और रहस्यवाद में धर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है।[९]

डॉ. महेन्द्रनाथ सरकार ने रहस्यवाद की परिभाषा को दार्शनिक रूप देते हुए कहा है कि रहस्यवाद सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में तर्कशून्य कहा जा सकता है।[१०] परन्तु डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने रहस्यवाद को कला बताते हुए कहा है कि वह एक ऐसा साधन है जिससे साधक अन्तःयोग द्वारा संसार को अखण्ड रूप में अनुभव करता है।[११] वासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकार ने रहस्यवाद को एक आचार प्रधान अनुशासन बनाकर उसे ईश्वर से एकता प्राप्त करने का एक साधन बताया है।[१२] प्रो.रानाडे के अनुसार रहस्यवाद अन्तर्ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कहा जा सकता है।[१३] आ० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।[१४] जयशंकर प्रसाद के अनुसार काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद बताया है।[१५]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद को अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन बताते हुए कहा है रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है। और यह सम्बन्ध यहां तक बढ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह

जाता ।[१६] आ० परशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवाद की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए लिखा है - ''रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जिसका मूल आधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता वा परमात्म तत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अर्निवचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावत: विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो सकता है।[१७] महादेवी वर्मा रहस्यानुभूति में बुद्धि के ज्ञेय को ही हृदय का प्रेय मान लेती है।[१८] डॉ.त्रिगुणायत के अनुसार जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है ।[१९] डॉ० प्रेमसागर ने रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के मिलन की भावात्मक अभिव्यक्ति कहा है ।[२०] डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल आध्यात्मिकता की उत्कर्ष सीमा का नाम रहस्यवाद निश्चित करते हैं।[२१] डॉ. रामकुमार वर्मा के स्वर में स्वर मिलाकर डॉ. रूपनारायण पाण्डे ने रहस्यवाद को मानव की उस आंतरिक प्रवृत्ति का प्रकाशन माना है जिससे वह परम सत्य परमात्मा के साथ सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।[२२]

उपर्युक्त परिभाषाओं को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि विद्वानों ने रहस्यवाद को किसी एक ही दृष्टिकोण से विचार किया है। किसी ने उसे समाजपरक माना है तो किसी ने विचारपरक, किसी ने अनुभूतिजन्य माना है तो किसी ने उसकी परिभाषा को विशुद्ध मनोविज्ञान पर आधारित किया है, तो किसी ने दर्शन पर, किसी ने उसे जीवन दर्शन माना है,तो किसी ने उसे व्यवहार प्रधान बताया है।

२. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद

M.G.R. Alliert Forges ने रहस्यवाद को Theology (ईश्वरीयशास्त्र) से सम्बद्ध कर कहा है कि ये दोनों विधायें विज्ञानों की राज्ञी कही जा सकती हैं।[२३] R.L. Nettleship ने यथार्थ रहस्यवाद को अनुभूतिजन्य प्रतीति का एकांशबोध स्वीकार किया है जो किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है - True mysticism is the consciousness that everything that we experience is an element and only an eliment in fact, i.e. that in being what it is, symbolic of some thing more.[24] Walter T. Stace ने रहस्यवाद को चेतना से सम्बद्ध कर उसे Sensory intellectual consciousness कहा।[२५] फ्लीडर (Fleiderer) ने रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को उपस्थित करते हुए उसे आत्मा और परमात्मा के एकत्व का प्रतीक माना है। यहां उन्होंने रहस्यवाद का धार्मिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण किया है - Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God; it is nothing but the fundamental feeling of religion. The religious life is at its very heart and centre.[26]

Pingle Panthison (पिंगले पान्थिजन) ने लिखा है - "रहस्यवाद उन मानवीय प्रयत्नों से सम्बद्ध है जो परम सत्य को ग्रहण करने के प्रयत्न में होता है और उस सर्वोच्च सत्ता के सान्निध्य से उत्पन्न एक आनन्द होता है। चरम सत्य को ग्रहण रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष है और सर्वोच्च सत्ता के साथ मिलने के आनन्द से उत्पन्न अनुभूति धार्मिक पक्ष है।[२७] E. Caird ने रहस्यवाद को एक मानसिक प्रवृत्ति माना है जिसमें आत्मा और परमात्मा के सभी सम्बन्ध गर्भित हो जाते

हैं।[२८] Caird की यह परिभाषा रहस्यवाद और अध्यात्मवाद को एक मानकर चल रही है। William James ने परिभाषा को दिये बिना ही यह कहा है कि उसकी अनुभूति विशुद्धतम और अभूतपूर्व होती है और वह अनुभूति असंप्रेक्ष्य है।[२९] Von Hartman ने रहस्यवाद की व्यापकता और परिभाषा पर विचार करते हुए उसे चेतना का वह तृप्तिमय बांध बतलाया है जिसमें विचार, भाषा और इच्छा का अन्त हो जाता है तथा जहां अचेतनता से ही उसकी चेतनता जाग्रत हो जाती है।[३०] प्रायः ये सभी परिभाषायें मनोदशा से विशेष सम्बद्ध हैं। उन्होंने स्वानुभूति को किसी साधना विशेष से नहीं जोडा।

Ku. Under Hill (कुमारी अण्डरहिल) ने रहस्यवाद की परिभाषा को मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के अतिरिक्त दार्शनिक क्षेत्र की ओर लाकर खड़ा किया है और कहा है कि -'रहस्यवाद तथ्य की खोज विषयक उस प्रणली का सुनिर्दिष्ट रूप है जो उत्कृष्ट एवं पूर्ण जीवन के लिए काम में लाया जाता है और जिसे हमने अब तक मानवीय चेतना की एक सनातन विशेषता के रूप में पाया है।[३१] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रहस्यवाद की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए उसे भगवत सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला कहा है, जिसमें किसी सीमा तक इस एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास रखता है और जिसने इस एकता की सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।'[३२] यहां व्यक्ति एवं भगवत् सत्ता, दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तथा दोनों में एकता स्थापन की सम्भावना भी की गई है। अस्तु, अण्डर हिल वेदान्त में विशिष्टाद्वैत की भांति ईश्वर एवं जीव की एकता को स्वीकार करती प्रतीत होती हैं। Frank Jaynor ने उसे और

भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है - 'रहस्यवाद दर्शन, सिद्धान्त, ज्ञान या विश्वास है जो भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मा की शक्ति पर अधिक केन्द्रित रहता है, विश्वजनीन आत्मा के साथ आत्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व रहस्यवाद का लक्ष्य है। आत्मिक सत्य का सहज ज्ञान और भावात्मक बुद्धि तथा आत्मिक चिन्तन अनुशासन के विविध रूपों के माध्यम से उपस्थित होता है। रहस्यवाद अपने सरलतम और अत्यन्त वास्तविक अर्थ में एक प्रकार का धर्म है जो कि ईश्वर के साथ सम्बन्ध के सजगबोध (awareness) और ईश्वरीय उपस्थिति की सीधी और घनिष्ठ चेतना पर बल देता है। यह धर्म की अपनी तीव्रतम, गहनतम और सबसे अधिक सजीव अवस्था है। संपूर्ण रहस्यवाद का मौलिक विचार है कि जीवन और जगत् का तत्त्व वह आत्मिक सार है, जिसके अन्तर्गत सब कुछ है और जो प्राणीमात्र के अन्तर में स्थित वह वास्तविक सत्य है जो उसके बाह्य आकार अथवा क्रिया कलापों से सम्बद्ध नहीं है।[३३] W.E. Hocking ने रहस्यवाद की अन्य परिभाषाओं का खण्डन करते हुए उसे धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र से सम्बद्ध किया है। उन्होंने कहा है कि रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का एक मार्ग है।[३४] इसे हम भावार्थ में एक साधना विशेष कह सकते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी प्रस्तुत की गई रहस्यवाद की ये परिभाषायें कथंचित् ही सही हो सकती हैं। इनमें प्रायः सभी ने ईश्वर के साक्षात्कार को रहस्यवाद का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है और उसे मनोदशा से जोड़ रखा है। परन्तु जैन दर्शन इससे पूर्णतः सहमत नहीं हो सकेगा। एक तो जैन दर्शन में ईश्वर के उस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया गया जो पाश्चात्य दर्शनों में है और दूसरे रहस्यवादका सम्बन्ध

मात्र मनोदशा से ही नहीं, वह तो वस्तुतः एक विशुद्ध साधन पथ पर आचरित होकर आत्मसाक्षात्कार करने का ऐकान्तिक मार्ग है। Frank Gaynor का यह कथन कि उसे विश्वजनीन आत्मा के साथ अनात्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व का प्रतीक न होकर अनुभूतिजन्य सहजानन्द का प्रतीक माना जाना चाहिए जहां व्यक्ति आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को दूर करने में जुटा रहता है। PriPanthoison, Ku. Under Hill आदि विद्वानों की परिभाषाओं में भी आत्मा और परमात्मा के मिलने को प्रमुख स्थान दिया है। यहां भी मैं सहमत नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर को सभी धर्मो में समान रूप से स्वीकार नहीं किया गया। अतः रहस्यवाद की ये परिभाषायें सार्वभौमिक न होकर किसी पन्थ विशेष से सम्बद्ध ही मानी जा सकेगी।

रहस्यवाद की परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर उसे सर्वांगीण बनाने की दृष्टि से हम इस प्रकार परिभाषा कर सकते हैं - **रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्त्व से परम तत्त्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्याम की चरमोत्कर्षावस्था की भावाभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है।** इस अर्थ की पुष्टि में हम पीछे प्राकृत जैनागम तथा धवला आदि के उद्धरण प्रस्तुत कर चुके हैं।

इस परिभाषा में हम रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं -

(१) रहस्यभवना एक आध्यात्मिक साधन है। अध्यात्म से

तात्पर्य है चिन्तन। जैन दर्शन में प्रमुखतः सात तत्त्व माने जाते हैं - जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष। व्यक्ति इन सात तत्त्वों का मनन, चिन्तन और अनुपालन करता है। साधक सम्यक् चरित्र का परिपालन करता हुआ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है। यहां सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

(२) रहस्यभावना की अन्यतम विशेषता है स्वानूभूति। बिना स्वयं की प्रत्यक्ष अनुभूति के साधक साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में सम्यग्दर्शन कह सकते हैं। अनुभूति के उपरान्त ही श्रद्धा दृढतर होती चली जाती है। यह अनुभूति भावात्मक होती है और यहां भावात्मक अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है।[३५]

आत्मानुभव से साधक षड्-द्रव्यों के अस्तित्व पर भलीभांति चिन्तन करता है, श्रद्धा करता है, कर्म उपाधि के मुक्त हो जाता है, दुर्गति के विषाद से दूर हो जाता है तथा उसका चित्त समता, सुधा रस से भर जाता है।[३६] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर से दमकती हुई सन्तापदायक भावों को चीरकर प्रगट होती है और सहज शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[३७]

बनारसीदास के गुरु रूप पण्डित रूपचन्द का तो विश्वास है कि आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अन्धेरा नष्ट हो जाता है। अनेकान्त की चिर नूतन किरणों का स्वच्छ प्रकाश फैल जाता है, सत्तारूप अनुपम अद्भुत ज्ञेयाकार विकसित हो जाता है, आनन्द कन्द अमन्द अमूर्त आत्मा में मन बस जाता है तथा उस सुख के सामने अन्य

सुख वासे से प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए वे आदिकालीन अविद्या को सर्वप्रथम दूर करना चाहते हैं ताकि चेतना का अनुभव घट-घट में अभिव्यक्त हो सके।[३८]

कविवर द्यानतराय आत्मविभोर होकर यही कह उठे - "आतम अनुभव करना रे भाई"। यह आत्मानुभव भेदविज्ञान के बिना सम्भव नहीं होता। नव पदार्थो का ज्ञान, व्रत, तप, संयम का परिपालन तथा मिथ्यात्व का विनाश अपेक्षित है।[३९] भैया भगवतीदास ने अनुभव को शुद्ध-अशुद्ध रूप में विभाजित करके शुद्धानुभव को उपलब्ध करने के लिए निवेदन किया है। यह शुद्धानुभव राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व तथा पर पदार्थो की संगति को त्यागने, सत्यस्वरूप को धारण करने और आत्मा (हंस) के स्वत्व को स्वीकार करने से प्राप्त होता है।[४०] इसमें वीतराग भक्ति, अप्रमाद, समाधि, विषयवासना मुक्ति, तथा षट्द्रव्य-ज्ञान का होना भी आवश्यक है।[४१] शुद्धानुभवी साधक आत्मा के निरंजन स्वरूप को सदैव समीप रखता है और पुण्य-पाप के भेदक तत्त्व से सुपरिचित रहता है।[४२] एक स्थान पर तो भैया भगवती दास ने अनुभव का अर्थ सम्यग्ज्ञान किया है और स्पष्ट किया है कि कुछ थोड़े ही भव (जन्म-मरण) शेष रहने पर उसकी प्राप्ति होती है। जो उसे प्राप्त नहीं कर पाता वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[४३] कविवर भूधरदास आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए आगमाभ्यास पर अधिक बल देते हैं। उसे उन्होंने एक अपूर्व कला तथा भवदाघहारी घनसार की सलाक माना है। जीवन की अल्पस्थिति और फिर द्वादशांग की अगाधता हमारे कलाप्रेमी को चिन्तित कर देती है। इसे दूर करने का उपाय उनकी दृष्टि में एक ही है - श्रुताभ्यास। यही श्रुताभ्यास आत्मा का परम चिन्तक है।[४४] कविवर द्यानतराय भवबाधा से दूर रहने

का सर्वोत्तम उपाय आत्मानुभव मानते हैं। आत्मानुभव करने वाला साधक पुद्गल को विनाशीक मानता है। उसका समता-सुख स्वयं में प्रगट रहता है। उसे किसी भी प्रकार की दुविधा अथवा भ्रम शेष नहीं रहता। भेदविज्ञान के माध्यम से वह स्व-पर का निर्णय कर लेता है।[४५] दीपचन्द कवि भी आत्मानुभूति को मोक्ष प्राप्ति का ऐसा साधन मानते हैं जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरित्र की आराधना की जाती है। फलतः अखण्ड और अचल ज्ञान-ज्योति प्रकाशित होती है।[४६] डॉ. राधाकृष्णन ने भी इसी को रहस्यवाद कहा है। पर उन्होंने विचारात्मक अनुभूति को दर्शन का क्षेत्र तो बना दिया पर उसका भावात्मक अनुभूति से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया।[४७] अतः यहां हम उनके विचारों से सहमत नहीं हो सकेंगे। अनुभूति में भाव यद्यपि प्रधान और मूल अवश्य है पर उनका निकट सम्बन्ध विचार अथवा दर्शन से भी बना रहता है। बिना विचार और दर्शन के भावों में सघनता नहीं आ सकती।

(३) आत्मतत्त्व आध्यात्मिक साधना का केन्द्र है। संसरण का मूल कारण है- आत्म तत्त्व पर सम्यक् विचार का अभाव। आत्मा का मूल स्वरूप क्या है? और वह मोहादि विकारों से किस प्रकार जन्मान्तरों में भटकता है ? इत्यादि जैसे प्रश्नों का यहां समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है।

(४) परमपद में लीन हो जाना रहस्यवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति है। इसमें साधक आत्मा की इतनी पवित्र अवस्था तक पहुंच जाता है कि वह परमात्मा बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का एकाकारत्व एक ऐसी अवस्था है जहां साधक समस्त दुःखों से विमुक्त होकर एक अनिर्वचनीय शाश्वत् चिदानन्द चैतन्य का रसपान करने लगता है। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में हम निर्वाण अथवा

मुक्त अवस्था में आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य हो जाता है। इसी तादात्म्य को समरस कहा गया है। जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य अखंड ब्रह्म के अंश के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। वहां तो विकारों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। इस सन्दर्भ में हम आगे के अध्यायों में विशद विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु यहां इतना अवश्य कहना चाहूंगी कि जैनधर्म में आत्मा के तीन स्वरूप वर्णित हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादर्शन के कारण विशुद्ध नहीं हो पाता। अन्तरात्मा में विशुद्ध होने की क्षमता है पर वह विशुद्ध अभी हुआ नहीं तथा परमात्मा आत्मा का समस्त कर्मो से विमुक्त और विशुद्ध स्वरूप है। आत्मा के प्रथम दो रूपों को साधक और अन्तिम रूप को साध्य कहा जा सकता है। साधक अनुभूति करने वाला है और साध्य अनुभूति तत्त्व।

परमात्म स्वरूप को सकल और निष्फल के रूपमें विभाजित कियागया है। सकल वह है जिसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मो का विनाश हो चुका हो और शरीरवान् हो। जैन परिभाषा में इसे अर्हन्त अथवा अर्हत् कहा गया है। हिन्दी साहित्य में इसी को सगुण ब्रह्म कहा गया गया है। आत्मा की निष्कल अवस्था वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र इन चार अघातिया कर्मो का भी विनाश हो जाता है। और आत्मा निर्देही बन जाता है। इसी को हिन्दी साहित्य में निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। उत्तरकालीन जैन कवियों ने आत्मा के सकल और निकल अवस्था की भावविभोर होकर भक्ति प्रदर्शित की है और भक्ति भाव में प्रवाहित होकर दाम्पत्यमूलक अहेतुक प्रेम का चित्रण किया है, जिसमें आत्मा

परमात्मा से मिलने के लिए विरह में तड़पती है, समरस होने का प्रयत्न करती है। समरस हो जाने पर वह उस अनुभूतिगत आनन्द और चिदानन्द चैतन्य रस का पान करती है।

इस समरसता को प्राप्त करने में संसार से वैराग्य होना नितान्त अपेक्षित है। भ. ज्ञानभूषण प्रथम ने अपने आदीश्वर फागु में (सं. १५५०) आदीश्वर देव की उस मार्मिक घटना का उल्लेख किया है जिसमें नीलांजना नामक नृत्यांगना की मृत्यु हो गई और इस घटना को देखकर आदीश्वर को विरक्ति हो गई। फलतः वे सब कुछ त्यागकर *मुक्तिमार्ग पर चल दिये* -

आहे आयु कमल दल सम चंचल चपल शरीर,
यौवन धन इव अथिर करम जिम करतल नीर।
आहे भोग वियोग समन्नित रोग तणूं घर अंग,
मोहमहा मुनिनिंदित नारीयसंग।

रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद के प्रमुख तत्त्व

रहस्यवाद का क्षेत्र असीम है। उस अनन्त शक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है अतः ससीमता से असीमता और परम विशुद्धता तक पहुंच जाना तथा चिदानन्द चैतन्य रस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्याक्षिक और अप्रात्याक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और परम विशुद्धावस्था रूप को प्राप्त करता है। वहां पहुंचकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। और उसका भवचक्र सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त रहस्य अथवा गुह्य है इसलिए साधक में विषय के प्रति जिज्ञासा और औत्सुक्य जितना अधिक जाग्रत होगा उतना ही उसका साध्य समीप होता चला जायगा।

रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्त्वों का आधार लिया जा सकता है -

१. जिज्ञासा और औत्सुक्य।
२. संसरचक्र में भ्रमण करने वाले आत्मा का स्वरूप।
३. संसार का स्वरूप
४. संसार से मुक्त होने का उपाय (भेद- विज्ञान)।
५. मुक्त अवस्था की परिकल्पना (निर्वाण)।

इन्हीं तत्त्वों पर प्रस्तुत प्रबन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

रहस्यभावना का साध्य, साधन और साधक

रहस्यभावना का प्रमुख साध्य परमात्मपद की प्राप्ति करना है जिसके मूल साधन हैं - स्वानुभूति और भेदविज्ञान। किसी विषय वस्तु का जब किसी प्रकार से साक्षात्कार हो जाता है तब साधक के अन्तरंग में तद्विषयक विशिष्ट अनुभूति जागरित हो जाती है। साधना की सुप्तावस्था में चराचर जगत साधक को यथावत् दिखाई देता है। उसके प्रति उसके मन में मोह गर्भित आकर्षण भी बना रहता है। पर साधक के मन में जब रहस्य की यह गुत्थि समझ में आ जाती है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अशाश्वत् है, क्षणभंगुर है और यह सत्-चित् रूप आत्मा उस पदार्थ से पृथक् है, ये कभी हमारे नहीं हो सकते और न हम कभी इन पदार्थो के हो सकते हैं। तब उसके मन में एक अपूर्व आनन्दाभूति होती है। इसे हम जैन शास्त्रीय परिभाषा में 'भेदविज्ञान' कह सकते हैं। साधक को भेदविज्ञान की यथार्थ अनुभूति हो जाना ही रहस्यवादी साधना का साध्य कहा जा सकता है। विश्व सत्य का समुचित

प्रकाशन इसी अवस्था में हो पाता है । भेदविज्ञान की प्रतीति कालान्तर में दृढ़तर होती चली जाती है और आत्मा भी उसी रूप में परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में पहुंचकर साधक अनिर्वचनीय अनुभूति का आस्वादन करता है। आत्मा की यह अवस्था शाश्वत् और चिरन्तन सुखद होती है। रहस्यवादी का यही साध्य है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे हम 'निर्वाण' कह सकते हैं।

साध्य सदैव रहस्य की स्थिति में रहता है। सिद्ध हो जाने पर फिर वह रहस्यवादी के लिए अज्ञात अथवा रहस्य नहीं रह जाता। साधक के लिए वह भले ही रहस्य बना रहे। इसलिए तीर्थंकर, ऋषभदेव, महावीर, राम, कृष्ण आदि की परम स्थिति साध्य है। इसे हम ज्ञेय अथवा प्रमेय भी कह सकते हैं।

इस साध्य, ज्ञेय अथवा प्रमेय की प्राप्ति में जिज्ञासा मूल कारण है। जिज्ञासा ही प्रमेय अथवा रहस्य तत्त्व के अन्तस्तल तक पहुंचने का प्रयत्न करती है । तदर्थ साध्य के संदर्भ में साधक के मन में प्रश्न, प्रति-प्रश्न उठते रहते हैं। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इसी का सूचक है। 'नेति-नेति' के माध्यम से साधक की रहस्यभवना पवित्रतम होती जाती है और वह रहस्य के समीप पहुंचता चला जाता है। फिर एक समय वह अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है - 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। यह अनूभूतिपरक जिज्ञासा ही अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य बनकर उतरती है। इसी काव्य के माध्यम से सहृदय व्यक्ति साधारणीकरण प्राप्त करता है और शनैः शनैः साध्य दशा तक बढ़ता चला जाता है। अतएव इस प्रकार के काव्य में व्यक्त रहस्यभवना की गहनता और सघनता को ही यथार्थ में काव्य की विधेयावस्था का केन्द्र बिन्दु समझना चाहिए।

परम गुह्य तत्त्व रूप रहस्य भावना के वास्तविक तथ्य तक पहुँचने के लिए साधक को कुछ ऐसे शाश्वत् साधनों का उपयेाग करना पड़ता है जिनके माध्यम से वह चिरन्तन सत्य को समझ सके। ऐसे साधनों में आत्मा और परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप पर चिन्तन और मनन करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म में तो इसी को केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसी को कुछ विस्तार से समझाने के लिए वहां समूचे तत्त्वों को दो भागों में विभाजित किया गया है जीव और अजीव। जीव का अर्थ आत्मा है और अजीव का विशेष सम्बन्ध उन पौद्गलिक कर्मो से है जिनके कारण यह आत्मा संसार में बारम्बार जन्म ग्रहण करता रहता है। इन कर्मो का सम्बन्ध आत्मा से कैसे विमुक्त होता है, इसके लिए संवर और निर्जरा तत्त्वों को रखा गया है। आत्मा का कर्मो से सम्बन्ध जब पूर्णतः दूर हो जाता है तब उसका विशुद्ध और मूल रूप सामने आता है। इसी को मोक्ष कहा गया है।

इस प्रकार रहस्य भावना का सीधा सम्बन्ध जैन संस्कृति में उक्त सप्त तत्त्वों पर निर्भर करता है। इन सप्त तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए दिखाई देते हैं। अध्यात्मवादी ऋषि-महिर्षयों और विद्वान-आचार्यो ने रहस्यभावना की साधना में अनुभूति के साथ विपुल साहित्य का सृजन किया है जिसका उल्लेख हम यथास्थान करते गये हैं।

'एकं हि सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' के अनुसार एक ही परम सत्य को विविध प्रकार से अनुभव में लाते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का धरातल पवित्र आत्मसाधना से मण्डित रहता है। यही साधक तत्त्वदर्शी और कवि बनकर साहित्य जगत् में उतरता है। उसका काव्य भावसौन्दर्य से निखरकर स्वाभाविक भाषा

में निसृत होता है फिर भी पूर्ण अभिव्यक्ति में असमर्थ होकर वह प्रतीकात्मक ढंग से भी अपनी रहस्यभावना को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। उसकी अभिव्यक्ति के साधन स्वरूप भाव और भाषा में श्रद्धा, प्रेम भक्ति, उपालम्भ, पश्चात्ताप, दास्यभाव आदि जैसे भाव समाहित होते हैं। साधक की दृष्टि सत्संगति और सद्गुरु महिमा की ओर आकृष्ट होकर आत्मसाधना के मार्ग से परमात्मपद की प्राप्ति की ओर मुड़ जाती है।

रहस्यभावना की साधना में साधक पूरे आत्मविश्वास के साथ आत्मशक्ति का दृढ़तापूर्वक उपयोग करता है। तदर्थ उसे किसी बाह्य शक्ति की भी प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता होती है जिसे वह अपने प्रेरक तत्त्व के रूप में स्थिर रखता है। साधना में स्थिरता और प्रकर्षता लाने के लिए साधक भक्ति ज्ञान और कर्म के समन्वित रूप का आश्रय लेकर साध्य को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाता है। भक्ति परक साधना में श्रद्धा और विश्वास, ज्ञानपरक साधना में तर्क-वितर्क की प्रतिष्ठा और कर्म परक साधना में यथाविधि आचार-परिपालन होता है।

जैन साधनात्मक रहस्यवादी साधक भक्ति, ज्ञान और कर्म को समान रूप से अंगीकार करता है। दार्शनिक परिभाषा में इसे क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन कहा जा सकता है। साधनावस्था में इन तीनों का सम्यक् मिलन निर्वाण की प्राप्ति के लिए अपेक्षित है।

साधक और कवि की रहस्यभावना में किंचित् अन्तर है। साधक रहस्य का स्वयं साक्षात्कार करता है पर कवि उसकी भावात्मक भावना करता है। यह आवश्यक नहीं कि योगी कवि नहीं

हो सकता अथवा कवि योगी नहीं हो सकता। काव्य का तो सम्बन्ध भाव से विशेषतः होता है और साधक की रहस्यानुभूति भी वही से जुड़ी हुई होती है। अतः इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी है कि उक्त दोनों व्यक्तित्व समरस होकर आध्यात्मिक साधना करते रहे हैं। यही कारण है कि योगी कवि हुआ है और कवि योगी हुआ है। दोनों ने रहस्यभावना की भावात्मक अनुभूति को अपना स्वर दिया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने उक्त दोनों व्यक्तित्त्वों की प्रतिभा, अनुभूति और सजगता को परखने का प्रयत्न किया है। इसलिए रहस्यवाद के स्थान पर हमने 'रहस्यभावना' शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। भावना अनूभूतिपरक होती है और वाद किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा साहित्य से सम्बद्ध होकर ससीमित हो जाता है। इस अन्तर के होते हुए भी रहस्यभावना का सम्बन्ध अन्ततोगत्वा चूंकि किसी साधना विशेष से सम्बद्ध रहता है इसलिए वह भी कालान्तर में अनुभूति के माध्यम से एक वाद बन जाता है। इसलिए 'रहस्यवाद' लोकप्रिय हो गया।

अध्यात्मवाद और दर्शन

जहां तक अध्यात्मवाद और दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, वह परस्पराश्रित है। अध्यात्मवाद योग साधना है जो साक्षात्कार करने का एक साधन है और दर्शन उस योग साधना का बौद्धिक विवेचन है अध्यात्मवाद अनुभूति पर आधारित है जबकि दर्शन ज्ञान पर आधारित है। अध्यात्मवाद तत्त्व ज्ञान प्रधान है और दर्शन उसकी पद्धति और विवेचन करता है। इस प्रकार दर्शन अध्यात्मवाद से भिन्न नहीं हो सकता। अध्यात्मवाद की व्याख्या और विश्लेषण दर्शन की

पृष्ठभूमि में ही सम्भव हो पाता है। दोनों के अन्तर को समझने के लिए हम दर्शन के दो भेद कर सकते हैं - आध्यात्मिक रहस्यवाद और दार्शनिक रहस्यवाद। आध्यात्मिक रहस्यवाद आचार प्रधान होता है और दार्शनिक रहस्यवाद ज्ञानप्रधान। अतः आचार और ज्ञान की समन्वयावस्था ही सच्चा अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद है। इसलिए हमने अपने प्रबन्ध में जैन आचार और ज्ञान मीमांसा के माध्यम से ही रहस्यवाद को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

रहस्यवाद किसी न किसी सिद्धान्त अथवा विचार-पक्ष पर आधारित रहता है और उस विचार पक्ष का अटूट सम्बन्ध जीवन-दर्शन से जुड़ा रहता है जो एक नियमित आचार और दर्शन पर प्रतिष्ठित रहता है। साधक उसी के माध्यम से रहस्य का साक्षात्कार करता है। वही रहस्य जब अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आता है तो दर्शन बन जाता है। काव्य में अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया जाता है और उस अभिव्यक्ति में स्वभावतः श्रद्धा-भक्ति का आधिक्य हो जाता है। धीरे-धीरे अन्धविश्वास, रूढ़ियां, चमत्कार, प्रतीक, मंत्र-तंत्र आदि जैसे तत्त्व उससे बढ़ने और जुड़ने लगते हैं।

दूसरी ओर रहस्यभावना की प्रतिष्ठा जब तर्क पर आधारित हो जाती है तो उसका दार्शनिक पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन को न तो जीवन से पृथक् किया जा सकता है और न अध्यात्म से। इसी प्रकार काव्य का सम्बन्ध भी दर्शन से बिल्कुल तोड़ा नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक अध्यात्मवादी अथवा रहस्यवादी काव्य के क्षेत्र में आने पर दार्शनिक साहित्यकार हो जाता है। यहीं उसकी रहस्य भावना की अभिव्यक्ति विविध रूप से होती है। आदि

कवि वाल्मीकि भी कालान्तर में दार्शनिक बन गये। वेदों और आगमों के रहस्य का उद्घाटन करने वाले ऋषि-महर्षि भी दार्शनिक बनने से नहीं बच सके। वस्तुतः यहीं उनके जीवन्त-दर्शन का साक्षात्कार होता है और यहीं उनके कवित्व रूप का उद्घाटन भी। काव्य की भाषा में इसे हम रहस्यभावना का साधारणीकरण कह सकते हैं। परम तत्त्व की गुह्यता को समझने का इससे अधिक अच्छा और कौन सा साधन हो सकता है ?

रहस्यवाद और अध्यात्मवाद

अध्यात्म अन्तस्तत्त्व की निश्छल गतिविधि का रूपान्तर है। उसका साध्य परमात्मा का साक्षात्कार और उससे एकरूपता की प्रतीति है। यह प्रतीति किसी न किसी साधनापथ अथवा धर्म पर आधारित हुए बिना सम्भव नहीं। साधारणतः विद्वानों का यह मत है कि धर्म या सम्प्रदाय को रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि धर्म या सम्प्रदाय ईश्वरीय शास्त्र (Theology) के साथ जुड़ा रहता है। इसमें विशिष्ट आचार, बाह्य पूजन पद्धति, साम्प्रदायिक व्यवस्था आदि जैसी बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है जो रहस्यवाद के लिए उतने आवश्यक नहीं।[४८]

पर यह मत तथ्यसंगत नहीं। प्रथम तो यह कि ईश्वरीय शास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक धर्म अथवा सम्प्रदाय से उस रूप में नहीं जिस रूप में वैदिक अथवा ईसाई धर्म में है। जैन और बौद्ध दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं माना गया। दूसरी बात, बाह्य पूजन पद्धति, कर्मकाण्ड आदि का सम्बन्ध भी जैनधर्म और बौद्ध धर्म के मूल रूपों में नहीं मिलता। ये तत्त्व तो श्रद्धा और भक्ति के विकास के सूचक हैं।

उक्त धर्मों का मूल तत्त्व तो संसरण के कारणों को दूर कर निर्वाण की प्राप्ति करना है। यही मार्ग उन धर्मों का वास्तविक आध्यात्म मार्ग है। इसी को हम तत्तद् धर्मों का 'रहस्य' भी कह सकते हैं।

रहस्यवाद और दर्शन

यद्यपि दर्शन की अन्तिम परिणति अध्यात्म मे होती है। पर व्यवहारतः अध्यात्म और दर्शन में अन्तर होता है। अध्यात्म अनुभूतिपरक है जबकि दर्शन बौद्धिक चेतना का दृष्टा है। पहले में तत्त्वज्ञान पर बल दिया जाता है जबकि दूसरा उसकी पद्धति और विवेचना पर घूमता रहता है। इसलिए रहस्यभावना का विस्तार विविध दार्शनिक परम्पराओं तक हो जाता है चाहे वे प्रत्यक्षवादी हो अथवा परोक्षवादी। वह एक जीवन पद्धति से जुड़ जाती है जो व्यक्ति को परमपद तक पहुचा देती है। अतएव रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद व्यक्ति के क्रियाकलाप में अथ से लेकर इति तक व्याप्त रहता है।

रहस्यवाद का सम्बन्ध जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी न किसी धर्मदर्शन-विशेष से अवश्य रहेगा। ऐसा लगता है, अभी तक रहस्यवाद की व्याख्या और उसकी परिभाषा मात्र वैदिक दर्शन और संस्कृति को मानदण्ड मानकर ही की जाती रही है। ईसाई धर्म भी इस सीमा से बाहर नहीं है। इन धर्मो में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता आदि स्वीकार किया गया है और इसीलिए रहस्यवाद को उस ओर अधिक मुड़ जाना पड़ा। परन्तु जहां तक श्रमण संस्कृति और दर्शन का प्रश्न है, वहां तो इस रूप में ईश्वर का कोई अस्तित्व है ही नहीं। वहां तो आत्मा ही परमात्मपद प्राप्तकर तीर्थंकर अथवा बुद्ध बन सकता है। उसे अपने अन्धकाराच्छन्न मार्ग को प्रशस्त करने के लिए एक प्रदीप की आवश्यकता अवश्य रहती है।

रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद के प्रकार

रहस्यभावना अथवा रहस्यवाद के प्रकार साधनाओं के प्रकारों पर अवलम्बित है। विश्व में जितनी साधनायें होगी, रहस्यवाद के भी उतने भेद होंगे। उन भेदों के भी प्रभेद मिलेंगे। उन सब भेदों-प्रभेदों को देखने पर सामान्यत: दो भेद किये जाते हैं। भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद। भावनात्मक रहस्यवाद अनुभूति पर आधारित है और साधनात्मक रहस्यवाद समतावादी आचार-विचार युक्त योगसाधना पर। दोनों का लक्ष्य एक ही है। परमात्मपद अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में परमपद से विमुक्त आत्मा द्वारा उसकी प्राप्ति के संदर्भ में प्रेम अथवा दाम्पत्य भाव टपकता है। अभिव्यक्ति की असमर्थता होनेपर प्रतीकात्मक रूप में अपना अनुभव व्यक्त किया जाता है। योग साधनों को भी वह स्वीकार करता है और फिर भावावेश में आकर अन्य आध्यात्मिक तथ्यों किंवा सिद्धान्तों का निरूपण करने लगता है। अत: डॉ० त्रिगुणायत के स्वर में हम अपना स्वर मिलाकर रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद के निम्न प्रकार कह सकते हैं -

१. भावात्मक या प्रेम प्रधान रहस्य भावना,
२. अभिव्यक्तिमूलक अथवा प्रतीकातमक रहस्यभावना,
३. प्रकृतिमूलक रहस्य भावना,
४. यौगिक रहस्य भावना, और
५. आध्यात्मिक रहस्य भावना।

रहस्य भावना के ये सभी प्रकार भवनात्मक और साधनात्मक रहस्यभावना के अन्तर्गत आ जाते हैं। उनकी साधना अन्तर्मुखी और

बहिर्मुखी दोनों होती हैं। अन्तर्मुखी साधना में साधक अशुद्धात्मा के मूल स्वरूप विशुद्धात्मा को प्रियतम अथवा प्रियतमा के रूप में स्वीकारकर उसे योगादि के माध्यम से खोजने का प्रयत्न करता है तथा बहिर्मुखी साधना मे विविध आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। जैन साधना में ये दोनों प्रकार की साधनायें उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः कोई भी रहस्यभावना भावनात्मक और साधनात्क क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकती।

रहस्य भावना का सम्बन्ध चरम तत्त्व को प्राप्त करने से रहा है और चरम तत्त्व कासम्बन्ध किसी एक धर्म अथवा योग साधना विशेष से रहना सम्भव नहीं। इसलिए रहस्यभावना की पृष्ठभूमि में साधक की जिज्ञासा और उसका आचरित सम्प्रदाय विशेष महत्त्व रखता है। सम्प्रदायों और उनके आचारों का वैभिन्य सम्भवतः विचारों और साधनाओं में वैविध्य स्थापित कर देता है। इसलिए साधारण तौर पर आज जों वह मान्यता है कि रहस्यवाद का सम्बन्ध भरतीय साधनाओं में मात्र वैदिक साधना से ही है, भ्रम मात्र है। प्रत्येक सम्प्रदाय का साधक अपने किसी न किसी आप्त पुरुष में अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने की दृष्टि से उनके ही द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करता है और अलौकिक स्वसंवेद्य अनुभवों को प्रतीक आदि माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि आधुनिक रहस्यवाद की परिभाषा में भी मत वैभिन्य देखा जाता है।

इसके बावजूद अधिकांश साधनाओं में इतनी समानता दिखाई देती है कि जैसे वे हीनाधिक रूप से किसी एक ही सम्प्रदाय से सम्बद्ध हों। यह अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक साधक का लक्ष्य उस अदृष्ट शक्ति विशेष की आत्मसात करना है। उसकी प्राप्ति के लिए

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी-धारा का पवित्र प्रवाह अपेक्षित है। रहस्यवाद की भूमिका इन तीनों की सुन्दर संगम-स्थली है। परम सत्य या परमात्मा के आत्मसाक्षात्कार के स्वरूप का वर्णन सभी साधक एक जैसा नहीं कर सके क्योंकि वह अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक है, और उसकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त है। अत: अनेक कथनों से उसे व्यंजित किया जाना स्वाभाविक है। उनमें जैन दर्शन के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अनुसार किसी का भी कथन गलत नहीं कहा जा सकता। रहस्यभावना में वैभिन्य पाये जाने का यही कारण है। सम्भवत: पद्मावत में जायसी ने निम्न छन्द से इसी भाव को दर्शाया है-

"विधना के मारग है तेते। सरग लखत तन रौवा जेते।।"

इस वैभिन्य के होते हुए भी सभी का लक्ष्य एक ही रहा है - परम सत्य की प्राप्ति और परमात्मा से आत्मसाक्षात्कार।

रहस्य भावना और रहस्यवाद की परम्परा

वैदिक रहस्यभावना - रहस्य भावना की भारतीय परम्परा वैदिक युग से प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से नासदीय सूक्त और पुरुष सूक्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। नासदीय सूक्त में एक ऋषि के रहस्यात्मक अनुभवों का वर्णन है। तदनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में न सत् था न असत् और न आकाश था। किसने किसके सुख के लिए आवरण डाला? तब अगाधजल भी कहां था? न मृत्यु थी अमृत। न रात्रि को पहिचाना जा सकता था, न दिन को। वह अकेला ही अपनी शक्ति से श्वासोच्छवास लेता रहा इसके परे कुछ भी न था।[४९] 'पुरुषसूक्त' में रहस्यमय ब्रह्म के

स्वरूप की तो बड़ी सुन्दर कल्पना की गयी है।[५०] यहां यज्ञ की प्रमुखता के साथ ही बहुदेवतावाद का जन्म हुआ और फिर जनमानस एक देवतावाद की ओर मुड़ गया।

उपनिषद् साहित्य में यह रहस्य भावना कुछ और अधिक गहराई के साथ अभिव्यक्त हुई है। वेदों से उपनिषदों तक की यात्रा में ब्रह्म विद्यापूर्ण रहस्यमयी और गुह्य बन चुकी थी। उसे पुत्र, शिष्य अथवा प्रशान्तचित्तवान् व्यक्ति को ही देने का निर्देश है।[५१] जरत्कारु और याज्ञवल्क का संवाद भी हमारे कथन को पुष्ट करता है। कठोपनिषद् में आत्मा की उपलब्धि आत्मा के द्वारा ही सम्भव बताई गई है। वहां उस आत्मा को न प्रवचन से, न मेघ से और न बहुश्रुत से प्राप्त बताया गया है।[५२] तर्क से भी वह गम्य नहीं।[५३] वह तो परमेश्वर की भक्ति और स्वयं के साक्षात्कार अथवा अनुभव से ही गम्य है।[५४] मुण्डकोपनिषद् की पराविद्या यही ब्रह्म विद्या है। यही श्रेय है। इसी को अध्यात्मनिष्ठ कहा गया है। अविद्या के प्रभाव से प्रत्येक आत्मा स्वयं को स्वतन्त्र मानता है परन्तु वस्तुतः वैदिक रहस्यवादी विचारधारा के अनुसार वे सभी ब्रह्म के ही अंश हैं। यही ब्रह्म शक्तिशाली और सनातन है।

यह ब्रह्मविद्या अविद्या से प्राप्त नहीं की जा सकती। परमात्म-ज्ञान से ही यह अविद्या दूर हो सकती है।[५५] श्वेताश्वतरोपनिषद् में कैवल्य प्राप्ति की चार सीढ़ियों का निर्देशन किया गया है।[५६]

१. यौगिक साधनों और ध्यानयोग प्रक्रिया के माध्यम से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होना अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार होना।

२. ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण क्लेशों को दूर होना।

३. क्लेशक्षय पाने पर जन्म-मृत्यु से मुक्त होना, और

४. जन्म मृत्यु से मुक्त होने पर कैवल्यावस्था प्राप्त होना।

वेद और उपनिषद् के बाद गीता, भागवत् पुराण, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र और नारद भक्तिसूत्र वैदिक रहस्यवादी प्रवृत्तियों के विकासात्मक सोपान कहे जा सकते हैं। 'तत्त्वमसि, सोऽहं, अहं ब्रह्माऽस्मि' जैसे उपनिषद् के वाक्यों में अभिव्यक्त विचारधारा उत्तरकालीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य को प्रभावित करती हुई आगे बढ़ती है। सिद्ध सम्प्रदाय और नाथ सम्प्रदाय का रहस्यवाद यद्यपि अस्पष्ट सा रहा है पर उसका प्रभाव भक्तिकालीन कवि कबीर, दादू और जायसी पर पड़े बिना न रहा। ये कवि निर्गुणवादी भक्त रहे। सगुणवादी भक्ति कवियों में मीरा, सूर और तुलसी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें मीरा और सन्त कवियों की रहस्य भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं। तुलसी की रहस्य भावना में दाम्पत्य भावना इतनी गहराई तक नहीं पहुंच पाई जितनी जायसी के कवि में मिलती है। रीतिकाल में आकर यह रहस्य भावना शुष्क-सी हो गई। आधुनिक काल में प्रसाद पन्त निराला और महादेवी जैसी कवियों में अवश्य वह प्रस्फुटित होती हुई दिखाई देती है जिसे आलोचकों ने रहस्यवाद कहा है।

बौद्ध रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद

साधारणतः यह माना जाता है कि रहस्यवाद वहीं हो सकता है जहां ईश्वर की मान्यता है। पर यह मत श्रमण संस्कृति के साथ नहीं बैठ सकता। जैन और बौद्ध धर्म वेद और ईश्वर को नहीं मानते। वैदिक

संस्कृति की कुछ शाखाओं ने भी इस संदर्भ में प्रश्न चिन्ह खड़े किये हैं। इसके बावजूद वहां हम रहस्य भावना पर्याप्त रूप में पाते हैं। अतः उपर्युक्त मत को व्याप्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को अव्याकृत से लेकर निरात्मवाद तक चलना पड़ा।[५७] ईश्वर को भी वहां सृष्टि का कर्ता, हर्ता और धर्ता नहीं माना गया। फिर भी पुनर्जन्म अथवा संसरण से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को चतुरार्य सत्य का सम्यग्ज्ञान होना आवश्यक है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रज्ञा, शील और समाधि ये तीन साधन दिये गये हैं। इतर साधनों के माध्यम से चित्त (आत्मा ?) अन्तोगत्वा बुद्धत्व की प्राप्ति कर लेता है। आगे चलकर महायानी साधना अपेक्षाकृत अधिक गुह्य बन गई। उसने हठयोग और तांत्रिक साधना को भी स्वीकार कर लिया। महायान का शून्यवाद पूर्ण रहस्यवादी-सा बन जाता है। कबीर आदि कवियों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाई देता हैं। समूची बौद्ध साधना का पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा, चित्त अथवा संस्कार को बुद्धत्व में मिला देने की साधना प्रक्रिया के रूप में रहस्य भावना बौद्ध साधकों में भली भांति रही है।

जैन रहस्य भावना

साधारणतः जैनधर्म से रहस्य भावना अथवा रहस्यवाद का सम्बन्ध स्थापित करने पर उसके सामने आस्तिक नास्तिक होने का प्रश्न खड़ा हो जाता है। परिपूर्ण जानकारी के बिना जैनधर्म को कुछ विद्वानों ने नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में बैठा दिया है, यह आश्चर्य का विषय है। इसी कल्पना पर यह मन्तव्य व्यक्त किया जाता है कि

जैनधर्म रहस्यवादी हो नहीं सकता क्योंकि वह वेद और ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। यही मूल में भूल है।

प्राचीन काल में जब वैदिक संस्कृति का प्राबल्य था, उस समय नास्तिक की परिभाषा वेद-निन्दक के रूप में निश्चित कर दी गई। परिभाषा के इस निर्धारण में तत्कालीन परिस्थिति का विशेष हाथ था। वेदनिन्दक अथवा ईश्वर सृष्टि का कर्ता, हर्ता, धर्ता के रूप में स्वीकार न करने वाले सम्प्रदायों में प्रमुख सम्प्रदाय थे जैन और बौद्ध। इसलिए उनको नास्तिक कह दिया। इतना ही नहीं, निरीश्वरवादी मीमांसक और सांख्य जैसे वैदिक भी नास्तिक कहे जाने लगे।

सिद्धान्ततः नास्तिक की यह परिभाषा निन्तान्त असंगत है। नास्तिक और आस्तिक की परिभाषा वस्तुतः पारलौकिक अस्तित्व की स्वीकृति और अस्वीकृति पर निर्भर करती है। आत्मा और परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला आस्तिक और उसे अस्वीकार करने वाला नास्तिक कहा जाना चाहिए था। पाणिनिसूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४-४-६०) से भी यह बात पुष्ट हो जाती है। जैन संस्कृति के अनुसार आत्मा अपनी विशुद्धतम अवस्था में स्वयं ही परमात्मा का रूप ग्रहण कर लेती है। दैहिक और मानसिक विकारों से वह दूर होकर परमपद को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार यहां स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की व्यवस्था स्वयं के कर्मो पर आधारित है। अतः जैन दर्शन की गणना नास्तिक दर्शनों में करना नितान्त असंगत है।

जैन रहस्यभावना भी श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत आती है। बौद्ध साधना ने जैन साधना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैन

साधकों ने आत्मा को केन्द्र के रूप में स्वीकार किया है। यही आत्मा जब तक संसार में जन्म-मरण का चक्कर लगाता है, तब तक उसे अविशुद्ध अथवा कर्माच्छादित कहा जाता है और जब वह कर्म से *मुक्त हो जाता है तब उसे आत्मा की विशुद्ध अवस्था कहा जाता है।* आत्मा की इसी विशुद्धावस्था को परमात्मा कहा गया है। परमात्म पद की प्राप्ति स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान के होने पर ही होती है। भेदविज्ञान की प्राप्ति मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित आचरण से हो पाती है। इस प्रकार आत्मा द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन रहस्यभावना की अभिव्यक्ति है। आगे के अध्यायों मे हम इसी का विश्लेषण करेंगे।

यहां हम ध्यातव्य है कि रहस्यभावना भाने के लिए स्वानुभूति का होना अत्यावश्यक है। अनुभूति का अर्थ है अनुभव। बनारसीदास ने शुद्ध निश्चय, शुद्ध व्यवहारनय और आत्मानुभव को मुक्ति का मार्ग बताया है। उन्होंने अनुभव का अर्थ बताते हुए कहा है कि आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिक रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहा जाता है।

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादन रस ऊपजै, अनुभौ याको नाम।।[५८]

कवि बनारसीदास ने इस अनुभव को चिन्तामणिरत्न, शान्तरस का कूप, मुक्ति का मार्ग और मुक्ति का स्वरूप माना है। इसी का विश्लेषण करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं। इसका आनन्द कामधेनु

चित्रावेली के समान है। इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। यह कर्मो का क्षय करता है और परमपद से प्रेम जोड़ता है। इसके समान अन्य धर्म नहीं है।

अनुभौ चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभौ मारग मोख को, अनुभव मोख स्वरूप।।१८।।
अनुभौ के रस सो रयायन कहत जग।
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।।
अनुभौ की जो रसा कहावे सोई पोरसा सु।
अनुभौ अघोरसासौं ऊरध की दौर है।
अनुभौ की केलि यहै, कामधेनु चित्रावेली।
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सौ प्रीति जोरे।
अनुभौ समान न धरम कौऊ और है।।१९।।[५९]

रूपचन्द पाण्डे ने इस अनुभूति को आत्म ब्रह्म की अनुभूति कहकर उसे दिव्यबोध की प्राप्ति का साधन बताया है। चेतन इसी से अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य प्राप्त करता है और स्वतः उसका साक्षात्कारकर चिदानन्द चैतन्य का रसपान करता है -

अनुभौ अभ्यास में निवास सुध चेतन को,
अनुभौ सरूप सुध बोध को प्रकाश है।
अनुभौ अपार उपरहत अनन्त ज्ञान;
अनुभौ अनन्त त्याग ज्ञान सुखरास है।
अनुभौ अपार सार आप ही का आप जानै,
आप ही में व्याप्त दीसै जामें जड़ नास है।

अनुभौ अरूप है सरूप चिदानन्द चन्द,
अनुभौ अतीत आठ कर्म स्यौ अकास है।।१।।[६०]

जिस प्रकार वैदिक संस्कृति में ब्रह्मवाद अथवा आत्मवाद को अध्यात्मनिष्ठ माना है उसी प्रकार जैन संस्कृति में भी रहस्यवाद को आध्यात्मवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। पं. आशाधर ने अपने योग विषयक ग्रन्थ के 'अध्यात्मरहस्य' उल्लिखित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य अध्यात्म को रहस्य मानते थे। अतः आज के रहस्यवाद को अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। यही उसकी रहस्यभावना है जिसपर वह आधारित है।

बनारसीदास ने इस अध्यात्म या रहस्य की अभिव्यक्ति के माध्यम को अध्यात्म शैली नाम दिया। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि जैसे साधकों ने इसी का अनुभव किया है और इसी को अपनी अभिव्यक्ति का साधन अपनाया है -

इस ही सुरस के सवादी भये ते तो सुनो,
तीर्थंकर चक्रवर्ती शैली अध्यात्म की।
बल वासुदेव प्रति वासुदेव विद्याधर,
चारण मुनीन्द्र इन्द्र छेदी बुद्धि भ्रम की।।[६१]

अध्यात्मवाद का तात्पर्य है आत्म चिन्तन। आत्मा के दो भाव हैं - आगमरूप और अध्यात्मरूप। आगम का तात्पर्य है वस्तु का स्वभाव और अध्यात्म का तात्पर्य आत्मा का अधिकार अर्थात् आत्म द्रव्य। संसार में जीव के दो भाव विद्यमान रहते हैं - आगम रूप कर्म पद्धति और अध्यात्मरूप शुद्धचेतन पद्धति। कर्म पद्धति में द्रव्यरूप और भावरूप कर्म आते हैं। द्रव्यरूप कर्म पुद्गल परिणाम कहलाते हैं और भावरूप कर्मपुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणति कहलाते हैं। शुद्ध चेतना पद्धति का तात्पर्य है शुद्धात्म परिणाम। वह भी द्रव्य रूप और

भाव रूप दो प्रकार का है। द्रव्य रूप परिणाम वह है जिसे हम जीव कहते हैं और भाव रूप परिणाम में अनन्त चतुष्टय, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की प्राप्ति मानी जाती है।[६२] इस प्रकार अध्यात्म से सीधा सम्बन्ध आत्मा का है।

अध्यात्म शैली का मूल उद्देश्य आत्मा को कर्मजाल से मुक्त करना है। प्रमाद के कारण व्यक्ति उपदेशादि तो देता है। पर स्वयं का हित नहीं कर पाता। वह वैसा ही रहता है जैसा दूसरों के पंकयुक्त पैरों को धोने वाला स्वयं अपने पैरों को नहीं धोता।[६३] यही बात कलाकार बनारसीदास ने अध्यात्म शैली की विपरीत रीति को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[६४] इस अध्यात्म शैली को ज्ञाता साधक की सुदृष्टि ही समझ पाती है -

अध्यातम शैली अन्य शैली को विचार तैसो,
ज्ञाता की सुदृष्टिमांहि लगे एतो अन्तरो।।[६५]

एक और रूपक के माध्यम से कविवर ने स्पष्ट किया है कि जिनवाणी को समझने के लिए सुमति और आत्मज्ञान का अनुभव आवश्यक है। सम्यक् विवेक और विचार से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। शुक्लध्यान प्रकट हो जाता है, और आत्मा अध्यात्म शैली के माध्यम से मोक्षरूपी प्रासाद में प्रवेश कर जाता है।[६६]

जिनवाणी दुग्ध मांहि। विजया सुमति डार,
निजस्वाद कंद वृन्द चहल पहल में।
'मिथ्यासोफी' मिटि गये ज्ञान की गहल में,
'शीरनी' शुक्ल ध्यान अनहद 'नाद' तान,
'गान' गुणमान करे सुजस सहल में।
'बानारसीदास' मध्यनायक सभा समूह,
अध्यात्म शैली चली मोक्ष के महल में।।

बनारसीदास को अध्यात्म के बिना परम पुरुष का रूप ही नहीं दिखाई देता। उसकी महिमा अगम और अनुपम है। वसन्त का रूपक लेकर कविवर ने पूरा अध्यातम फाग लिखा है। सुमति रूपी कोकिला मधुर संगीत गा रही है, मिथ्याभ्रम रूपी कुहरा नष्ट हो गया है। माया रूपी रजनी का स्थितिकाल कम हो गया, मोहपंक घट गया, संशय रूपी शिशिर समाप्त हो गया, शुभ दल पल्लव लहलहा पडे, अशुभ पतझर प्रारम्भ हो गई, विषयरति मालती मलिन हो गई, विरति वेलि फेल गई, विवेक शशि निर्मल हुआ आत्मशक्ति सुचन्द्रिका विस्तृत हुई, सुरति-अग्निज्वाला जाग उठी, सम्यक्त्व-सूर्य उदित हो गया, हृदय-कमल विकसित हो गया, धारणा-धारा शिव-सागर की और वह चली, नय पंक्ति चर्चरी के साथ ज्ञानध्यान डफ का ताल बजा, साधनापिचकारी चली, संवरभाव-गुलाल उड़ा, दया-मिठाई, तप-मेवा, शील-जल, संयम-ताम्बूल का सेवन हुआ, परम ज्योति प्रगट हुई, होलिका में आग लगी, आठ काठकर्म जलकर बुझ गये और विशुद्धावस्था प्राप्त हो गई।[६७]

अध्यात्मरसिक बनारसीदास आदि महानुभावों के उपर्युक्त गम्भीर विवेचन से यह बात छिपी नहीं रही कि उन्होंने आध्यात्मवाद और रहस्यवाद को एक माना है। दोनों का प्रस्थान बिन्दु, लक्ष्य प्राप्त तथा उसके साधन समान हैं, दोनों शान्त रस के संवाहक हैं। अतः हमने यहां दोनों को समान मानकर चिन्तन यात्रा की है।

''गूंगे का सा गुड़ै'' की इस रहस्यानुभूति में तर्क अप्रतिष्ठित हो जाता है - 'कहत कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी' और वाद-विवाद की ओर से मन दूर होकर भगवद् भक्ति में लीन हो जाता है।[६८] उसकी अनुभूति साधक की आत्मा ही कर सकती हैं। रूपचन्द ने इसी को 'चेतन अनुभव घट प्रतिमास्यों', चेतन अनुभव धन मन

मीनो' आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया है।[६९] सन्त सुन्दरदास ने ब्रह्म साक्षात्कार का साधन अनुभव को ही माना है।[७०] बनारसीदास के समान ही सन्त सुन्दरदास ने भी उसके आनन्द को 'अनिर्वचनीय' कहा है।[७१] उन्होंने उसे साक्षात् ज्ञान और प्रलय की अग्नि माना है जिसमें सभी द्वैत, द्वन्द और प्रपंच विलीन हो जाते हैं।[७२]

कबीर ने उसे 'आप पिछानै आपै आप'[७३] तथा सुन्दरदास ने 'आपहु आपहि जानै' स्वीकार किया है।[७४] भैया भगवतीदास ने इसी को शुद्धात्मा का अनुभव कहा है।[७५] बनारसीदास ने पंचामृत मान को भी अनुभव के समक्ष तुच्छ माना है और इसलिए उन्होंने कह दिया - 'अनुभौ समान धरम कोऊ ओर न'[७६] अनुभव के आधार स्तम्भ ज्ञान, श्रद्धा और समता आदि जैसे गुण होते हैं।[७७] कबीर और सुन्दरदास जैसे सन्त भी श्रद्धा की आवश्यकता पर बल देते हैं।

इस प्रकार अध्यात्म किंवा रहस्य साधना में जैन और जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वानुभूति की प्रकर्षता पर बल दिया है। इस अनुभूतिकाल में आत्मा को परमात्मा अथवा ब्रह्म के साथ एकाकारता की प्रतीति होने लगती है। यही समता और समरसता का भाव जागरित होता है। इसके लिए सन्तों और आचार्यों को शास्त्रों और आगमों की अपेक्षा स्वानुभूति और चिन्तनशीलता का आधार अधिक रहता है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने सन्तों के सन्दर्भ में सही लिखा है - ये तत्त्व सीधे शास्त्र से नहीं आये, वरन् शताब्दियों की अनुभूति-तुला पर तुला कर, महात्माओं के व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर, सत्संग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों को सुगन्धितमधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धित मधु में नहीं है, उस मधु निर्माण के भ्रमर में अनेक पुण्य तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट हैं। अनेक

पुष्पों की क्यारियां मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।[८८]

जैन और जैनेतर रहस्य भावना में अन्तर

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन और जैनेतर रहस्य भावना में निम्नलिखित अन्तर है -

(१) जैन रहस्य भावना आत्मा और परमात्मा के मिलने की बात अवश्य करता है पर वहां आत्मा से परमात्मा मूलतः पृथक् नहीं। आत्मा की विशुद्धावस्था को ही परमात्मा कहा जाता है जबकि अन्य साधनाओं में अन्त तक आत्मा और परमात्मा दोनों पृथक् रहते हैं। आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने पर भी आत्मा परमात्मा नहीं बन पाता। जैन साधना अनन्त आत्माओं के अस्तित्व को मानता है पर जैनेतर साधनाओं में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है।

(२) जैन रहस्य भावना में ईश्वर को सुख-दुःख दाता नहीं माना गया। वहां तीर्थंकर की परिकल्पना मिलती है जो पूर्णतः वीतरागी और आप्त है। अतः उसे प्रसाद-दायक नहीं माना गया। वह तो मात्र दीपक के रूप में पथ-दर्शक स्वीकार किया गया है। उत्तरकाल में भक्ति आन्दोलन हुए और उनका प्रभाव जैन साधना पर भी पड़ा। फलतः उन्हें भक्तिवश दुःखहारक और सुखदायक के रूप में स्मरण किया गया है। प्रेमाभिव्यक्ति भी हुई है पर उसमें भी वीतरागता के भाव अधिक निहित हैं।

(३) जैन साधना अहिंसा पर प्रतिष्ठित है। अतः उसकी रहस्य भावना भी अहिंसा मूलक रही। षट्चक्र, कुण्डलिनी आदि जैसी

तान्त्रिक साधनाओं का जोर उतना अधिक नहीं हो पाया जितना अन्य साधनाओं में हुआ।

(४) जैन रहस्य भावना का हर पक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप पर आधारित है।

(५) स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान उसका केन्द्र है।

(६) प्रत्येक विचार निश्चय और व्यवहार नय पर आधारित है।

जैन और जैनेतर रहस्य भावना में अन्तर समझाने के बाद हमारे सामने जैन साधकों की एक लम्बी परम्परा आ जाती है। उनकी साधना को हम आदिकाल मध्यकाल और उत्तरकाल के रूप में विभाजित कर सकते हैं। इन कालों में जैन साधना का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है। इसे संक्षेप में हमने प्रस्तुत प्रबन्ध की भूमिका में उपस्थित किया है। अतः यहां इस सन्दर्भ में अधिक लिखना उपयुक्त नहीं होगा। बस, इतना कहना पर्याप्त होगा कि जैन रहस्य भावना तीर्थंकर ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर पार्श्वनाथ और महावीर तक पहुंची, महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द, मुनि योगेन्दु मुनि रामसिंह, आनन्दतिलक, बनारसीदास, भगवतीदास, आनन्दघन, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम आदि जैन रहस्य साधकों के माध्यम से रहस्य भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया। पर यह विकास अपने मूल स्वरूप से उतना अधिक दूर नहीं हुआ जितना बौद्ध साधना का विकास। यही कारण है कि जैन रहस्य साधना से जैनेतर रहस्य साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। इसका तुलनात्मक अध्ययन आदिकालीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से किया जाना अभी शेष है। इस अध्ययन के बाद विश्वास है,

रहस्यवाद किंवा रहस्य भावना के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

अन्त में यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि छायावाद मूलतः एक साहित्यिक आन्दोलन रहा है जबकि रहस्यवाद की परम्परा आद्य परम्परा रही है। इसलिए रहस्यवाद छायावाद को अपने सुकोमल अंग में सहजभाव से भर लेता है। फलतः हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों ने यत्र-तत्र रहस्यवाद और छायावाद को एक ही तुला पर तौलने का उपक्रम किया है। वस्तुतः एक असीम है, सूक्ष्म है, अमूर्त है जबकि दूसरा ससीम है, स्थूल है और मूर्त है। रहस्य भावना में सगुण साकार भक्ति से निर्गुण निराकार भक्ति तक साधक साधना करता है। पर छायावाद में इस सूक्ष्मता के दर्शन नहीं होते। मानवतावाद और सर्वोदयवाद को भी रहस्यवाद का पर्यायार्थक नहीं कहा जा सकता। रहस्यवाद आत्मपरक है जबकि मानवतावाद और सर्वोदयवाद समाजपरक है।

रहस्यवाद वस्तुतः एक काव्यधारा है जिसमें काव्य की मूल आत्मा अनुभूति प्रतिष्ठित रहती है। रहस्य शब्द गूढ, गुह्य, एकान्त अर्थ में प्रयुक्त होता हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्त्व को काव्य का 'उपनिषद्' कहा है[४] जिसे दार्शनिक दृष्टि से रहस्य कहा जा सकता है और काव्य की दृष्टि से 'रस' माना जा सकता है। रस का सम्बन्ध भावानुभूति से है जो वासनात्मक (चित्तवृत्तिरूपात्मक) अथवा आस्वादात्मक होती है। रहस्य की अनुभूति ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की अनुभूति है। कवि इस रहस्य की अनुभूति को तन्मयता से जोड़ लेता है जहां रस-संचरण होने लगता है। यह अनुभूति आत्मपरक होती है, भावना मूलक होती है।

भावना शब्द का प्रयोग जैन दर्शन में अनुचिन्तन, ध्यान

अनुप्रेक्षणके अर्थ में हुआ है। वेदान्त में इसी को निदिध्यासन माना है। व्याकरण में भावना को 'व्यापार' का पर्यायार्थक कहा है।[७९] भट्टनायक इसी को भावकत्व अथवा साधारणीकरण के रूप में स्वीकार करते हैं।[८०] यही रसानुभूति है जो सहृदय के हृदय में व्याप्त हो जाती है। भावना के अभाव में अभिव्यक्ति किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं है। इसलिए कवि के लिए भावना एक साधन का काम करती है। आध्यात्मिक भाव दृष्टा रहस्य की साक्षात् भावना करता है जबकि कवि उसकी भावात्मक अनुभूति करता है। जैन साधक अध्यात्मिक कवि हुए हैं जिनमें रहस्य भावना का संचार दोनों रूपों में हुआ है। उनका स्थायी भाव वैराग्य रहा है। और वे शान्तरस के पुजारी माने जाते हैं।[८१]

वाद के जाल में फंसकर यह रहस्य भावना रहस्यवाद के रूप में आधुनिक साहित्य में प्रस्फुटित हुई है। इसका वास्तविक सम्बन्ध अध्यात्मविद्या से है जो आत्म परक होती है। अन्तः साक्षात्कार केन्द्रीय तत्त्व है। अनुभूति उसका साधन है। मोक्ष उसका साध्य है जहां आत्मज्ञान के माध्यम से जिन तत्त्व और अहंतत्त्व में अद्वैत भाव पैदा हो जाता है।[८२]

जैन कवि बाद के पचड़े में नहीं रहे। वे तो रहस्य भावना तक ही सीमित रहे हैं। इसलिए हमने यहां दर्शन और काव्य की समन्वयात्मकता को आधार मना है जहां साधकों ने समरस होकर अपने भावों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। वे साधक पहले हैं, कवि बाद में हैं। जहां कहीं दार्शनिक कवि और साधक का रूप एक साथ भी दिखाई दे जाता है। वाद शैली का द्योतक है और भावना अनुभूति परक है। जैन कवि भावानुभूति में अधिक जुटे रहे हैं। इसलिए हमने यहां

'रहस्यवाद' के स्थान पर रहस्य भावना को ही अधिक उपयुक्त माना है। रहस्य भावना के विवेचन के कारण रहस्यवाद का काव्यपक्ष भी हमारे अध्ययन की परिधि से बाहर हो गया है।

रहस्यवादी प्रारम्भिक हिन्दी जैन साहित्य अपभ्रंश से अधिक प्रभावित है। इस साहित्य में महापुराण, चरितकाव्य, रूपककाव्य, कथा ग्रन्थ, सन्धि काव्य, रासो और स्तोत्र- स्तवन आदि विविध रूप पाये जाते हैं। पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) और स्वयंभू छन्द इनकी विख्यात कृतियां हैं। इन ग्रन्थों में यथास्थान कवि ने जैन रहस्य भावना को बडे मार्मिक ढंग से व्याख्यायित किया है। पुष्पदन्त (१०वीं शती) ने भी अपने अपभ्रंश महापुराण, णायकुमार चरिउ और जसहर चरिउ में पारम्परिक उपमानों के आधार पर जैन साधना का सुन्दर विवेचन किया है। धवल का हरिवंशपुराण, धनपाल की भविसयत्त कहा, वीरकवि का जंबुसामिचरिउ, मुनि कनकामर का करकंडचरिउ, धाहिल का पउमसिरि चरिउ, पद्मकीर्ति का पासचरिउ, श्रीधर का भविसयत्त चरिउ, देवसेनगणि का सुलोचनाचरिउ, यशःकीर्ति का चंदप्पहचरिउ आदि अपभ्रंश कृतियां जैन रहस्यभावना को स्पष्ट करती हुई दिखाई देती हैं।

अपभ्रंश रास साहित्य की तीन धाराएं मिलती हैं - १) धार्मिक रास धारा, २) चरित काव्य सम्बन्धी रासधारा, और ३) लौकिक प्रेम सम्बन्धी रासधारा। उपदेशसायनरास, भरतेश्वर बाहुबलि रास आदि रासा साहित्य में जैन विचार-आचार पद्धति को स्पष्ट किया गया है। योगीन्दु ने परमप्पयासु या परमात्मप्रकाश नामक आध्यात्मिक रचना में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अवधारणा को विवेचित करते हुए रहस्य भावना की गम्भीरता को सांगोपांग प्रस्तुत किया है। इसी तरह मुनि रामसिंह का पाहुड दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा, हरिषेण

की धम्मपरिक्खा आदि अपभ्रंश ग्रन्थ भी इसी सन्दर्भ से जुडे हुए हैं जिनमें जैन रहस्य भावना का दर्शन अभिव्यक्त हुआ है।

अपभ्रंश के इन कवियों में योगीन्दु और मुनि रामसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने आद्योपान्त रहस्य साधना को अभिव्यक्ति दी है। योगीन्दु ने अपने परमात्मप्रकाश और योगसार में आत्मा के तीनों भेदों का मार्मिक चित्रण किया है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। परमात्मपद की प्राप्ति के लिये उन्होंने निश्चयनय, व्यवहारनय, सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का वर्णन किया है। उन्होंने परमात्मा को ही निरंजन देव कहा है जो पाप पुण्य, राग-द्वेषादि भावों से मुक्त होकर जन्म-मरण से परे है (१.१९-२१)। इसी तरह मुनि रामसिंह ने शुद्धात्मा को पद्मपत्रैवाम्भसा कहकर उसे नित्य और निरंजन माना है। उनकी दृष्टि में आत्मस्वरूप को जानने के लिए किसी को बाह्याचार की आवश्यकता नहीं है। उसे आवश्यकता है शुद्धात्मा की अनुभूति की (पाहुड दोहा, १६३)। अपभ्रंश की इसी परम्परा को हिन्दी जैन साहित्यकारों ने आगे बढाया है। बनारसीदास ऐसे साहित्यकारों में अग्रगणनीय हैं। रइधू ने 'सोऽहं' में अपना परिचय देते हुए इसी शुद्धात्मा का सुन्दर वर्णन किया है। जैन रहस्यभावना का यही मूलबिन्दु है।

पंचम परिवर्त

रहस्यभावना के बाधक तत्त्व

रहस्य भावना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इस ब्रह्मसाक्षात्कार को परमार्थ प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार परमपद प्राप्ति, परम सत्य, अजर-अमर पद आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। इसमें आत्म चिन्तन को रहस्यभावना का केन्द्र बिन्दु माना गया है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूतिपूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए उसे एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम उसे स्वंय में विद्यमान राग-द्वेष-मोहादिक विकारों को विनष्ट करना पड़ता है। ये ही विकार संसारी को जन्म-मरण के दु:ख सागर में डुबाये रहते हैं। उनको दूर किये बिना न साधना का साध्य पूरा होता है और न ब्रह्मसाक्षात्कार रूप परमरहस्य तत्त्व तक पहुंचा जा सकता है। यही कारण है कि प्राय: सभी साधनाओं में उनसे विमुक्त होने का उपदेश दिया गया है।

१. सांसारिक विषय-वासना

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजभाव से भावुक हो जाता है। उस अवस्था में वह कभी अपने को दोष देता है तो कभी तीर्थंकरों को बीच में लाता है। कभी रागादिक पदार्थो की ओर

निहारता है तो कभी तीर्थंकरों से प्रार्थना, विनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति और दास्यभाव को अभिव्यक्त करता है। इन सभी भावनाओं को हिन्दी जैन कवियों ने निम्न प्रकार से अपने शब्दों में गूंथने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम हम रीतिकालीन १६वीं शताब्दी की उस काव्य धारा को देखते हैं जिसमें एक विशेष पद्धति से नायक-नायिका की श्रृंगारिक चेष्टाएं वर्णित हुई हैं। चौपई फागु में अज्ञात कवि ने नारी सौन्दर्य का वर्णनकर सांसारिक विषय वासना को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया है -

करइ श्रृंगार सार गलइ हार, चरणे नेउरना झमकार,
चित्रा लंकिइति कुच कठोर, पडंती रसियां चित्त चकोर ।
पिहिरण नवरंग अनोपम चीर, गोरी चंपावन्न सरीर,
तपत कंचू कसण कसमसइ, युगम पयोधर भारिल लसइ।
जंघ यशाउ कदली थंभ, रूपइ जमलि न दीसि रंग,
मदन मेशली हीरे जड़ी नहरि जिस्या सत कमल पाशड़ी।
पद्मिनी हस्तनी चित्रणि नारि, लीलावंती रमइ मुरारि,
सोल सहस बनइ मिली अनंद, रास भासि गाइ गोव्यंद ।

(डा० भो० साडेसरा-प्राचीन फागु संग्रह पृ० ११२)

तो कवि कभी "इणि संसारि दुख भंडारी" कहकर यह कहता है कि इस सागर को वही पार कर सकता है जिसने समकित (जैनधर्म दीक्षा) स्वीकार कर लिया हो। कवि को विश्वास है कि जिनोपासना के बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता - **जग तारणु जिउ जग आधारु, जिण विणु अवरि नहीं भवपारु** (मातृका चउपइ)।

कविवर बनारसीदास संसार की नश्वरशीलता पर विचार करते हुए कहते हैं कि सारे जीवन तूने व्यापार किया, जुआ आदि खेला, सोना-चांदी एकत्रित किया, भोग वासनाओं में उलझा रहा। पर यह निश्चित है कि एक दिन यम आयेगा और तुम्हें यहां से उठा ले जायेगा। उस समय यह सारा वैभव यहीं पड़ा रह जायेगा। आंधी-सी चलेगी। सब कुछ चला जायेगा यह कराल काल की कृपाण सदैव तुम्हारे सिर पर लटकती रहती है। अब तो वृद्धावस्था भी आ गयी। इस समय तो कम से कम मन में यह सूझ आ जाय और जन्म-मरण की बात को सोचकर संसार के स्वभाव पर विचार कर लें :

वा दिन को कर सोच जिय मन है।
बनज किया व्यापारी तूने टांडा लादा भारी।
ओछी पूंजी जुआ खेला आखिर बाजी हारी रे ।।
आखिर बाजी हारी, कर ले चलने की तैयारी।
इक दिन डेार होयगा वन में।। वा दिन ।।१।।
झूठे नैना उलफत बांधी, किसका सोना किसकी चांदी।
इस दिन पवन चलेगी आंधी, किसकी बीबी किसकी बांदी।।
नाहक चित्त लगा बै धन में।। वा दिन ।।२।।
मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी ।।
मूरख सेती मूरख लियो, ज्ञानी से ज्ञानी ।।
यह मिट्टी है तेरे तन में।। वा दिन ।।३।।
कहत बनारसि सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सौ नाहीं, सिर पर काल निशाना रे ।।
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में।।वा दिन।।४।।[१]

संसरण का प्रबलतम कारण मोह और अज्ञान है जिनके कारण जीव की राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। ये प्रवृत्तियां हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की ओर मन को दौड़ाती हैं। मन की चंचलता और वचनादि की असंयमता से शुभ अथवा कुशल कर्म भी दुःखदायी हो जाते हैं। मोह के शेष रहने पर कितना भी योगासन आदि किया जाये पर व्यक्ति का चित्त आत्म-दृष्टि की ओर नहीं दौड़ता। श्रुताभ्यास करने पर भी जाति, लाभ कुल, बल, तप, विद्या, प्रभुता और रूप इन आठ भेदों से जीव अभिमान ग्रस्त हो जाता है। फलतः विवेक जाग्रत नहीं होता और आत्मशक्ति प्रगट नहीं हो पाती। इसलिए बनारसीदास जीव पर करुणाद्र होकर कहते हैं:-

देखो भई महाविकल संसारी
दुखित अनादि मोह के कारन, राग द्वेष भ्रम भारी।।[२]

यहीं आचार्य सोमकीर्ति का यशोधररास (सं. १५३६) देखिए जहां महारानी अपने रूपवान पति को धोखा देकर कोढ़ी के पास जाती है तो कवि को नारी चरित्र पर कुछ कहने का अवसर मिलता है। वे लिखते हैं:

नारी विसहर वेल, नर वंचेवाए धडिए,
नारीय नामज मोहल नारी नरकमतो तडी ए।
कुटिल पणानी खाणि, नारी नीचह गामिनी ए,
सांचु न बोलि वाणि बाधिण सापिण अगिन शिखाये।
(कासलीवाल, राजस्थान के जैन सन्त, पृ. ४८)

संसारी जीव को अनंतकाल तक इस संसार में खेलते-भटकते हो गया पर कभी उसे इसका पश्चात्ताप नहीं हुआ। वह जुआ, आलस, शोक, भय, विकथा, कौतुक, कोप, कृपणता, अज्ञानता भ्रम, निद्रा,

मद और मोह इन तेरह काठियों में रमता रहा।[३] जिस संसार में सदैव जन्म-मरण का रोग लगा रहता है, आयु क्षीण होने का कोई उपाय नहीं रहता, विविध पाप और विलाप के कारण जुड़े रहते हैं, परिग्रह का विकार मिथ्या लगता रहता है, इन्द्रिय-विषय-सुख स्वप्नवत् रहा है, उस चंचल विलास में, रे मूढ़, तू अपना धर्म त्यागकर मोहित हो गया। ऐसे मोह और हर्ष-विषाद को छोड़। जो कुछ भी सम्पत्ति मिली है वह पुण्य प्रताप के कारण। पर उसके परिग्रह और मोह के कारण तूने कर्मबंध की स्थिति बढ़ा ली। जब अन्त आवेगा तो यहां से अकेले ही जाना पड़ेगा।[४] संसार की वास्तविक स्थिति पर साधक जब चिन्तन करता है तो उसे स्पष्ट आभास हो जाता है कि यह शरीर भी अन्य पदार्थो के समान शक्ति हीन होता चला जायेगा। बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक शरीर की गिरती हुई क्रमिक अवस्था को देखकर साधक विरक्त सा हो जाता है। उसे सारा संसार नश्वर प्रतीत होने लगता है।[५]

जगजीवन को तो यह सारा संसार धन की छाया-सा दिखता है। उन्होंने एक सुन्दर रूपक में यह बात कही। पुत्र, कलत्र, मित्र, तन, सम्पत्ति आदि कर्मोदय के कारण जुड जाते हैं। जन्म-मरण रूपी वर्षा आती है और आश्रव रूपी-पवन से वे सब बह जाते हैं। इन्द्रियादिक विषय लहरों-सा विलीन हो जाता है, रागद्वेष रूप वक-पंक्ति बड़ी लम्बी दिखाई देती है, मोह-गहल की कठोर आज सुनाई पडती है, सुमति की प्राप्ति न होकर कुमति का संयोग हो जाता है, इससे भवसागर कैसे पार किया जा सकता है। पर जब रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का प्रकाश और अनंत चतुष्टय (अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य) का सुख मिलने लगता है तब कवि को यह सारा संसार क्षणभंगुर लगने लगता है- **जगत सब दीसत धन की छाया।**[६]

संसारी जीव अपनी आदतों से अत्यन्त दु:खी हो जाता है। वह न तो किसी प्रकार पंच पापों से मुक्त हो पाता है और न चार विकथाओं से। मन, वचन, काय को भी वह अपने वश नहीं कर पाता, राग द्वेषादिक जम जाते हैं, आत्म-ज्ञान हो नहीं पाता। ऐसी स्थिति में जगतराम कवि त्रस्त-सा होकर कहते हैं - 'मेरी कौन गति होगी हे गुसाई।।'[७]

द्यानतराय को तो यह सारा संसार बिल्कुल मिथ्या दिखाई देता है। वे अनुभव करते हैं कि जिस नश्वर देह को हमने अपना प्रिय माना और जिसे हम सभी प्रकार के रसपाकों से पोषते रहे, वह कभी हमारे साथ चलता नहीं, तब अन्य पदार्थो की बात क्या सोंचे? सुख के मूल स्वरूप को तो देखा समझा ही नहीं। व्यर्थ में मोह करता है। आत्मज्ञान को पाये बिना असत्य के माध्यम से जीव द्रव्यार्जन करता, असत्य साधना करता, यमराज से भयभीत होता 'मैं' और 'मेरा' की रट लगाता संसार में घूमता फिरता है। इसलिए संसार की विनाशशीलता देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं। 'मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार रे।'[८]

दौलतराम ने भी संसार को 'धोके की टाटी' कहा है और बताया है कि संसारी जीव जानबूझकर अपनी आंखों पर पट्टी बांधे हुए है। उसे समझाते हुए वे कहते हैं कि तेरे प्राण क्षण में निकल जायेंगे, तो तेरी यह मिट्टी यहीं पड़ी रह जायेगी। अत: अन्त:कपाट खोल ले और मन को वश में कर ले।[९] संसारी जीव अनंतकाल से संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगा रहा है, उत्पन्न होने से मरने तक दु:खदाह में जलता रहता है। भक्त कवि द्यानतराय को माता, पिता, पुत्र पत्नी आदि सभी स्वार्थाध दिखाई देते हैं। शरीर का रतिभाव कवि को और भी

विरागता की ओर जाने को बाध्य करता है। इसलिए इससे दूर होने के लिए वे ब्रह्मज्ञान का अनुभव आवश्यक मानते हैं। यही उनके लिए कल्याण का मार्ग है।[१०] इसी संदर्भ में भैया भगवतीदास ने चौपट के खेल में संसार का चित्रण प्रस्तुत किया है.... चौपट के खेल में तमासौ एक नयो दीसै, जगत की रीति सब याही में बनाई है।[११]

यह संसार की विचित्रता है। किसी के घर मंगल के दीप जलते हैं, उनकी आशायें पूरी होती हैं, पर कोई अंधेरे में रहता है, इष्ट वियोग से रुदन करता है, निराशा उसके घर में छायी रहती है। कोई सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनता, घोड़ों पर दौडता है पर किसी को तन ढांकने के लिए भी कपड़े नहीं मिलते। जिसे प्रातःकाल राजा के रूप में देखा वही दोपहर में जंगल की ओर जाता दिखाई देता है। जल के बबूले के समान यह संसार अस्थिर और क्षणभंगुर है। इस पर दर्प करने की क्या आवश्यकता?[१२] वह तो रात्रि का स्वप्न जैसा है, पावक में तृणपूल'सा है, काल-कुदाल लिए शिर पर खड़ा है, मोह पिशाच ने मतिहरण किया है।[१३]

संसार जीव द्रव्यार्जन में अच्छे बुरे सभी प्रकार के साधन अपनाता, मकान आदि खड़ा करता, पुत्र-पुत्री आदि के विषय में बहुत कुछ सोचता पर इसी बीच यदि यमराज की पुकार हो उठी तो 'रूपी शतरंज की बाजी' सी सब कुछ वस्तुयें यों ही पड़ी रह जातीं, उस धन-धान्य का क्या उपयोग होता ?

चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज करें जियरा जी।
गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याहि सुता सुत बांटिये भाजी।।
चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आमि अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारि गयैं, रहि जाइरूपी शतरंज की बाजी।।

जिनके पास धन है वे भी दु:खी हैं, जिनके पास धन नहीं है वे भी तृष्णावश दु:खी हैं। कोई धन-त्यागी होने पर भी सुख-लालची है, कोई उसका उपयोग करने पर दु:खी है। कोई बिना उपयोग किये ही दु:खी है। सच तो यह है कि इस संसार में कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं दिखाई देता।[१४] वह तो सांसारिक वासनाओं में लगा रहता है।[१५]

पांडे जिनदास ने जीव को माली और भव को वृक्ष मानकर मालीरासो नामक एक रूपक रचा। इस भव-वृक्ष के फल विषजन्य हैं। उसके फल मरणान्तक होते हैं- 'माली वरजे हो ना रहै, फल की भूष।[१६]

सुन्दरदास के लिए यह आश्चर्य की बात लगी कि एक जीव संसार का आनन्द भी लूटना चाहता है और दूसरी ओर मोक्ष सुख भी। पर यह कैसे सम्भव है ? पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र के पार कैसे जाया जा सकता है ? कृपाणों की शय्या से विश्राम कैसे मिल सकता है-

'पाथर की करि नाव पार-दधि उतरयौ चाहे,
काग उड़ावनि काज मूढ़ चिन्तामणि बाहे।
बसै छांह बादल तणी रचै धू के धूम,
करि कृपाण सैज्या रमै ते क्यां पावै विसराम।।[१७]

विनयविजय संसारी प्राणियों की ममता प्रवृत्ति को देखकर भावुक हो उठते हैं और कह उठते हैं - 'मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीव अकुलाय'। ये पदार्थ जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं। उनसे तूं क्यों ललचाता है ? माया के विकल्पों ने तेरी आत्मा के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित कर लिया है। मृगतृष्णा और अतृप्ति के कांटों

से पड़े रहकर दु:ख भोग रहा है। उसे ज्ञान-कुसुमों की शय्या को प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ ही नहीं। स्वयं में रहने वाले सुधा-सरोवर को देखा नहीं जिसमें स्थान करने से सभी दु:ख दूर हो जाते हैं।[१८]

कविवर दौलतराम का हृदय संसार की विनश्वरता को देखकर करुणाद्र हो जाता है और कह उठता है कि अरे विद्वन्। तुम इस 'संसार' में रमण मत करो। यह संसार केले के तने के समान असार है। फिर भी हम उसमें आसक्त हो जाते हैं क्योंकि मोह के इन्द्रजाल में हम जकड़े हुए हैं। फलत: चतुर्गतियों में जन्म-मरण के दु:ख भोग रहे हैं। इस दु:ख को अधिक व्यक्त करने के लिए कवि ने पारिवारिक सम्बन्धों की अनित्यता का सुन्दर-चित्रण किया है। उन्होंने कहा कि कभी जो अपनी पत्नी थी वह माता बन जाती है, माता पत्नी बन जाती है, पुत्र पिता बन जाता है, पुत्री सास बन जाती है। इतना ही नहीं, जीव स्वयं का पुत्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त उसने नरक पर्याय के घोर दु:खों को सहा है जिसका कोई अन्त नहीं रहा। उसे सुख वहां है कहां ! रे विद्वन् ! सुर और मनुष्य की प्रचुर विषय लिप्सा से भी तुम परिचित हो तो बताओ, कौन-सा संसार जीव सुखी है ? संसार की क्षणभंगुरता को भी तुमने परखा है। वहां महान् ऐश्वर्य और समृद्धि क्षण भर में नष्ट हो जाती है। इन्द्र जैसा ऐश्वर्यशाली तो जीव भी कुक्कुर हो जाता है, नृप कृमि बन जाता है, धन सम्पन्न भिखारी बन जाता है और तो क्या ! जो माता पुत्र के वियोग में मरकर व्याघ्रिणी बनी, उसी ने अपने पुत्र के शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिये। कवि उनसे फिर कहता है कि मनुष्य को बाल्यवस्था में हिताहित का ज्ञान नहीं रहता और तरुणावस्था में हृदय कामाग्नि से दहकता रहता है तथा वृद्धावस्था में अंग-प्रत्यंग विकल हो जाते हैं, तब बताओ, संसार में कौन-सी दशा सुखदायी है?

अन्त में कवि अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कहता है, रे विद्वन्, संसार की इसी असारता को देखकर अन्य लोग मोक्ष मार्ग के अनुगामी बने। तुम भी यदि कर्मो से मुक्ति चाहते हो तो इस क्षणिक संसार से विरक्त हो जाओ और जिनराज के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दो -

मत राचौ धी-धारी।
भंवरभ्रमरसर जानके, मत राचौ धी-धारी।।
इन्द्रजाल कौ ख्याल मोह ठक विभ्रम पास पसारी।
चहुगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी।।
रामा मा, मो बामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी।
कौ अचंभ जहाँ आप आपके पुत्रदशा विस्तारी।।
घोर नरक दुख और न घोर न लेश न सुख विस्तारी।।
सुर नर प्रचुर विषय जुरजारे, को सुखिया संसारी।।
मंडल है अखंडल छिन में, नृप कृमि, सघन भिखारी।
जा सुत-विरह मरी है वाधिनि, ता सुत देह विदारी।।
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरु उर मदन दहन परजारी।
वृद्ध भये विकलांगी थाये, कौन दशा सुखकारी।।
यों असार लख छार भव्य झट गये मोख-मग चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी।।

संसार का सुन्दर चित्रण जैन कथा साहित्य में मधुबिन्दु कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। एक व्यक्ति घनघोर जंगल में भूल गया। वह भयभीत होकर भटकता रहा। इतने में एक गज उसी की ओर दौड़ता दिखाई दिया। उसके भय से वह समीपवर्ती कुए में कूद पड़ा। कुए के किनारे लगे वटवृक्ष की शाखा को कूदते समय पकड़ लिया। उसमें मधुबिन्दुओं का छाता लगा हुआ था। उसकी बूंदों में उसकी

आसक्ति पैदा हो गई। कूप के निम्न भाग में चार विकराल अजगर मुँह फैलाये उस व्यक्ति की ओर निहार रहे थे। इधर हाथी अपनी सूड़ से वृक्ष शाखा को झकझोर रहा था और जिस शाखा से वह लटका था उसे दो चूहे काट रहे थे। मधुमक्खियां भी उस पर आक्रमण कर रही थीं। इस कथा में संसार महावत है, भवभ्रमण कूप के समान है, गज यम है, मधुमक्खियों का काटना रागादिका आक्रमण है, अजगर का कूप में होना निगोद का प्रतीक है, चार अजगर चतुर्गति के प्रतीक है, मधुबिन्दु सांसारिक सुखाभास है, दो चूहे कृष्ण शुक्लपक्ष के प्रतीक हैं। कविवर भगवतीदास ने भी इसी कथा का आधार लेकर संसार का चित्रण किया है।[१९]

कवि वूचराज ने संसार को टोड (व्यापारियों का चलता हुआ समूह) कहा है और अपने टंडाणागीत में परिवार के स्वार्थ का सुन्दर चित्रण किया है :-

'मात पिता सुत सजन सरीर दुहु सब लोग विराणावे।
इयण पंखजिम तरुवर वासे दसहुं दिशा उडाणावे।।
विषय स्वारथ सब जग वंछै करि करि बुधि बिनाणावे।
छोडि समाधि महारस नूपम मधुर विन्दु लपटाणावे।।[२०]

संसार के इस चित्रण में कवि साधकों ने एक ओर जहां संसार की विषय वासना में आसक्त जीवों की मनःस्थिति को स्पष्ट किया है वहीं दूसरी ओर उससे विरक्त हो जाने का उपदेश भी दिया है। इन दोनों के समन्वित चित्रण में साधक टूटने से बच गया। उसका चिन्तन स्वानुभूति के निर्मल जल से निखरकर आगे बढ़ गया। जैन कवियों के चित्रण की यही विशेषता है।

२. शरीर का ममत्व

रहस्य साधकों के लिए संसार के समान शरीर भी एक चिन्तन

का विषय रहा है। उसे उन्होंने समीप से देखा और पाया कि वह भी संसार के हर पदार्थ के समान वह भी नष्ट होने वाला है, समय अथवा अवस्था के अनुसार वह लीन होता चला जाता है। अध्यात्म रसिक भूधर कवि ने शरीर को चरखा का रूप देकर उसकी यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। इस सन्दर्भ में मोह-मग्न व्यक्ति को सम्बोधते हुए वे कहते हैं कि शरीर रूपी चरखा जीर्ण-शीर्ण हो गया। उससे अब कोई काम नहीं लिया जा सकता। वह आगे बढ़ता ही नहीं। उसके पैर रूप दोनों खूंटे हिलने लगे, फेफड़ों में से कफ की घर्र-घर्र आवाज आने लगी जैसे पुराने चरखेसे आती है, उसे मनमाना चलाया नहीं जा सकता। रसना रूप तकली लड़खड़ा गयी, शब्द रूप सूत से सुधा नहीं निकलती, जल्दी-जल्दी शब्द रूप सूत टूट जाता है, आयु रूप माल का भी कोई विश्वास नहीं, वह कब टूट जाय, विविध औषधियां देकर उसे प्रतिदिन स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी मरम्मत की जाती है, वैद्यों और मरम्मत करने वालों ने घुटने टेक दिये। जब तक शरीर रूप चरखा नया था तब तक सभी को वह प्रिय था। पर जेसे ही वह पुराना हुआ, उसका रंग-विरंग हुआ, तो अब उसे कोई देखना ही नहीं चाहता। इसलिए हे भाई, मिथ्या तत्त्व रूप मोटे धागे को महीन कर उसे सुलझा लो और सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न कर लो। उसका अन्त तो ईंधन में होना निश्चित ही है, बस, प्रातःकाल समझकर पूरे आत्मविश्वास के साथ सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

"चरखा चलता नाही (रे) चरखा हुआ पुराना (वे)।।
पग खूटे दो हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पांखड़ी पांसू, फिरै नहीं मनमाना।।१।।
रसना तकली ने बल खाया, सो अब केसे खूटै।
एबद सूत सुधा नहीं निकसै, घड़ी घड़ी पल टूटै।।२।।

आयु माल का नहीं भरौसा, अंग चलाचल सारे।
रोज इलाज मरम्मत चाहै, वैद बाढ़ ही हारे।।३।।
भैया चरखा रंगा चंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा वरन गये गुन अगले, अब देख नहीं भाव।।४।।
मोटा मही काट कर भाई! कर अपना सुरझेरा।
अन्त आग से ईंधन होगा, भूधर समझ सबेरा।।५।।[२१]

छीहल कवि ने उदरगीत में जीव की तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया है। बाल्यावस्था में वह नव-दस माह अत्यन्त कष्ट पूर्वक गर्भावस्था में रहता है, बाल्यावस्था अज्ञान में चली जाती है, युवावस्था इन्द्रियवासना में निकल जाती है और वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं सारा जीवन यों ही चला जाता है -

'उदर उदधि में दस मासाह रहयौ'।
'जरा बुढ़ापा बैरी आइओ, सुधि-बुधि नाही जब पछिताइयो।[२२]

ऐसे शरीर से ममत्व हटाने के लिए भूधर कवि ने शरीर के सौन्दर्य और बल पर अभिमान करने वाले मोही व्यक्ति से कहा कि अब तो वृद्धावस्था आ गई, भाई ! कुछ तो सचेत हो जाओ। श्रवण शक्ति कम हो गई,पैरों में चलने की शक्ति न होने से वे लड़खड़ाने लगे। शरीर यष्टि के समान पतला हो गया, भूख कम होने लगी, आंखों में पानी गिरने लगा, दांतों की पंक्ति टुट गई, हड्डियों के जोड़ उखड़ने लगे, केशों का रंग बदल गया, शरीर में रोग ने घेरा डाल दिया, पुत्रादि सम्बन्धी उस दु:ख को बांट नहीं सकते, तब और कौन बांट सकेगा ? इसलिए रे प्राणी, अब तो कम से कम अपना हित कर ले। यदि अभी भी सचेत नहीं हुआ तो फिर कब होगा ? पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा।[२३]

'आया रै बुढ़ापा मानी, सुधि बुधि विसरानी

भैया भगवती दास को यह शरीर सप्त धातु से निर्मित महादुर्गन्ध से परिपूर्ण दिखाई देता है। इसलिए उन्हें आश्चर्य होता है कि कोई उसमें आसक्त क्यों हो जाता है।[२४] कवि भूधरदास को भी यह आश्चर्य का विषय बना कि किसी को इस शरीर से घृणा क्यों नहीं होती - 'देह दशा यहै दिखित भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हारी है।[२५]

यह शरीर सभी प्रकार के अपवित्र पदार्थो से भरा हुआ है। इसलिए दौलत राम कहते हैं कि इस शरीर को घिनौनी और जड़ जानकर उससे मोह मत करो :-

'मत कीज्यो जी यारी, घिन गेह देह जड़ जान के ।
मात पिता रज वीरजसौं यह, उपजी मलफलवारी ।
अस्थिमाल पल नसा जाल की, लाल लाल जलक्यारी ।।[२६]

भैया भगवतीदास कहते हैं कि ऐसे घिनौने अशुद्ध शरीर को शुद्ध कैसे किया जा सकता है ?[२७] शरीर के लिए भेजन कुछ भी दो पर उससे रुधिर, मांस, अस्थियाँ आदि ही उत्पन्न होती हैं। इतने पर भी वह क्षणभंगुर बना रहता है। पर अज्ञानी मोही व्यक्ति उसे यथार्थ मानता है। ऐसी मिथ्या बातों को वह सत्य समझ लेता है।[२८]

पं. दौलतराम शरीर के प्रति मानव के राग को देखकर अत्यन्त द्रवित हो जाते हैं और कह उठते हैं- हे मूढ, इससे ममत्व क्यों करता है। यह शरद मेघ और जलबुदबुल के समान क्षणभंगुर हैं। अतः आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान कर, शाश्वत सुख को प्राप्त करो।[२९] एक पद में वे कहते हैं कि रे मूर्ख, तुम अपना मिथ्याज्ञान छोड़ो। व्यर्थ में शरीर से

ममत्व जोड़ लिया है। यह शरीर तुम्हारा नहीं है जिसे तुम अनादिकाल से अपना मानकर पोषण कर रहे हो। यह तो सभी प्रकार के मलों-दोषों का थैला है। इससे ममत्व रखने के कारण ही तुम अनादिकाल से कर्मो से बंधे हुए हो और दु:खों को भोग रहे हो। पुन: समझाते हुए कवि कहता है, यह शरीर जड़ है, तू चेतन है। जड़ और चेतन, दोनों पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने वाले पदार्थो को तुम एक क्यों करना चाहते हो। यह सम्भव भी नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये तीनों तुम्हारी सम्पत्ति है। इसलिए सांसारिक पदार्थो से मोह छोड़कर तुम उस अजर-अमर सम्पदा को प्राप्त करो और शिवगौरी के साथ सुख भोग करो। शरीर से राग छोड़े बिना वह मिल नहीं सकता। जिन्होंने यह शरीर-राग छोड़ दिया उन्हीं से तुम्हारी ममता होनी चाहिए। इसी ज्ञानामृत का तुम पान करो ताकि पर पदार्थो से तुम्हारा ममत्व छूट सके :

छांडि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी ।
यह पर है, न रहै थिर पोषत, तकल कुमल की झोरी ।।
यासौं ममता कर अनादि तैं, बंधी करम की डोरी ।
सहै दुख जलधि-हिलौरी ।।१।।

यह जड़ है, तू चेतन, यौं ही अपनावत वरजोरी ।
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं संपति तोरी ।।
सदा विलसो शिव-गोरी ।।२।।
सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी ।
'दौल' सीख यह लीजै, पीजे ज्ञान-पियूष कटोरी ।
मिटै पर चाह कठोरी ।।३।।[३०]

विनयविजय ने शरीर की नश्वरता और प्रकृति को देखकर उसे एक रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। शरीर घोड़ा है और आत्मा सवार। घोड़ा चरने में माहिर है पर कैद होने में डरता है। कितना भी अच्छा-अच्छा खाये पर जीन कसने पर बहकने लगता है। कितना भी पैसा खर्च करो, संवारी के समय सवार को कहीं जंगल में गिरा देगा। क्षण भर में भूखा होता है, क्षण भर में प्यासा। सेवा तो बहुत कराता है, पर तदनुरूप उसका उपयोग नहीं हो पाता। उसे रास्ते पर लाने के लिए चाबुक की आवश्यकता होती है। उसके बिना संसार से पार नहीं हुआ जा सकता :

'घोरा झूठा है रे तू मत भूले असवारा।
तोहि सुधा ये लागत प्यारा, अंत होयगा न्यारा।।
चरै चीज और डरै कैद सो, अबट चलै अटारा।
जिन कैसे तब सोया चाहै, खाने को होशियारा।।

खूब खजारा खरच खिलाओ, यों सब न्यामत चारा।
असबारी का अवसर आवै, गलिया होय गंवारा।।
छिनु ताता छिनु प्यासा होवै, खिदमत बहुत करावन हारा।
दौर दूर जंगल में डारै, झूरे घनी विचारा।।
करहू चौकड़ा चातुर चौकस, द्यौ चाबुक दो चाटा।
इस घोरे को विनय सिखावो, ज्यों पावों भवपारा।।[३१]

बुधजन शरीर की नश्वरता का भान करते हुए शुद्ध स्वभाव चिदानंद चैतन्य अवस्था में स्थिर होने का संदेश देते हैं - 'तन देख्या अस्थिर घिनावना..... बथधजन तनतै ममत मेटना चिदानंद पद धारना (बुधजनविलास, पद ११६)। मृत्यु अवश्यंभावी है। उसके

आने पर कोई भी अपने आपको बचा नहीं पाता, इसलिए उससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं बल्कि आत्मचिंतन करके जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है - 'काल अचानक ही ले जायेगा, गाफिल होकर रहना क्या रे ! छिन हूँ तोको नाहिं बचाबै तो सुमटन को रखना क्या रे'' (बुधजन विलास, पद ५)

शरीर की इस नश्वरता का आभास साधक प्रतिपल करता है और साधनात्मक प्रवत्ति में शुद्ध स्वभावी चैतन्य की भावना भाता है। मृत्यु एक अटल तथ्य है जिसमें शरीर भग्न हो जाता है मात्र स्वस्थ चेतन रह जाता है।

३. कर्मजाल

प्रत्येक व्यक्ति अथवा साधक के सुख-दु:ख का कारण उसके स्वयंकृत कर्म हुआ करते हैं। भारतीय धर्म साधनाओं में चार्वाक को छोड़कर प्राय: सभी विचारकों ने कर्म को संसार में जन्म मरण का कारण ठहराया है । यह कर्म परम्परा जीव के साथ अनादिकाल से जुड़ी हुई है। जैन चिन्तकों ने ईश्वर के स्थान पर कर्म को संस्थापित किया है। तदनुसार स्वयंकृत कर्मो का भोक्ता जीव स्वयं ही होता है, चाहे वे शुभ हों या अशुभ। इसलिए जन्म-परम्परा तथा सुख-दु:ख की असमानता में ईश्वर का कोई रोल यहां स्वीकार नहीं किया गया। जीव फल भोगने में जितन परतंत्र है उतना ही नवीन कर्मो के उपार्जन करने में स्वतन्त्र भी है।

प्राचीन भारतीय साहित्य के देखने से ऐसा लगता है कि उस समय कर्म के समकक्ष अनेक सिद्धान्त खड़े कर दिये गये थे। उस समय कोई काल को विश्व का नियन्त्रक मानता था तो कोई स्वभाव को, कोई नियति को आगे लाता था तो कोई यदृच्छा को, किसी का ध्यान

भूतों पर जाता था तो किसी का ईश्वर पर, कोई अपने आपको देव के हाथ दे देता था तो कोई पुरुषार्थ को पकड़ता था। इन सभी वादों ने एकान्तिक दृष्टिकोण से विचार कर कर्म सिद्धान्त के स्थान पर स्वयं को आसीन कर लिया। परन्तु जैनदर्शन ने इस सभी को समन्वित रूप में स्वीकार किया गया है। तदनुसार सभी कारण मिलकर ही कार्य की निष्पत्ति करते हैं। इसी को सम्यक् धारणा कहा जाता है।[३२]

कर्मो का अस्तित्व, सुख-दुःख के वैविध्य, नवीन शरीर धारणा करने की प्रक्रिया तथा दानादिक क्रियाओं के फल में स्पष्टतः दिखाई देता है। समान साधन होने पर भी फल का तारतम्य अदृष्ट कर्म का ही परिणाम है। कर्म को जैनधर्म में मूर्तिक अथवा पौद्गलिक माना गया है और आत्मा को अमूर्तिक। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध आदिकाल से चला आ रहा है। इसी प्रकार शरीर और कर्म का सम्बन्ध भी बीजांकुर के समान अनादिकालीन है और वह कार्यकारण भावात्मक है। हमारे मन-वचन-काय की प्रत्येक क्रिया अपना संस्कार आत्मा और कर्म अथवा कार्माण शरीर पर छोड़ती जाती है। यह संस्कार कार्माण शरीर से बंधता चला जाता है और उसका जब परिपाक हो जाता है तो बंधे कर्म के उदय से यह आत्मा स्वयं हीनावस्था में पहुंच जाती है। फलतः राग, द्वेष, मोह, अज्ञान मिथ्यात्व आदि विकारों से वह ग्रसित होता जाता है और वह अपने अनन्त ज्ञानादि रूप विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। पुराने कर्म निर्जीर्ण होते जाते हैं और नये कर्म बंधते चले जाते हैं। आत्मा और कर्म की यही परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। शास्त्रीय परिभाषा में पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य कर्म और राग द्वेषादिक प्रवृत्तियों को भाव कर्म, और शरीर रूप कर्म को नोकर्म कहा गया है। बनारसीदास ने इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। मान लीजिए जिस प्रकार कोठी में धान रखी है, धान के भीतर कण है तो उस धान

को अलग कर कण को रख लेते हैं। इसमें कोठी के समान नोकर्ममल हैं। धान के समान द्रव्यकर्ममल हैं, चमी के समान भावकर्ममल तथा कण के समान भगवान हैं।[३३] पुद्गल के ये दो ही जाल हैं - द्रव्यकर्म और भावकर्म। सहजशुद्ध चेतन भावकर्म की ओर बसता है और द्रव्य कर्म नोकर्म से बंधा पुद्गल पिण्ड है।[३४] भावकर्म के दो रूप हैं। ज्ञान और कर्म, ज्ञान चक्र चेतन के अन्तर में गुप्त और ज्ञानचक्र प्रत्यक्ष है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि चेतन के ये दोनों भाव शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के समान हैं, ज्ञान के कारण चेतन सजग बना रहता है और कर्म के कारण मिथ्याभ्रम में निद्रित रहता है। एक दर्शक है, दूसरा अंधा एक निर्जरा का कारण है, दूसरा बंध का।[३५]

जैनधर्म में कर्मो के आश्रव के कारण पांच माने गये हैं - मिथ्यात्व, अविरति (व्रताभाव), प्रमाद, कषाय (क्रोध, मान माया और लोभ) और योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति)।[३६] दान पुण्यादिक कर्य शुभ कर्म के कारण हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप अथवा अशुभ बन्ध के कारण हैं। कर्मो का बन्ध चार प्रकार का होता है - प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन कर्मो के भेद प्रभेदादि की भी चर्चा जैन शस्त्रों के अनुसार हिन्दी जैन कवियों ने बडी गइराई और विस्तार से की है।[३७] उस गहराई तक हम नहीं जाना चाहेंगे। हम यहां मात्र यह कहना चाहते हैं कि इन कर्मो के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जीव के सुख दुःख का प्रमुख कारण कर्म माना गया है। जिस प्रकार से तेज जल प्रवाह में भंवर चक्कर लगाता रहता है और उसमें फंस जाने वाला मृत्यु का शिकार हो जाता है उसी प्रकार कर्म का विपाक हो जाने पर जीव संसार के जन्म-मरण के प्रवाह में विद्यमान कर्मरूप भंवर में फंस जाता है।[३८] जिस

प्रकार ज्वार के प्रकोप से भोजन में कोई रुचि नहीं रहती उसी प्रकार कुकर्म अथवा अशुभकर्म के उदय से धर्म के क्षेत्र में उसे कोई उत्साह जाग्रत नहीं होता। जब तक जीव का सम्बन्ध जड़ अथवा कर्मो से रहता है तब तक उसे दु:ख ही दु:ख भोगने पड़ते हैं -

"जब लगु मोती सीप महि तब लगु समु गुण जाइ।
जब लगु जीयडा संगि जड, तब लग दूख सुहाइं।।[३९]

वख्तराम साह का जीव इन कर्मो से भयभीत हो गया। वह इन्हीं कर्मो के कारण पर-पदार्थो में आसक्त रहा और भव-भव के दु:ख भोगे। कर्मो से अत्यन्त दु:खी होकर वे कहते हैं कि ये कर्म मेरा साथ एक पल मात्र को भी नहीं छोड़ते।[४०] भैया भगवतीदास तो करुणाद्र होकर कह उठते हैं, कि धुएं के समुदाय को देखकर गर्व कौन करेगा ? क्योंकि पवन के चले ही वह समाप्त हो जाने वाला है। सन्ध्या का रंग देखते-देखते जैसे विलीन हो जाता है, दीपक-पतंग जैसे काल-कवलित हो जाता है, स्वप्न में जैसे कोई नृपति बन जाता है, इन्द्रधनुष जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, ओसबूंद जैसे धूप के निकलते ही सूख जाती है, उसी प्रकार कर्म जाल में फंसा मूढ जीव दु:खी बना रहता है।

'धूमन के घौरहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिन माहिं जीहि पौन परसत ही ।
संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही ।।
सुपने में भूप जैसे इन्द्र धनुरूप जैसे,
ओस बूंद धूप जैसे दुरै दरसत ही ।
ऐसो ई भरम सब कर्म जालवर्गणा को,
तामे मूढ मग्न होय मरै तरसत ही ।।[४१]

कर्म ही जीव को इधर से उधर त्रिभुवन में नचाता रहता है।[४२] बुधजन ही विधना की मोपै कहीं तो न जाय। सुलट उलट उलटी सुलटा दे अदरस पुनि दरसाय।''[४३] कहकर कर्म की प्रबलता का दिग्दर्शन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि कर्मो की रेखा पाषाण रेखा-सी रहती है। वह किसी भी प्रकार टाली नहीं जा सकती। त्रिभुवन का राजा रावण क्षण भर में नरक में जा पड़ा। कृष्ण का छप्पन कोटि का परिवार वन में बिलखते-बिलखते मर गया। हनुमान की माता अंजना वन-वन रुदन करती रही, भरत बाहुबलि के बीच घनघोर युद्ध हुआ, राम और लक्ष्मण ने सीता के साथ वनवास झेला, महासती सीता को दधकती आग में कूदना पड़ा, महाबली पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी का चीर हरण किया गया, कृष्ण रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्न देवों द्वारा हर लिया गया। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जो कर्मो की गाथा गाते मिलते हैं।[४४] अष्टकर्मो को नष्ट किये बिना संसार का आवागमन समाप्त नहीं होता। इस पर चिन्तन करते हुए शरीरान्त हो जाने के बाद की कल्पना करता है और कहता है कि अब वे हमारे पांचों किसान (इन्द्रियाँ) कहां गये ? उनको खूब खिलाया पिलाया, पर वह सब निष्फल हो गया। चेतन अलग हो गया और इन्द्रियाँ अलग हो गई। ऐसी स्थिति में उससे मोहादि करने की क्या आवश्यकता? देखिये इसे कवि कलाकार ने कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है -

कित गये पंच किसान हमारे। कित० ।।टेक।।
बोयो बीज खेत गयो निरफल, भर गये खाद पनारे ।
कपटी लोगों से साझाकर... हुए आप विचारे ।।१।।
आप दिवाना गह-गह बैठो लिख-लिख कागद डारे ।
बाकी निकसी पकरे मुकद्दम, पांचों हो गये न्यारे ।।२।।
रुक गयो कंठ शब्द नहिं निकसत, हा हा कर्म सौ कारे ।
'बनारसि' या नगर न बविये, चल गये सींचन हारे।।३।।[४५]

संसार की असारता को देखते हुए कविवर भगवतीदास संसारी से अभिमान छोड़ने को कहते हैं - 'छांडि दे अभिमान जियके छांडि दे।'[४६] राजा रंक आदि कोई कभी स्थिर रूप से यहां नहीं रहे। तुम्हारे देखते-देखते कितने लोग आये और गये। एक क्षण के विषय में भी कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः चतुर्गति के भ्रमण में कारणभूत इन कर्मो को छोड़ने का प्रयत्न करो। पांडे रूपचन्द की आत्मा निजपद को भूलकर कर्मो के कारण संसार में जन्म मरण करने लगी। उसे तृष्णा की प्यास भी अधिक लगी -

वषयन सेवते भये, तृष्णा ते न बुझाय,
ज्यों जलखारा पीवतें, बाढे तृणाधिकाय।[४७]

कनककीर्ति ने भी कर्म घटावली में अष्टकर्मो के प्रभाव को स्पष्ट किया है।[४८] इस प्रभाव को साधक और गइराई से सोचता है कि वह किस प्रकार उसकी आत्मा के मूल गुणों का हनन करता है। भूधरदास 'देख्या बीज जहान के स्वप्ने का अजेब तमाशा रे। एको के घर मंगल गावै पूरी मन की आशा। एक वियोग मरे बहु रोवै भरि-भरि नैन निरासा'' कहकर कर्म के स्वभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

४. मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का तात्पर्य है अज्ञान और अज्ञान का तात्पर्य है धर्म विशेष के सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करना। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविद्या, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि, आदि शब्द समानार्थक हैं। प्रत्येक धर्म और दर्शन ने इन शब्दों का प्रयोग लगभग समान अर्थो में किया है। उनके विश्लेषण की प्रक्रिया भले ही पृथक् रही हो। इसलिए हर समुदाय के साहित्य में इसके भेद-प्रभेद अपने-अपने ढंग से किये गये हैं।[४९]

जैन-साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व उस दृष्टि को कहा गया है जिसमें विशुद्धता न हो, पर पदार्थो में आसक्ति हो, एकान्तवादी का पक्षपाती हो, भेदविज्ञान जाग्रत न हुआ हो, कर्म के झकौरों से संसार में वैसा ही डोलता हो जैसे बघरूड़े में पड़ा पत्ता, क्रोधादि कषायों से ग्रसित हो और क्षण भर में सुखी और क्षण भर में दु:खी बन जाता हो।[५०] माया, मिथ्या और शोक इन तीनों को शल्य कहा गया है। वादीगण इन्ही में उलझे रहते हैं। व्यक्ति इनके रहते विशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार लाल रंग के कारण से दूसरा पट भी लाल दिखाई देता है अथवा रुधिरादि से साफ करने पर कपड़ा सफेद नहीं रह सकता। उसी प्रकार मिथ्यात्व से आवृत रहनेपर सम्यक् ज्ञानादिक गुणों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।[५१] पुद्गल अथवा पदार्थो से मोह रखना तथा पुद्गल और आत्मा को एक रूप मानना यही मिथ्याभ्रम है। आत्मा जब पुद्गल की दशा को मानने लगता है तभी उसमें कर्म और विभाव उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं। परिग्रहादिक बढ़ जाते हैं। मदिरापन किये बन्दर को यदि बिच्छू काट जाय तो जिस प्रकार वह उत्पाद करता है उसी प्रकार मिथ्याज्ञानी भी आत्मज्ञानी न होने के कारण भटकता रहता है।

कर्म रूपी रोग की दो प्रकृतियाँ होती हैं। एक कम्पन और दूसरी ऐंठना। शास्त्रीय परिभाषा में इन दोनों को क्रमश: पाप और पुण्य कहा गया है। विशुद्धात्मा इन दोनों से शून्य रहता है।[५२] पाप के समान पुण्य को भी जैन दर्शन में दु:ख का कारण माना गया है क्योंकि वह भी एक प्रकार का राग है और राग मुक्ति का कारण हो नहीं सकता। यह अवश्य है कि दानपूजादिक शुभ भाव हैं जो शुद्धोपयोग को प्राप्त कराने में सहयोगी होते हैं। इसलिए बनारसीदास ने पुण्य को भी 'रोग' रूप मान लिया है। पाप से तापादिक रोग, चिन्ता, दु:ख

आदि उत्पन्न होते हैं और पुण्य से संसार बढ़ाने वाले विषयभोगों की वृद्धि, आर्त्त-रौद्रादि ध्यान उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वी इन दोनों को समान मानता है, कम्पन रोग से भय करता है और ऐंठन से प्रीति। एक में उद्वेग होता है और दूसरे में उपशान्ति। एक में कच्छप जैसा संकोच, तुरग जैसी वक्रचाल और अन्धकार जैसा समग्र रहता है और दूसरे में वकरकूंद-सी उमंग, जकरबन्द जैसी चाल तथा मकरचांदनी जैसा प्रकाश होता है। तम और उद्योत ये दोनों पुद्गल की पर्याय हैं छर मिथ्याज्ञान वश उनमें भेदविज्ञान पैदा नहीं होता इसलिए संसार में भटकते रहते हैं। दोनों दशायें विनष्ट होने वाली हैं। कोई पर्वत से गिरकर मरता है तो कोई कूप से। मरण दोनों का एक है, रूप विविध भले ही हो। दोनों के माता-पिता क्रमशः वेदनीय और मोहनीय हैं। उन्हीं से वे बन्धे हुए हैं। श्रृंखला एक ही है चाहे वह लोहे की हो अथवा स्वर्ण की हो। जिसकी चित्त दशा जैसी होगी उसकी दृष्टि वैसी ही होगी। इसलिए ज्ञानी संसार चक्र को समाप्त कर देता है पर मिथ्यात्वी उसे और भी बढ़ा लेता है।[५३]

नाटक समयसार बनारसीदास की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें कवि आत्मख्याति टीका के कलशों से दृष्टान्तों, उपमाओं और रूपकों द्वारा अपने कलशों को ऐसा संजोया है कि उनसे रसानुभूति हुए बिना नहीं रहती। उसमें सप्त तत्त्व अभिनेता हैं, जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक है। आत्मा के स्वभाव और विभाव को नाटक के ढंग पर प्रदर्शित करने के कारण इसे नाटक कहा गया है। इसी तरह बनारसीदास का ही बनारसी विलास भी उत्तम रचनाओं का संग्रह है (ल. सं. १७००)। आत्मा किस प्रकार मिथ्यात्व के पर्दे से ढकी है, इसका रूपक के माध्यम से वर्णन करता हुआ कवि लिखता है -

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवलि अखारे निसि आठौ पट करिकै,

दुहूँ और दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखें दृष्टि धरि कै।
तैसे ज्ञानसागर मिथ्याति ग्रंथि मेटि करि,
उमग्यो प्रगट रह्यौ तिहूँलोक भरिकै।
ऐसो उपदेश सुनि चाहिये जगत जीत,
सुद्धता संभारै जंजाल सौ निसरि कै।

पुण्य-पाप दोनों संसार भ्रमण के बीज है। इन्हीं के कारण इन्द्रियों को सुख-दुःख मिलता है। भैया भगवतीदास ने इसलिए इन दोनों को त्यागने का उपदेश दिया है। अजरामर पद प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है।[५४] बनारसीदास ने इसे नाटक समयसार के पुण्यपाप एकत्वद्वार में इस तत्त्व पर विशद प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है - जैसे किसी चांडालनी के दो पुत्र हुए, उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रखा। जो ब्राह्मण को दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-मांस भक्षण का त्यागी हुआ। जो घर में रहा वह चाण्डाल कहलाया तथा मद्य-मांसभक्षी हुआ। उसी प्रकार एक वेदनीय कर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नाम वाले दो पुत्र हैं, वे दोनों संसार में भटकाते हैं। और दोनों बंधपरम्परा को बढ़ाते हैं। इससे ज्ञानी लोग दोनों की ही अभिलाषा नहीं करते।

जैसे काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
बांमन कहायी तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चांडाल कहायो तिनि मद्य-माँस चाख्यौ कै।।
तैसे एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ कै।
दूहूं मोहि दौर धूप दोऊ कर्मबन्धरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ कै।।[५५]

बनारसीदास ने नाटक समय-सार में एक रूपक के माध्यम से

मिथ्यात्व को समझाने का प्रयत्न किया है। शरीररूपी महल में कर्मरूपी भारी पलंग है, माया की शय्या सजी हुई है, संकल्प विकल्प की चादर तनी हुई है। चेतना अपने स्वरूप को भूला हुआ निद्रा की गोद में पड़ा हुआ है, मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढंक रहे हैं, कर्मोदय से तीव्र घुरकने की आवाज हो रही है, विषय सुख की खेज में भटकता स्वप्न है, ऐसी अज्ञानावस्था में आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्व में भटकता फिरता है, परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता -

काया चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादरि कल्पना ।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लिये,
मोह की मरोट यहै लोचन को ढपना ।।
उदै बल जौर यहै श्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारज की दौर यहै अपना ।
ऐसी मूढ दसा मैं मगन रहै तिहुकाल,
घावै भ्रम जाल मैं न पावै रूप अपना ।।[५६]

मिथ्याज्ञानी तत्त्व को समझ नहीं पाता। उसका ज्ञान वैसा ही दबा रहता है जैसा मेघघटा में चन्द्र। वह सद्गुरु का उपदेश नहीं सुनता, तीनों अवस्थाओ में निर्द्वन्द होकर घूमता रहता है। मणि और कांच में उसे कोई अन्तर नहीं दिखता । सत्य और असत्य का उसे कोई भेदज्ञान भी नहीं है । तथ्य तो यह है कि मणि की परख जौहरी ही कर सकता है। सत्य का ज्ञान ज्ञानी को ही हो सकता है। कलाकार बनारसीदास ने इसी बात को कितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है ।

रूप की न झांक हिये करम को डांक पिये,
ज्ञान दबि रह्यो मिरगांक जैसे धन में।
लोचन की ढांक सो न मानें सद्गुरु हांक,
डोले मूढ़ रंग सो निशंक निहूंपन में ।।[५७]

मिथ्यात्व के उदय से विषय भोगों की और मन दौडता है। वे सुहावने लगते हैं। राग के बिना भोग काले नाम के समान प्रतीत होते हैं। राग से ही समूचे शरीर का संवर्धन होता है और समूचे मिथ्या संसार को सम्यक् मानने लगता है। इसलिए कविवर भूधरदास ने रागी और विरागी के बीच अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह अन्तर वैसे ही है जैसे बैगन किसी को पथ्य होता है और किसी को वायुवर्धक होता है। मिथ्याज्ञानी स्वयं को चतुर और दूसरे को मूढ मानता है। सांयकाल को प्रातःकाल मानता है, शरीर को ही सच कुछ मानकर अन्धेरे में बना रहता है। कविवर भावुक होकर इसीलिए कह उठते हैं कि रे अज्ञानी, पाप धतूरा मत बो । उसके फल मृत्युवाहक होंगे। किंचित् भौतिक सुख प्राप्ति की लालसा में तू अपना यह नरजन्म क्यों व्यर्थ खोता है ? इस समय तो धर्म कल्पवृक्ष का सिंचन करना चाहिए। यदि तुम विष बोते हो तो तुमसे अभागा और कौन हो सकता है ? संसार में सबसे अधिक दुःखदायक फल इसी वृक्ष के होते हैं, अतः भोंदु मत बन ।

अज्ञानी पाप धतूरा न बोय।
फल चाखन की वार भरे द्रग, मरहै मूरख रोय।।[५९]

वख्तराम का चेतन भी ऐसा ही भोंदु बन गया। वह सब कुछ भूलकर मिथ्या संसार को ययार्थ मानकर बैठ गया ।[६०] धर्म क्या है, यह मिथ्याज्ञानी समझ नहीं पाता। अहर्निश विषय भोगों में रमता है और उसी को सुकृत मानता है। देव, कुदेव, धर्म, कुसाधु आदि में उसे कोई अन्तर नहीं दिखाई देता । मोह की निद्रा में वह अनादिकाल से सो रहा है। राग द्वेष के साथ मिथ्यात्व के रंग में रच गया है, विषयवासना में फंस गया है।[६१] चेतन कर्म चरित्र में भैया भगवतीदास ने इसकी बडी सुन्दर मीमांसा की है। मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी में उन्होंने मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है । मिथ्यात्व के कारण ही अनादिकाल से

यह अशुद्धता बनी हुई है। मोक्षपथ रुका हुआ है, संकट सहे गये हैं। फिर भी चेतन उससे मुक्त नहीं हो रहा । मोह के दूर होने से राग-द्वेष दूर होंगे, कर्म की उपाधि नष्ट होगी और चिदानन्द अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा मिथ्यात्व के कारण ही वह चतुर्गति में भ्रमण करता रहेगा । जब तक भ्रम है तब तक कर्मो से मुक्ति नहीं मिल सकती और न ही सम्यग्ज्ञान हो सम्यग्ज्ञान हो सकता है।[६२]

मिथ्याज्ञान के कारण स्वपरविवेक जाग्रत नहीं हो पाता।[६३] पूर्वावस्था में तो विषय भोगों में रमण करता है पर जब वृद्धावस्था आती है तो रुदन करता है तो रुदन करता है। क्रोधादिक कषायों के वशीभूत होकर निगोद का बन्ध करता है। सारे जीवन भर गांठ की कमाई खाता है, एक कौडी की भी कमाई नहीं करता। इससे अधिक मूढ और कौन हो सकता है ?[६४] वह चेतन अचेतन की हिंसा करता रहा, भक्ष्य अभक्ष्य खाता रहा, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानता रहा, वस्तु के स्वभाव को नहीं पहचाना, मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड को धर्म मानता रहा तथा कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन करता रहा।[६५] मोह के भ्रम से राग-द्वेष में डूबा रहा।[६६] मोह के परिणाम स्वरूप जीव में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष उसका मूल स्वभाव नहीं। रागादिक के रंग से स्फटिक मणि जैसा विशुद्ध चेतन भी रंगीला दिखाई देने लगता है। यह रंगीला भाव मिथ्यात्व है।[६७] मिथ्यात्व से ही वह काया माया को स्थिर मानकर उसमें आसक्त रहता है ।[६८] लोभी बनकर इच्छाओं की दावानल में झुलसता रहता है ।[६९] जीव और पुद्गल के भेद को न समझकर अज्ञानी बना रहता है।[७०]

कविवर द्यानतराय मिथ्याज्ञानी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन्, यह मिथ्यात्व तुमने कहां से प्राप्त किया ? सारा संसार स्वार्थ की ओर निहारता है पर तुम्हें अपना स्वार्थ स्वकल्याण नहीं

रुचा। इस अपवित्र, अचेतन देहे में तुम कैसे मोहासक्त हो गये ? अपना परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुख छोड़कर इन्द्रियों की विषय-वासना में तन्मय हो रहे हो। तुम्हारा चैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और तुमने अपना अनन्त ज्ञानादिक गुणों से युक्त अपना नाम क्यों भुला दिया ? त्रिलोक का स्वतन्त्र राज्य छोड़कर इस परतन्त्र को स्वीकारते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती। मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे और परमात्मा कहला सकोगे। तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।

''जीव ! तू मूढपना कित पायो।
सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो।
अशुचि अचेत दुष्ट तन मांही, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि कै, विषय-रोग लपटायो।।
चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनी नाम गमायो।
तीन लोक को राज छांड़िकै, भीख मांग न लजायओ।।
मूढपना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसो, यों सद्गुरु बतलायो।।[७१]

दौलतराम इस मिथ्या भ्रम-निन्दा को देखकर अत्यन्त दु:खी हुए और कह उठे - रे नर, इस दु:खदाई भ्रम निद्रा को छोड़ते क्यों नहीं हो ? चिरकाल से उसी में पड़े हुए हो, पर यह नहीं सोचते कि इसमें तुम्हारा क्या कितना घाटा हुआ है ? मूर्ख व्यक्ति पाप-पुण्य कार्यो में कोई भेद नहीं करता और न उसका मर्म ही समझता है। जब दु:खों की ज्वाला में झुलसने लगता है तब उसे कष्ट होता है। इतने पर भी निद्रा भंग नहीं होती। कवि पुन: अन्य प्रकार से कहता है कि तुम्हारे सिर पर यमराज के भयंकर बाजे बज रहे हैं, अनेक व्यक्ति प्रतिदिन प्राण त्यागते है। क्या तुम्हें यह समाचार सुनाई नहीं दिया ? तुमने अपना रूप

तो भुला दिया और पर रूप को स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, तुमने इन्द्रिय विषयों का ईंधन जलाकर इच्छाओं को बढ़ा दिया। अब तो एक यही मार्ग है कि तुम राग-द्वेष को छोड़कर मोक्ष के रास्ते को पकड़ लो :-

हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छांड़त दुःखदाई।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई।
मूरख अधकर्म कहा, भेद नहिं मर्म लहा।
लागै दुःख ज्वाला की न देह कै ततार्ई।।
जम के रव बाजते, सुमैरव अति गाजते।
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई।।[७२]

जैन रहस्यवाद में मिथ्यात्व के तीन भेद होते हैं - मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। ये तीनों भेद गृहीत और अगृहीत रूप होते हैं। गृहीत का अर्थ है बाह्यकारणों से ग्रहण करना और अगृहीत का तात्पर्य है निसर्गज, अनादिकाल से होना। इन्हीं के कारण संसारी भव-भ्रमण करता रहता हैं जीवादि सप्त तत्त्वों के स्वरूप पर यथार्थ रूप से श्रद्धा न करना अगृहीत मिथ्यादर्शन है और उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान है। पंचेन्द्रियों के विषय भोगों का सेवन करना अगृहीत मिथ्याचारित्र है। इनके कारण जीव अपने आपको सुखी-दुःखी, धनी, निर्धनी, सबल, निर्बल आदि रूप से मानता है, शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नष्ट होने पर अपना नाश समझता है, रागद्वेषादि कारणों से जुटाता है और आत्म-शक्ति को खोकर इच्छाओं का अम्बार लगाता है। गृहीत मिथ्यादर्शन में जीव कुगुरु , कुदेव और कुधर्म का सेवन करता है। कुगुरु का तात्पर्य है वह व्यक्ति जो मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह और पीतवस्त्रादि बाह्य परिग्रह को धारण करता हो, अपने को मुनि मानता हो, मनाता हो।

राग-द्वेषादि युक्त देव कुदेव हैं और हिंसादि का उपदेश देने वाला धर्म कुधर्म है। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति संसार में स्वयं डूबता है और दूसरे को भी डुबाता है। वे एकान्तवाद का कथन करते हैं तथा भेद-विज्ञान न होने से कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करने वाली अनेक प्रकार की हठयोगादिक क्रियायें करते हैं।[७३]

मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रियों के विषय सुख में निजसुख भूल जाता है। जैसे कल्पवृक्ष को जड़ से उखाड़कर धतूरे को रोप दिया जाय, गजराज को बेचकर गधे को खरीद लिया जाय, चिन्तामणि रत्न को फेंककर कांच ग्रहण किया जाय, वैसे ही धर्म को भूलकर विषयवासना को सुख माना जाय तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है?[७४] ये इन्द्रियां जीव को कुपथ में ले जाने वाली हैं, तुरग-सी वक्रगति वाली हैं, विवेकहारिणी उरग जैसी भयंकर, पुण्य रूप वृक्ष को कुठार, कुगतिप्रदायनी विभवविनाशिनी, अनीतिकारिणी और दुराचारवर्धिणी हैं विषयाभिलाषी जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है, इसका उदाहरण देखिये :-

धर्मतरुभंजन कौ महामत्त कुंजर से,
आपदा भण्डार के भरन को करोरी है ।
सत्यशील रोकवे को पौढ़ परदार जैसे,
दुर्गति के मारग चलायवे कौ घोरी है ।।
कुमरी के अधिकारी कुनैपंथ के विहारी,
भद्रभाव ईंधन जरायवे कौ होरी है ।
मृषा के सहाई दुरभावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अजोरी है ।।[७५]

भैया भगवती चेतन को उद्बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम

उन दिनों को भूल गये जब माता के उदर में नव माह तक उल्टे लटके रहे, आज यौवन के रस में उन्मत्त हो गये हो। दिन बीतेंगे, यौवन बीतेगा, वृद्धावस्था आयेगी, और यम के चिन्ह देखकर तुम दुःखी होगे।[७६] अरे चेतन, तुमन आत्मस्वभाव को भूलकर इन्द्रिय सुख में मग्न हो गये, क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर दर-दर भटक गये, कभी तुमने भामिनी के साथ काम क्रीड़ा की, कभी लक्ष्मी को सब कुछ मानकर अनीतिपूर्वक द्रव्यार्जन किया और कभी बली बनकर निर्बलों को प्रताड़ित किया। अष्ट मदों से तुम खूब खेले और धन-धान्य, पुत्रादि इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहे। पर ये सब सुख मात्र सुखाभास हैं, क्षणिक हैं, तुम्हारा साथ देने वाले नहीं।[७७] नारी विष की वेल है, दुःखदाई है। इनका संग छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।[७८]

५. कषाय

इसी प्रकार धन-सम्पत्ति भी जीव को दुर्गति में ले जाने वाली है। वह चपला-सी चंचल है, दावानल-सी तृष्णा को बढ़ाने वाली है, कुलटा-सी डोलती है, बन्धु विरोधिनी, छलकारिणी और कषायवर्धिणी है।[७९] क्रोधादिक कषाय भी इसी तरह चेतन को दुर्गति में ले जाने वाले होते हैं। क्रोध, भ्रम, भय, चिन्ता आदि को बढ़ाने वाला, सर्प के समान भयंकर, विषवृक्ष के समान जीवन हरण करने वाला, कलहकारी, यशहारी और धर्म मार्ग विध्वंसक है।[८०]

माया कुमति-गुफा है, जहाँ वध-बुद्धि की धूमरेखा और कोप का दावानल उठता रहता है। मानी मदांध गज के समान रहता है।[८१] इसलिए भवगतीदास ने 'छांडि दे अभियान जियरे छांडि दे अभिमान।' तूं किसका है और तेरा कौन है ? सभी इस जगत में मेहमान बन कर आये हैं, कोई वस्तु स्थिर नहीं। कुछ नहीं कहा जा सकता कि क्षण भर

में तुम कहाँ पहुँचोगे ।[८२] बड़े-बड़े भूप आये और गये तब तूं क्यों गर्व करता है ?[८३]

माया चेतन के शुभ भावों को प्रच्छन्न कर देती है। वह कुशलजनों के लिए बांझ और सत्यहारिणी है। मोह का कुंजर उसमें निवास करता है, वह अपयश की खान, पाप-सन्तापदायिनी, अविश्वास और विलाप की गृहिणी है।[८४] बनारसीदास ने माया और छाया को एक माना है क्योंकि ये दोनों क्षण-क्षण में घटती-बढ़ती रहती हैं। उन्होंने माया का बोझ रखने वाले की अपेक्षा खर अथवा रीछ को अधिक अच्छा माना।[८५] भूधरदास ने उसे ठगनी कहा है -

सुनि ठगनी माया, तै सब जग इग खाया ।
टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पछताया ।।सुनि।।
आभा तनक दिखाय विज्जु ज्यों मूढ़मती ललचाया ।
करि मद अंध धर्महर लीनों, अन्त नरक पहुंचाया ।।सुनि।।२४।।[८६]

आनन्दघन भी माया को महाठगनी मानते हैं और उससे विलग रहने का उपदेश देते हैं -

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी।
बम्मन के घर न्हासी धोती, जोगी के घर चेली।।
कलमा पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आप ही आप अकेली।
ससुरो हमारो वालो भोलो, सासू बोला कुंवारी।।
पियु जो हमारी प्होढ़ै पारणिये, तो मैं हूं झुलावनहारी।
नहीं हूँ परणी, नहीं हूँ कुँवारी, पुत्र जणावन हारी।।[८७]

लोभ में भी सुख का लेश नहीं रहता। लोभी का मन सदैव मलीन रहता है। वह ज्ञान-रवि रोकने के लिए धराधर, सुकृति

रूपसमुद्र को सोखने के लिए कुम्भ नद, कोपादि को उत्पन्न करने के लिए अरणि, मोट के लिए विषवृक्ष, महादृढ़कच्छ, विवेक के लिए राहु और कलह के लिए केलिमौन है।[८८] बनारसीदास ने सभी पापों का मूल लोभ को, दु:ख का मूल स्नेह को और व्याधि का मूल अजीर्ण को बताया है।[८९] बुधजन का मन लोभ के कारण कभी तृप्त ही नहीं हो पाता। जितना भोग मिलता है उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है।[९०] इसलिए कभी उसे सुख भी नहीं मिलता।[९१] लोभ की प्रवृत्ति आशाजन्य होती है भूधरदास ने आशा को नदी मानकर उसका सुन्दर वर्णन किया है। आशारूप नदी मोह रूपी ऊँचे पर्वत से निकलकर, सारे भूतल पर फैल जाती है। उसमें विविध मनोरथ का जल, तृष्णा की तरंगे, भ्रम का भंवर, राग का मगर, चिन्ता का तट है जो धर्म-वृक्ष को ढहाते चले जाते हैं -

मोह से महान ऊँचे पर्वत सौ ढर आई,
तिहूँजग भूतल में या ही विसतरी है ।
विविध मनोरथ मैं भूरि जलभरी बहै,
मिसना तरंगनि सौ आकुलता धरी है ।।
परै भ्रम भौंर जहाँ रागसो मगर तहाँ,
चिन्ता तटतुंग धर्मवृच्छढाय ढरी है ।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताको,
धन्यसाधु धीरज जहाज चढि तरी है ।

लोभ से मुनिगण भी प्रभवित हुए बिना नहीं रहते, उसका लोभ शिव-रमणी से रमण करने का बना रहता है।[९२] ऐसा लोभी व्यक्ति नग चिन्तामणी को छोड़कर पत्थर को बटोरता, सुन्दर वस्त्र छोड़कर चिथड़े इकट्ठे करता तथा कामधेनु को छोड़कर बकरी ग्रहण करता है।

नग चिन्तामणि डारिके पत्थर जोउ, ग्रहैं नर मूरचा सोई।
सुन्दर पाट पटम्बर अम्बर छोरिकैं ओंढणलेत है उोई।।
कामदूधा धरतें जूं विडार कै छेरि गहैं मतिमंद जि कोई।
धर्म्म को छोर अधर्म्म को जसराज उणें निज बुद्धि विगोई।।२।।[९३]

संसारी जीव इन क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर साधना के विमल पथ पर लीन नहीं हो पाता। कोध, मान, माया, लोभादि विकारों से ग्रस्त होकर वह संसरण को और भी आगे बढ़ा लेता है। उसे शाश्वत् सुख की प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक तत्त्व ये कषाय हैं जो आत्मा को संसार-सागर में भटकाते रहते हैं।

६. मोह

अष्ट कर्मो में प्रबलतम कर्म है मोहनीय, उसी के कारण जीव संसार में भटकता रहता है। धन की तृषा-तुप्ति और वनिता की प्रीति में वह धर्म से विमुख हो जाता है। अपने इन्द्रिय सुख के लिए सभी तरह के अच्छे-बुरे साधन अपनाता है। ऐसे व्यक्ति की मोह-निद्रा इतनी तीव्र होती है कि जगाने पर भी वह जागता नहीं।[९४] वह तो पर पदार्थो में आसक्त रहता है । उसे स्व-पर विवेक नहीं रहता। मिथ्यात्ववश मेरा-मेरा ही रट लगाता रहता है।[९५] यह मोह चतुर्गति के दु:खों का कारण होता है।[९६] जीव परकीय वस्तु पर मुग्ध होकर स्वकीय वस्तु को छोड़ बैठता है।[९७] मोह का प्रबल प्रताप इतना तेज रहता है कि जीव उससे सदैव संतप्त बना रहता है। सुर नर इन्द्र सभी मोहीजन अस्त्र के बिना भी अस्त्रवान हैं हरि, हर, ब्रह्मा आदिक महापुरुषों ने उसे छोड दिया पर जिन्होंने नहीं छोडा वे जीवन भी विलाप करते रहते हैं। इसलिए पं. रूपचन्द्र भावविभोर होकर बड़े आग्रह से जीव को सलाह देते हैं कि इस मोह को छोड़ो। इस पाप से दु:खी क्यों बने हो।[९८]

जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल में तरंगें उठती हैं वैसे ही परिग्रह और मोह के कारण मन चंचल हो उठता है। जैसे कोई सर्प का डंसा व्यक्ति अपनी रुचि से नीम खाता है वेसे ही यह संसार प्राणी ममता-मोह के वशीभूत होकर इन्द्रियों के विषय सुख में लगा है। अननतकाल से इसी महामोह की नींद के कारण चर्तुगति में परिभ्रमण कर रहा है।[९९] मोह के कारण ही व्यक्ति एक वस्तु के अनेक नाम निर्धारित कर लेता है। उनके अनेकत्व को एकत्व में देखता है। कल्पित नाम को भी मोहवश तीनों अवस्थाओं में एकसा और यथार्थ मानता है। पर यह भ्रम है। उस भ्रम पर ही विचार क्यों नहीं कर लेता ? यदि उस पर विचार कर ले तो इस संसार से पार हो जायेगा।[१००] मोह से विकल होने पर जीव चेतन को भूल जाता है और देह में राग करने लगता है। सारा परिवार स्वार्थ से प्रेरित होता है। जन्म और मरण करने वाला प्राणी स्वयं अकेला रहता है पर वह सारे ससांर का मोह बटोरे चलता है। वह सोचता है, यदि विभूति होती तो दान देता। और भी उसके मन में प्रपंच आते हैं जिनके कारण संसार में भ्रमण करता रहता है। वह बन्ध का कारण जुटाता है, पर मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं जानता। यदि जान जाता तो भव-भ्रमण सहज ही दूर हो जाता।[१०१]

जीव के लिए उसका मोह सर्वाधिक महादु:खदाई होता है। अनादिकाल से आत्मा की अनन्त शक्ति को उसने छिपा दिया था। क्रम-क्रम से उसने नरभव प्राप्त किया, फिर भी मोह को नहीं छोड़ा। जिस परिवार को अपना मानकर पाला-पोसा, वह भी छोड़कर चला गया, जन्म-मरण के दु:ख भी पाये। इसका मूल कारण मोह है जिसका त्याग किये बिना परमपद प्राप्त नहीं हो सकता।[१०२] मोही आत्मा को परदेशी मानकर कवि कह उठा- इस परदेशी का क्या विश्वास। यह न

सुबह गिनता है, न शाम, कहीं भी चल देता है, सभी कुटुम्बियों को और शरीर को छोड़कर दूर देश चला जाता है, कोई उसकी रक्षा करने वाला नहीं सच तो यह है, किसी से कितनी भी प्रीति करो, यह निश्चित है कि वह एक दिन पृथक् हो जायेगा। इसने धन से प्रीति की और धर्म को भूल गया। मोह के कारण अनन्तकाल तक घूमता रहा।[१०३] राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, विषयवासना आदि विकारों में मग्न रहा। उसने कारण दुःखों को भी भोगता रहा पर कभी सुख नहीं पाया।[१०४] इसलिए भगवतीदास बड़े दुःखी होकर कहते हैं - "चेतन परे मोह वश आय।" यह चेतन मोह के वश होकर विषय भोगों में रम जाता है। वह कभी धर्म के विषय में सोचता नहीं। समुद्र में चिन्तामणिरत्न फेंककर जैसे मूर्ख पश्चात्ताप करता है वैसे ही यह मोही नरभव पाकर भी धर्म न करने पर फिर अन्त में पश्चात्ताप करेगा।[१०५]

मोह के भ्रम से ही अधिकांश कर्म किये जाते हैं। मोह को चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं दिखाई देता। मोह के वश किसने क्या किया है, इसे पुराण कथाओं का आधार लेकर भवगतीदास ने सूचित किया है।[१०६] उन कथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोह की परिणति दो हैं - राग और द्वेष । इन दोनों के कारण जीव मिथ्याभ्रम में पड़ जाता है। यह जीव घिनौने शरीर में लीन रहता, नारी के चाम से मण्डित देह पर आकर्षित होता, लक्ष्मी के कारण बड़े-बड़े महाराजा अपना पद छोड़कर प्रजा के समान लोभ की पूर्ति के लिए डोलता है। भगवतीदास को उन सांसारियों पर बड़ी हंसी आती है जो इस छोटी-सी आयु में करोड़ों उपाय करते हैं।[१०७] रे मूढ़। जिसे तूने घर कहा है वहां डर तो अनेक हैं पर उन सभी को भूलकर विषय-वासना में फंस गया है । जल, चोट, उदर, रोग, शोक, लोकलाज, राज आदि अनेक डरों से तो तूं

डरता है पर यमराज को नहीं डरता। तू मोह में इतना अधिक उलझ गया है कि तेरी मति और गति दोनों बिगड़ गई है। तूं अपने हाथ अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहा है।[१०८] स्वप्न बत्तीसी कवि ने मोह-निद्रा का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है और कहा है कि उसके त्यागे बिना अविनाशी सुख नहीं मिल सकता।[१०९] मेरे मोह ने मेरा सब कुछ बिगाड़ कर रखा है। कर्मरूप गिरिकन्दरा में उसका निवास रहता है। उसमें छिपे हुए ही वह अनेक पाप करता है पर किसी को दिखाई नहीं देता। इन्द्रिय वाना में परधन के अपहरण का भाव दिखाई देता है। बड़ी श्रद्धा के साथ कवि कहता है इन सभी विकारों को दूर करने का एक मात्र उपाय जिनवाणी है -[११०]

मोह मेरे सारे ने विगारे आनजीव सब,
जगत के बासी तैसे बासी कर राखे है ।
कर्मगिरिकंदरा में बसत छिपाये आप,
करत अनेक पाप आत केसे भाखे है ।।
विषैवन और तामे चोर को निवास सदा,
परघ न हरवे के भाव अभिलाखे है ।
तापै जिनराज जूके बैन फौजदार चढ़ै,
आन आन मिले तिन्हे मोक्ष वेश दाखे है ।

दौलतराम का जीव तो अनादिकाल से ही शिवपथ को भूला है। वह मोह के कारण कभी इन्द्रिय सुखों में रमता है तो अभी मिथ्याज्ञान के चक्कर में पड़ा रहता है।[१११] जब अविद्या-मिथ्यात्व का पर्दा खुलता है तो वह कह उठता है, रे चेतन, मोहवशात् तूने व्यर्थ में इस शरीर से अनुराग किया। इसी के कारण अनादिकाल से तूं कर्मो से

बंधा हुआ है। यह जड़ है और तू चेतन, फिर भी यह अपनापन कैसे ? ये विषयभोग भुजंग के समान हैं जिसके डसते ही जीव मृत्यु-मुख में चला जाता है। इनके सेवन करने से तृष्णा रूपी प्यास वैसी ही बढ़ती है जैसे क्षार जल पीने से बढ़ती है।[११२] है नर ! सयाने लोगों की शिक्षा को स्वीकार क्यों नहीं करते ? मोह-मद पीकर तुमने अपनी सुध भुला दी। कुबोध के कारण कुव्रतों में मग्न हो गये, ज्ञान सुधा का अनुभव नहीं लिया। पर पदार्थो से ममत्व जोड़ा और संसार की असारता को परखा नहीं।[११३]

विषय सेवन से उत्पन्न तृष्णा के खारे जल को पीने के बाद उसकी प्यास बढ़ती है, खाज खुजाने के समान प्रारम्भ में तो अच्छी लगती है पर बाद में दु:खदायी होती हैं। वस्तुत: इन्द्रिय भोग विषफल के समान है।[११४]

बुधजन को तो आत्मग्लानि-सी होती है कि इस आत्मा ने स्वयं के स्वरूप को क्यों नहीं पहिचाना। मिथ्या मोह के कारण वह अभी तक शरीर को ही अपना मानता रहा। धतूरा खाने वाले की तरह यह आत्मा अज्ञानता के जाल में फंस गया है। इसलिए कवि को यह चिन्ता का विषय हो गया कि वह किस प्रकार शाश्वत् सुख को प्राप्त करेगा।[११५] मोह से ही मिथ्यात्व पनपता है।[११६] इसलिए साधकों और आचार्यो ने इस मोह को विनष्ट करने का उपदेश दिया है। जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता, मोह नष्ट नहीं हो सकता। यशपाल का मोहपराजय, वादिचन्द सूरि का ज्ञानसूर्योदय, हरदेव का मयण-पराजय-चरिउ, नागदेव का मदनपराजय चरित और पाहल का मनकरहारास विशेष उल्लेखनीय है। बनारसीदास का मोह विवेक युद्ध

इन्हीं से प्रभावित है। अचलकीर्ति को माया, मोहादि के कारण संसार-सागर कैसे पार किया जाय, यह चिन्ता हो गई। मन रूपी हाथी आठ मदों से उन्मत्त हो गया। तीनों अवस्थायें व्यर्थ गंवा दी, अब तो प्रभु की ही शरण है।

काहा करुं कैसे तरुं भवसागर भारी ।।टेक।।
मचयामोह मगन भयो महा विकल विकारी ।।कहा०।।
मन हस्ती मद आठ, सुमन-सा मंजारी ।
चित चीता सिंघ सांप ज्युं अतिबल अहंकारी ।।[११७]

मोह साधक का प्रबलतम शत्रु है। साधना के बाधक तत्त्वों में यदि उसे नष्ट कर दिया जाय तो चिरन्तन सुख भी उपलब्ध करने में अत्यन्त सहजता हो जाती है। इसलिए साधकों ने उसके लिए "महाविष" की संज्ञा दी है। इस तथ्य को सभी साधनाओं में स्वीकार किया गया है। उसकी हीनाधिकता और विश्लेषण की प्रक्रिया में अन्तर अवश्य है।

७. बाह्याडम्बर

जैन साधकों ने धार्मिक बाह्याडम्बर को रहस्यसाधना में बाधक माना है। बाह्य क्रियाओं से आत्महित नहीं होता इसलिए उसकी गणना बन्ध पद्धति में की गई है। बाह्य क्रिया मोह-महाराजा का निवास है, अज्ञान भाव रूप राक्षस का नगर है। कर्म और शरीर आदि पुद्गलों की मूर्ति है। साक्षात् माया से लिपटी मिश्री भरी छुरी है। उसी के जाल में यह चिदानन्द आत्मा फंसता जा रहा है। उससे ज्ञान-सूर्य का प्रकाश छिप जाता है, अतः बाह्य क्रिया से जीव, धर्म का कर्ता होता है, निश्चय स्वरूप से देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायी होती है।[११८] इस सन्दर्भ में पीताम्बर का यह कथन मननीय है - "भेषधार कहै भैया भेष ही में भगवान, भेष में न भगवान, भगवान न भाव में।[११९]

बनारसीदास ने भी यही कहा है कि अम्बर को मैला कर देने वाला योग-आडम्बर किया, अंग विभूति लगायी, मृगछाला ली और घर परिवार को छोड़कर बनवासी हो गये पर स्वर का विवेक जाग्रत नहीं हुआ।[१२०]

भैया भगवतीदास ने बाह्यक्रियाओं को ही सब कुछ मानने वालों से प्रश्न किये कि यदि मात्र जलस्नान से मुक्ति मिलती हो तो जल में रहने वाली मछली सबसे पहले मुक्त होती, दुग्धपान से मुक्ति होती तो बालक सर्वप्रथम मुक्त होगा, अंग में विभूति लगाने से मुक्ति होती है तो गधों को भी मुक्ति मिलेगी, मात्र राम कहने से मुक्ति हो तो शुक भी मुक्त होगा, ध्यान से मुक्ति हो तो बस मुक्त होगा, शिर मुड़ाने से मुक्ति हो तो भेड़ भी तिर जायेगी, मात्र वस्त्र छोड़ने से मुक्त कोई होता हो तो पशु मुक्त होंगे, आकाश गमन करने से मुक्ति प्राप्त हो तो पक्षियों को भी मोक्ष मिलेगा, पवन के खाने से यदि मोक्ष प्राप्त होता तो व्याल भी मुक्त हो जायेंगे। यह सब संसार की विचित्र रीति है। सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।[१२१] मिथ्याभ्रम से देह के पवित्र हो जाने से आत्मा को पवित्र मान लेते हैं, कुलाचार को ही जैनधर्म कह देते हैं, पुण्य-पाप कर्म के चक्कर में अनाम के स्थान पर कंदमूल खा लेते है, मूड़ को मुड़ाकर, देह को जलाकर ही धर्म मानते हैं। शास्त्र का प्रवचन करते हुए भी शास्त्र को नहीं समझते।[१२२] नरदेह पाने से पंडित कहलाने से तीर्थ स्थान करने से, द्रव्यार्जन करने से छत्रधारी होने से, केश के मुड़ाने से और भेष के धारण करने से क्या तात्पर्य, यदि आत्म प्रकाशात्मक ज्ञान नहीं हुआ।[१२३] ज्ञानार्जन किये बिना ही अनेक प्रकार के साधु विविध साधना करते हुए दिखाई देते हैं। उनमें कुछ कनफटा, जटाधारी, भस्म लपेटे, चेरियों से घिरे धूम-पायी साधु हैं जो कामवासना से पीड़ित और विषयभोगों में लीन हैं -

केऊ फिरै कानफटा, केऊ शीस धरै जटा,
केऊ लिए भस्मवटा भूले भटकत है।
केऊ तज जांहि अटा, केऊ घेरे चेरी चटा,
केऊ पढ़ै पट केऊ धूम गटकत है।।
केऊ तत किये लटा, केऊ महादीसें कटा,
केऊ तरतटा केऊ रसा लटकत है।
भ्रम भावतैं न हटा हिये काम नहीं घटा,
विषै सुख रटा साथ हाथ पटकत है ।।१०।।[१२४]

कान फटाकर योगी बन जाते हैं, कंधे पर झोली लटका लेते हैं, पर तृष्णा का विनाश नहीं करते तो ऐसे ढोंगी योगी बनने का कोई फल नहीं। यति हुआ पर इन्द्रियों पर विजय नहीं पायी, पांचों भूतों को मारा नहीं, जीव अजीव को समझा नहीं, वेष लेकर भी पराजित हुआ, वेद पढ़कर ब्राह्मण कहलाये पर ब्रह्मदशा का ज्ञान नहीं। आत्म तत्त्व को समझा नहीं तो उसका क्या तात्पर्य ? जंगल जाने, भस्म चढ़ाने और जटा धारण करने से कोई अर्थ नहीं, जब तक पर पदार्थो से आशा न तोड़ी जाय।[१२५] पाण्डे हेमराज ने भी इसी तरह कहा कि शुद्धात्मा का अनुभव किये बिना तीर्थ स्नान, शिर मुंडन, तप-तापन आदि सब कुछ व्यर्थ है - ''शुद्धातम अनुभी बिना क्यों पावै सिवषेत''।[१२६] जिनहर्ष ने ज्ञान के बिना मुण्डन तप आदि को मात्र कष्ट उठाना बताया है। उन क्रियाओं से मोक्ष को कोई सम्बन्ध नहीं - ''कष्ट करे जसराज बहुत पे ग्यान बिना शिव पंथ न पावें।''[१२७] शिरोमणिदास ने ''नहीं दिगम्बर नहीं वगत धर, ये जती नहीं भंव भ्रमें अपार''[१२८] कहकर और पं. दौलतराम ने ''मूंड मुंडाये कहां तत्त्व नहि पावै जौ लौ लिखकर, भूधरदास ने ''अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई'' कहकर इसी तथ्य को

उद्घाटित किया है और शिथिलाचार की भर्त्सना की है।[१२९] किशनसिंह ने बाह्यक्रियाओं को व्यर्थ बताकर अन्तरंग शुद्धि पर यह कहकर बल दिया -

जिन आपकूं जीया नहीं, तन मन कूं षोज्या नहीं ।
मन मैल कुं धोया नहीं, अंगुल किया तो क्या हुआ ।।
लालच करै दिल दाम की, षासति करै बाद काम की ।
हिरदै नहीं सुद्ध राम की, हरि हरि कह्या तो क्या हुआ ।।
कूता हुआ धन मालदा, धंध करै जंजालदा ।
हिरदा हुआ च्यंमालदा, कासी गया तो क्या हुआ ।।''[१३०]

बाह्य क्रियाओं के करने से जीव रागादिक वासनाओं में लिप्त रहता है और अपना आत्मकल्याण नहीं कर पाता इसलिए ऐसे बाह्याडम्बरों का निषेध जैन साधकों और कवियों ने जैनेतर सन्तों के समान ही किया है। दौलतराम ने देह आश्रित बाह्यक्रियाओं को मोक्ष प्राप्ति की विफलता का कारण माना है । इसलिए वे कहते हैं -

आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे ।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे।
निज-निर्वेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे ।[१३१]

८. मन की चंचलता

रहस्यभावना की साधना का केन्द्र मन है। उसकी गति चूंकि तीव्रतम होती है इसलिए उसे वश में करना साधक के लिए अत्यावश्यक हो जाता है । मन का शैथिल्य साधना को डगमगाने में पर्याप्त होता है। शायद यही कारण है कि हर साधना में मन को वश में करने की बात कही है । जैन योग साधना भी इसमें पीछे नहीं रही।

संसारी मन का यह कुछ स्वभाव सा है कि जिस और उसे जाने के लिए रोका जाता है उसी और वह दौड़ता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पं. रूपचन्द्र का अनुभव है कि उनका मन सदैव विपरीत रीति चलता है। जिन सांसारिक पदार्थो से उसने कष्ट पाया है उन्हीं में प्रीति करता है। पर पदार्थो में आसक्त होकर अनैतिक आचरण भी करता है। कवि उसे वश में नहीं कर पाता और हारकर बैठ जाता है।[१३२]

कलाकार बनारसीदास ने मन को जहाज का रूपक देकर उसके स्वभाव की ओर अधिक स्पष्ट कर दिया है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को समुद्र पार करने के लिए एक ही मार्ग रहता है जहाज, उसी तरह भंव (समुद्र) से मुक्त होने के लिए सम्यग्ज्ञानी को मन रूपी जहाज का आश्रय लेना पड़ता है। वह मन-घट में स्वयं में विद्यमान रहता है, पर अज्ञानी उसे बाहर खोजता है, यह आश्चर्य का विषय है। कर्मरूपी समुद्र में राग-द्वेषादि विभाव का जल है, उसमें विषय की तरंगें उठती रहती हैं, तृष्णा की प्रबल बड़वाग्नि और ममता का शब्द फैला रहता है। भ्रमरूपी भंवर है जिसमें मन रूपी जहाज पवन के जोर से चारों दिशाओं में चक्कर लगाता, गिरता खिरता, डूबता, उतराता है। जब चेतन रूप स्वामी जागता है और उसका परिणाम समझता है तो वह समता रूप श्रृंखला फैकता है। फलतः भंवर का प्रकोप कम हो जाता है।

कर्म समुद्र विभाव जल, विषयकषाय तरंग।
बडवाग्नि तृष्ण प्रबल, मता धुनि सरबंग।।५।।
भरम भंवर तामें फिरै, मनजहाज चहुँ और।
गिरै खिरै बूडे तिरै, उदय पवन के जोर ।।६।।

जब चेतन मालिम जगै, लखै विपाक नींम।
डारै समता श्रृंखला, थकै भ्रमर की धूम ।।७।।[१३३]

बनारसीदास का मन इधर-उधर बहुत भटकता रहा। इसलिए वे कहते हैं कि रे मन, सदा सन्तोष धारण किया कर। सब दुःखादिक दोष उससे नष्ट हो जाते हैं।[१३४] मन भ्रम अथवा दुविधा का घर है। कवि को इसकी बड़ी चिन्ता है कि इस मन की यह दुविधा कब मिटेगी और कब वह निजनाथ निरंजन का स्मरण करेगा, कब वह अक्षयपद की ओर लक्ष्य बनायेगा, कब वह तन की ममता छोड़कर समता ग्रहण कर शुभ ध्यान की ओर मुड़ेगा, सद्गुरु के वचन उसके घट के अन्दर निरन्तर कब रहेंगे, कब परमार्थ सुख को प्राप्त करेगा, कब धन की तृष्णा दूर होगी, कब घर को छोड़कर एकाकी वनवासी होगा। अपने मन की ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए कवि आतुर होता हुआ दिखाई देता है।[१३५]

जगजीवन का मन धर्म के मर्म को नहीं पहचान सका। उसके मन ने दूसरों की हिंसा कर धन का अपहरण करता चाहा, पर स्त्री से रति करनी चाही, असत्य भाषण कर बुरा करना चाहा, परिग्रह का भार लेना चाहा, तृष्णा के कारण संकल्प विकल्पमय परिणाम किये, रौद्रभाव धारण किये, क्रोध, मान, माया लोभादिक कषाय और अष्टपद के वशीभूत होकर मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा, पापमयी क्रियायें कर सुख-सम्पत्ति चाही, पर मिली नहीं।[१३६] जगतराम का मन भी बस में नहीं होता। वे किसी तरह से उसे खींचकर भगवच्चरण में लगाते हैं। पर क्षण भर बाद पुनः वह वहाँ से भाग जाता है। असाता कर्मो ने उसे खूब झकझोरा है इसलिए वह शिथिल और मुरझा-सा गया है। साता कर्मोका उदय आते ही वह हर्षित हो जाता है।[१३७] रूपचन्द अपने मन की उल्टी रीति की और संकेत करते हैं कि जहां दुःख मिलता है वहीं वह दौड़ता है इसलिए वे उसे सामने अपनी हार मान लेते हैं।[१३८]

पर पदार्थो से ममत्व करने के बाद भैया भगवतीदास को जब ज्ञान का आभास होता है तो वह कह उठते हैं, रे मूढ मन, तूं चेतन को भूलकर इस परछाया में कहां भटक गये हो ? इसमें तेरा कोई स्वरूप नहीं। यह तो मात्र व्याधि का घर है। तेरा स्वरूप तो सदा सम्यक् गुण रहा है और शेष माया रूप भ्रम है। इस अनुपम रूप को देखते ही सिद्ध स्वरूप प्राप्त हो जायेगा।[१३९] अभी तक विषय सुखों में तू रमा रहा, पर यदि विचार करो तो उससे तुम्हारा भला नहीं होगा। तूं तो ऐसे ज्ञानियों-ध्यानियों का साथ कर जिनसे गति सुधर सके। उनसे यह मोह माया छूटेगी और तुम सिद्ध पद प्राप्त कर लोगे।[१४०] चेतन कर्म चरित्र में 'चेतन मन भाई रे'' का सम्बोधन कर कवि ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मन माया, मिथ्या और शोक में लगा रहता है। इन तीनों शल्यों को मूलतः छोड़ना चाहिए। तदर्थ क्रोध, मान, माया और लोभदिक कषाय, मोह, अज्ञान विषयसुख आदि विकारों को तिलांजलि देकर अविनाशी ब्रह्म की आराधना करनी चाहिए।[१४१] संसार में आने के बाद मरण अवश्यम्भावी है फिर धन यौवन, विषय रस आदिमें रे मूढ़, क्यों लीन है, तन और आयु दोनों क्षीण उसी तरह हो रहे हैं जैसे अंजुलि से जल झरता जाता हैं इसलिए जन्म-मरण के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करो।[१४२]

पंचेन्द्रिय संवाद में मन के दोनों पक्षों को कवि ने सुघडता से रखा है। मन अपने आपको सभी का सरदार कहता है। वह कहता है कि मन से ही कर्म क्षीण होता है, करुणा से पुण्य होता है और आत्मतत्त्व जाना जाता है। इसलिए मन इन्द्रियों का राजा है और इन्द्रियां मन की दास हैं। तब मुनिराज ने उसका दूसरा पक्ष उसी के समक्ष रखा-रे मन,

तू व्यर्थ मे गर्व कर रहा है। तुम्हारे कारण ही तन्दुल मच्छ नरक में जाता है, जीव कोई पाप करता है तब उसका अनुमोदन करता है, इन्द्रियां तो शरीर के साथ ही बैठी रहती हैं पर तूं दिन रात इधर-उधर चक्कर लगाता रहता है। फलतः कर्म बंधते जाते हैं। इसलिए रे मन, राग द्वेष को दूर का परमात्मा में अपने को लगाओ। मनवत्तीसी में कवि ने मन के चार प्रकार बताये हैं - सत्य, असत्य अनुभय और उभय। प्रथम दो प्रकार संसार की ओर झुकते हैं और शेष दो प्रकार भवपार कराते हैं। मन यदि ब्रह्म में लग गया तो अपार सुख का कारण बना, पर यदि भ्रम में लग गया तो अपार दुःख का कारण सिद्ध होगा। इसलिए त्रिलोक में मन से बली और कोई नहीं। मन दास भी है, भूप भी है। वह अति चंचल है। जीते जी आत्मज्ञान और मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिसने उसे पराजित कर दिया वही सही योद्धा है। जैसे ही मन ध्यान में केन्द्रित हो जाता है, इन्द्रियां निराश हो जाती हैं और आत्म ब्रह्म प्रगट हो जाता है। मन जैसा मूर्ख भी संसार में कोई दूसरा नहीं। वह सुख-सागर को छोड़कर विष के वन में बैठ जाता है। बड़े-बड़े महाराजाओं ने षट्खण्ड का राज्य किया पर वे मन को नहीं जती पाये इसलिए उन्हें नरक गति के दुःख भोगना पड़े। मन पर विजय न पाने के कारण ही इन्द्र भी आकर गर्भधारण करता है अतः भाव ही बन्ध का कारण है और भाव ही मुक्ति का।[१४४]

कवि भूधरदास ने मन को हाथी मानकर उसके अपर-ज्ञान को महावत के रूप में बैठाया पर उसे वह गिराकर, सुमति की सांकल तोड़कर भाग खड़ा हुआ। उसने गुरु का अंकुश नहीं माना, ब्रह्मचर्य रूप वृक्ष को उखाड़ दिया, अघरज से स्नान किया, कर्ण और इन्द्रियों की चपलता को धारण किया, कुमति रूप हथिनी से रमण किया। इस

प्रकार यह मदमत्त-मन-हाथी स्वच्छतापूर्वक विचरण कर रहा है। गुण रूप पथिक उसके पास एक भी नहीं आता। इसलिए जीव का कर्त्तव्य है कि वह उसे वैराग्य के स्तम्भ से बांध ले।

ज्ञान महावत डारि, सुमति संकलगहि खण्डै ।
गुरु अंकुश नहिं गिनै, ब्रह्मव्रत-विरख विहंडै ।।
करि सिंघत सर न्हौन, केलि अध-रज सौं ठानै ।
करन चलनता धरै, कुमति करनी रति मानै ।।
डोलत सुछन्द मदमत्त अति, गुण-पथिक न आवत उरै ।
वैराग्य खंभतैं बांध नर, मन-पतंग विचरत बुरै ।।[१४५]

एक स्थान पर भूधरदास कवि ने मन को सुआ और जिनचरण को पिंजरा का रूपक देकर सुआ को पिंजरे में बैठने की सलाह दी और अनेक उपमाओं के साथ कर्मो से मुक्त हो जाने का आग्रह किया है - 'मेरे मन सुआ जिनपद-पींजरे वसि यार लाव न बार रे (भूधरविलास पद ५)। इसी तरह आगे कवि ने मन को मूरखपंथी कहकर हँस के सांग रूपक द्वारा उसे सांसारिक वासनाओं से विरक्त रहने का उपदेश दिया है और जिनचरण में बैठकर सद्गुरु के वचनरूपी नीतियों को चुनने की सलाह दी है- मन हँस हमारी ले शिक्षा हितकारी।' (वही पद ३३)

मन की पहेली को कवि दौलतराम ने जब परखा तो वे कह उठे - 'रे मन, तेरी को कुटेव यह'। यह तेरी कैसी प्रवृत्ति है कि तू सदैव इन्द्रिय विषयों में लगा रहता है। इन्हीं के कारण तो अनादिकाल से तू निज स्वरूप को पहिचान नहीं सका और शाश्वत् सुख को प्राप्त नहीं कर सका। यह एकेन्द्रिय सुख पराधीन, क्षण-क्षयी दुःखदायी, दुर्गति और विपत्ति देने वाला है। क्या तू नहीं जानता कि स्पर्श इन्द्रिय के

विषय उपभोग में हाथी गड्ढे में गिरता है और परतन्त्र बन कर अपार दुःख उठाता है। रसना इन्द्रिय के वश होकर मछली काँटे में अपना कण्ठ फँसाती है और मर जाती है। गन्ध के लोभ में भ्रमर कमल पर मण्डराता है और उसी में बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। सौन्दर्य के चक्कर में आकर पतंग दीपशिखा में अपनी आहुति दे डालता है। कर्णेन्द्रिय के लालच में संगीत पर मुग्ध होकर हरिणवन में व्याधों के हाथ अपने को सौप देता है। इसलिए रे मन, गुरु सीख को मान और इन सभी विषयों को छोड़ -

रे मन तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है ।
इन्हीं के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है ।
पराधीन छिन-छिन समाकुल, दुरगति-विपत्ति चखावै है ।।
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुःख पावै है ।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कंठ छिदावै है ।।
गंध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावै है ।
नयन-विषयवश दीप शिखा में, अंग पतंग जरावै है ।।
करन विषयवश हिरन अरन में, खलकर प्रान लुभावै है ।
दौलत तज इनको, जिनको भज, यह गुरु-सीख सुनावै है ।।[१४६]

जैनेतर आचार्यो की तरह हिन्दी के जैनाचार्यो ने भी मन को करहा की उपमा दी है। ब्रह्मदीप का मन विषय रूप वेलि को चरने की ओर झुकता है पर उसे ऐसा करने के लिए कवि आग्रह करता है क्योंकि उसी के कारण उसे संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाना पड़े - ''मन कर हा भव बनिमा चरइ, तदि विष वेल्लरी बहूत। तहं चरंतहं बहु दुखु पाइयउ, तब जानहु गौ मीत।'' इस विषयवासना में शाश्वत् सुख की प्राप्ति नहीं होगी। रे मूढ़, इन मन रूपी हाथी हो विन्ध्य की ओर जाने से

रोको अन्यथा यह तुम्हारे शील रूप वन को तहस-नहस कर देगा। फलतः तुम्हें संसार में परिभ्रमण करते रहना पड़ेगा -

अरे मणकरह म रइ करहि इंदियविसय सुहेण ।
सुक्खु णिरंतरु जेहि णवि मुच्चहि ते वि खणेण ।।
अम्मिय इहु मणु हत्थिया विझहं जंतउ वारि ।
तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि ।।[१४७]

भगवतीदास को मन सबसे अधिक प्रबल लगा। त्रिलोकों में भ्रमण कराने वाला यही मन है वह दास भी है। उसका स्वभाव चंचलता है उसे वश में किये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मन को ध्यान में केन्द्रित करते ही इन्द्रियां निराश हो जाती हैं और आत्मब्रह्म प्रकाशित हो जाता है।

मन सो बली न दूसरो, देख्यो इहिं संसार ।।
तीन लोक में फिरत ही, जतन लागै बार ।।८।।
मन दासन को दास है, मन भूपन को भूप ।।
मन सब बातनि योग्य है, मन की कथा अनूप ।।९।।
मन राजा की सैन सब, इन्द्रिय से उमराव ।।
रात दिना दौरत फिरै, करै अनेक अन्याव ।।१०।।
इन्द्रिय से उमराज जिहं, विषय देश विचरंत ।।
भैया तिह मन भूपको, कौ जीतै विन संत ।।११।।
मन चंचल मन चपल अति, मन बहु कर्म कमाय ।।
मन जीते विन आत्मा, मुक्ति कही किम थाय ।।१२।।
मन सो जोधा जगत में, और दूसरो नाहिं ।।
ताहि पछारै सो सुभट, जीत लहै जग माहिं ।।१३।।

मन इन्द्रिय को भूप है, ताहि करै जो जेर ।।
सो सुख पावे मुक्ति के, या में कछू न फेर।।१४।।
जब मन मूंघो ध्यान में, इन्द्रिय भई निराश ।।
तब इह आतम ब्रह्म ने, कीने निज परकाश ।।१५।।[१४८]

बुधजन को संसार में उलझा हुआ मन बाबला-सा लगने लगा जो पर वस्तुओं को अपने अधिकार में करना चाहता है - ''मनुआ बावला हो गया। (बुधजन विलास, पद १०४), इसी तरह वे अन्यत्र कह उठते हैं - हाँ मनाजी थारि गति बुरि छै दुखदाई हो। निज कारण में नेक न लागत पर सी प्रीति लगाई हो (वही, पद ६२)। और जब तक जाते हैं तो मन को उसकी अनन्त चतुष्टयी शक्ति का स्मरण कराकर कह उठते हैं - रे मन मेरा तू मेरौ कह्यौ मान-मान रे (वही, पद ६४)।

द्यानतराय मन को सन्तोष धारण करने का उद्बोधन करते हैं और उसी को सबसे बड़ा धन मानते हैं - ''बाहु सन्तोष सदा मन रे, जा सम और नहीं धन दें'' (द्यानत पद संग्रह, पद ६१) इसलिए वे विषय भोगों को विष-बेल के समान मानकर जिन नाम स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं। - ''जिन नाम सुमर मन बावरें कहा इत उत भटकै। विषय प्रकट विष बेल हैं जिनमें जिन अटकै।'' (वही, पद १०२) वीतराग का ध्यान ही उनकी दृष्टि में सदैव सुखकारी है - कर मन ! वीतराग को ध्यान ।..... द्यानत यह गुन नाम मालिका पहिर हिये सुखदान (वही, पद ६१)।

इस प्रकार हमने देखा कि उक्त बाधक तत्त्वों के कारण साधक साधना पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। कभी वह सांसारिक विषय-

वासनाओं को असली सुख मानकर उसी में उलझ जाता है, कभी शरीर से ममत्व रखने के कारण उसी की चिन्ता में लीन रहता है, कभी कर्मो के आश्रव आने और शुभ-अशुभ कर्मजाल में फँसने के कारण आत्म-कल्याण नहीं करता, कभी मिथ्यात्व, माया-मोह आदि के आवरण में लिप्त रहता है, कभी बाह्याडम्बरों को ही परमार्थ का साधन मानकर उन्हीं क्रिया-काण्डों में प्रवृत्त रहता है और कभी मन की चंचलता के फलस्वरूप उसका साधना रूपी जहाज डगमगाने लगता है जिससे रहस्य साधना का पथ ओझल हो जाता है। कभी वह अष्टादश दोषों से प्रपीड़ित और आकुलित रहता है, कभी राग-द्वेष से अधिकाधिक प्रेम करने के कारण परमात्म स्वरूप के दर्शनों का आनन्द नहीं ले पाता। मोह प्राबल्य के कारण चिदानन्द के सुख से दूर बना रहता है। संसारी जीव का भोगासक्त मन वीतरागता की ओर आकर्षित नहीं हो पाता, निजनाथ निरंजन के सुमिरन करने में वह दुविधा ग्रस्त बना रहता है। अक्षय पद रूपी धन की बूंदे चखने का उसे सौभाग्य ही नहीं मिल पाता, सद्गुरु के वचनों के प्रति दृढ श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो पाती, हृदय में समता भाव जाग्रत नहीं हो पाता। फलतः संसार का संसरण बढता ही चला जाता है और मुक्ति पथ का महाद्वार खुल नहीं पाता।

षष्ठ परिवर्त

रहस्य भावना के साधक तत्त्व

रहस्य भावना के पूर्वोक्त बाधक तत्त्वों को दूर करने के बाद साधक का मन निश्छल और शांत हो जाता है। वह वीतरागी सद्गुरु की खोज में रहता है। सद्गुरु प्राप्ति के बाद साधक उससे संसार-सागर से पार होने के लिए मार्ग-दर्शन की आकांक्षा व्यक्त करता है। सद्गुरु की अमृतवाणी को सुनकर उसे संसार से वैराग्य होने लगता है। वह संसार की प्रवृत्ति को अच्छी तरह समझने लगता है, शरीर की अपवित्रता, विनश्वर शीलता और नरभव-दुर्लभता पर विचार करता है, आत्म सम्बोधन, पश्चात्ताप आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन करता है, वासना और कर्म फल का अनुभव करने लगता है, चेतन और कर्म के सम्बन्ध पर गम्भीरतापूर्वक मनन करता है, आश्रव और बन्ध के कारणों को दूर कर संवर और निर्जरा तत्त्व की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है। बाह्य क्रियाओं से मुक्त होकर अन्तः करण को विशुद्ध करता है, स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान को प्राप्त करता है और सम्यग्दर्शन और ज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए साधना करता है। इस स्थिति में आते-आते साधक का चित्त मिथ्यात्व की ओर से पूर्णतः दूर हट जाता है तथा भेदविज्ञान में स्थिरता लाने के लिए साधक तप और वैराग्य के माध्यम से परमार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए क्रमशः शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी बन जाता है। अभी तक साधक के लिए

जो तत्त्व रहस्य बना था उसकी गुत्थी धीरे-धीरे रहस्यभावना और रहस्य तत्त्वों के माध्यम से सुलझने लगती है। वह कषाय, लेश्या आदि मार्गणाओं से मुक्त होकर महाव्रतों का अनुपालन कर गुणस्थानों के माध्यम से क्रमशः निर्वाण प्राप्ति की ओर अभिमुख हो जाता है।

१. सद्गुरु

जैन साधना में सद्गुरु प्राप्ति का विशेष महत्त्व है। विशेषतः उसका महत्त्व रहस्य साधकों के लिए है, जिन्हें वह साधना करने की प्रेरणा देता है। रहस्य साधना में जो तत्त्व बाधा डालते हैं उनके प्रति अरुचि जाग्रत कर साधना की ओर अग्रसर करता है। साधना में सद्गुरु का स्थान वही है जो अर्हन्त का है। जैन साधकों ने अर्हन्त-तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधु को सद्गुरु मानकर उनकी उपासना, स्तुति और भक्ति की है।[१] मोहादिक कर्मो के बने रहने के कारण वह 'बड़े भागनि' से हो पाती है।[२] कुशल लाभ ने गुरु श्री पूज्यवाहण के उपदेशों को कोकिल-कामिनी के गीतों में, मयूरों की थिरकन में और चकोरों के पुलकित नयनों में देखा। उनके ध्यान में स्नान करते ही शीतल पवन की लहरें चलने लगती हैं सकल जगत् सुपथ की सुगन्ध से महकने लगता है, सातों क्षेत्र सुधर्म से आपूर हो जाता है। ऐसे गुरु के प्रसाद की उपलब्धि यदि हो सके तो शाश्वत् सुख प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं होगी -

'सदा गुरु ध्यान स्नानलहरि शीतल वहइ रे।
कीर्ति सुजस विसाल सकल जग मह महइ रे।
साते क्षेत्र सुठाम सुधर्महं नीपजई रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे।।[३]

खरतर गच्छीय पहुराज को अपने गुरु जिनोदय सूरि के शील संयम ने बडा आकर्षित किया। कवि ने जिनोदय सूरि गुण वर्णन काव्य (सं. १४३१) में उनका वर्णन इस प्रकार किया है -

कवणि कवणि गुणि थुणउं कवणि किणिमेय वखाणउं ।
थूलभद्द तुह सील लब्धि, गोयम तुह जाणउ ।
पाव पंक भउ मलिउ दलिउ कंदप्प निरुत्तउ ।
जिण मुनिवर सिरि तिलउ भविय कप्पयरु पहुत्तउ ।
जिण उदय सूरि मणहर रयण सुगुरु पट्टधर उद्धरण,
पहुराज भणइ इम जाणि करि फल मनवंछित सुहकरणु ।५।

मानसिंह ने क्षुल्लक कुमार चौपइ (सं. १६७०) में सद्गुरु की संगति को मोक्षप्राप्ति का कारण माना है। उनका कहना है -

श्री सद्गुरु पद जुग नमी, सरसति ध्यान धरेसु;
क्षुल्लक कुमार सुसाधुना, गुण संग्रहण करेशु ।
गुणग्रहतां गुण पाइयइ, गुणि रंजइ गुणजाण,
कमलि भ्रमर आवइ चतुर, दादुर ग्रह इन अजाण ।
गुणिजन संगत थइ निपुण, पावइ उत्तम ठाम,
कुसुमसंग डोरो कंटक केतकि सिरि अभिराम ।
पहिलउ धर्म न संग्रहिउ, मात कहिइ गुरुवयण,
नटुइवयणे जागीयइ, विकसे अंतरनयण ।

सोमप्रभाचार्य के भावों का अनुकरण कर बनारसीदास ने भी गुरु सेवा को 'पायपंथ परिहरहिं धरहिं शुभपंथ पग' तथा 'सदा अवांछित चित्त जुतारन तरन जग' माना है सद्गुरु की कृपा से मिथ्यात्व का विनाश होता है। सुगति-दुर्गति के विधायक कर्मो के विधि-निषेध का ज्ञान होता है, पुण्य-पाप का अर्थ समझ में आता है, संसार-सागर

को पार करने के लिए सद्गुरु वस्तुतः एक जहाज है। उसकी समानता संसार में और कोई भी नहीं कर सकता -

मिथ्यात्व दलन सिद्धान्त साधक, मुकतिमारग जानिये।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये।
संसारसागर तरन तारन, गुरु जहाज विशेखिये।
जगमांहि गुरुसम कह 'बनारसि', और कोउ न पेखिये ।।[४]

कवि का गुरु अनन्तगुणी, निराबाधी, रूपाधि, अविनाशी, चिदानंदमय और ब्रह्मसमाधिमय है। उनका ज्ञान दिन में सूर्य का प्रकाश और रात्रि में चन्द्र का प्रकाश है। इसलिए हे प्राणी, चेतो और गुरु की अमृत रूप तथा निश्चय-व्यहारनय रूप वाणी को सूनो। मर्मी व्यक्ति ही मर्म को जान पाता है।[५] गुरु की वाणी को ही उन्होंने जिनागम कहा और उसकी ही शुभधर्मप्रकाशक, पापविनाश, कुनयभेदक, तृष्णानाशक आदि रूप से स्तुति की।[६] जिस प्रकार से अंजन रूप औषधि के लगाने से तिमिर रोग नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सद्गुरु के उपदेश से संशयादि दोष विनष्ट हो जाते हैं।[७] शिव पच्चीसी में गुरु वाणी को 'जलहरी' कहा है।[८] उसे सुमति और शारदा कहकर कवि ने सुमति देव्यष्टोत्तर शतानाम तथा शारदाष्टक लिखा है जिनमें गुरुवाणी को 'सुधाधर्म, संसाधनी धर्मशाला, सुधातापनि नाशनी मेघमाला। महामोह विध्वंसनी मोक्षदानी' कहकर 'नामोदेवि वागेश्वरी जैनवानी' आदि रूप से स्तुति की है।[९] केवलज्ञानी सद्गुरु के हृदय रूप सरोवर से नदी रूप जिनवाणी निकलकर शास्त्र रूप समुद्र में प्रविष्ट हो गई। इसलिए वह सत्य स्वरूप और अनन्तनयात्मक हैं[१०] । कवि ने उसकी मेघ से उपमा देकर सम्पूर्ण जगत के लिए हितकारिणी माना है।[११] उसे सम्यग्दृष्टि समझते हैं और मिथ्यादृष्टि नहीं समझ पाते। इस तथ्य को कवि ने अनेक प्रकार से समझाया है जिस प्रकार निर्वाण साध्य

है और अरहंत, श्रावक, साधु, सम्यक्त्व आदि अवस्थायें साधक हैं, इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। ये सब अवस्थायें एक जीव की हैं। ऐसा जानने वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।[१२]

सहजकीर्ति गुरु के दर्शन को परमानन्ददायी मानते हैं - 'दरशन नधिक आणंद जंगम सुर तरुकंद।' उनके गुण अवर्णनीय हैं - 'वरणवी हूं नवि सकूं,'[१३]। जगतराम ध्यानस्थ होकर अलख निरंजन को जगाने वाले सद्गुरु पर बलिहारी हो जाता है।[१४] और फिर सद्गुरु के प्रति 'ता जोगी चित लावो मोरे वालो' कहकर अपना अनुराग प्रगट किया है।[१५] वह शील रूप लंगोटी में संयम रूप डोरी से गाँठ लगाता है क्षमा और करुणा का नाद बजाता है तथा ज्ञान रूप गुफा में दीपक संजोकर चेतन को जगाता है। कहता है, रे चेतन, तुम ज्ञानी हो और समझाने वाला सद्गुरु है तब भी तुम्हारे समझ में नहीं आता, यह आश्चर्य का विषय है।

सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै अरु तुमहू हौ ज्ञानी, तबहूं तुमहिं न क्यों हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी।[१६]

पांडे हेमराज का गुरु दीपक के समान प्रकाश करने वाला है और वह तमनाशक और वैरागी है।[१७] उसे आश्चर्य है कि ऐसे गुरु के वचनों को भी जीव न तो सुनता है और न विषयवासना तथा पापादिक कर्मो से दूर होता है।[१८] इसलिए वह कह उठता है-सीष सगुरु की मानि लै रै लाल।[१९]

रूपचन्द की दृष्टि में गुरु-कृपा के बिना भवसागर से पार नहीं हुआ जा सकता।[२०] ब्रह्मदीप उसकी ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के लिए आतुर दिखाई देते हैं - 'कहै ब्रह्मदीप सजन समुझाई करि जोति में जोति मिलावै।[२१]

ब्रह्मदीप के समान ही आनंदघन ने भी 'अबधू' के सम्बोधन से योगी गुरु के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[२२] भैया भगवतीदास ने ऐसे ही योगी सद्गुरु के वचनामृत द्वारा संसारी जीवों को सचेत हो जाने के लिए आवाहन किया है -

एतो दुःख संसार में, एतो सुख सब जान ।
इति लखि भैया चैतिये, सुगुरुवचन उर आन ।।[२३]

मधुबिन्दुक की चौपाई में उन्होंने अन्य रहस्यवादी सन्तों के समान गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका विश्वास है कि सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता, पर वीतरागी सद्गुरु भी आसानी से नहीं मिलता, पुण्य के उदय से ही ऐसा सद्गुरु मिलता है -

'सुअटा सोचै हिए मझार। ये गुरु सांचे तारनहार ।।
मैं शठ फिरयोकरम वन मांहि। ऐसे गुरु कहुं पाए नाहिं ।
अब मो पुण्य उदय कुछ भयौ। सांचे गुरु को दर्शन लयो ।।[२४]

पांडे रूपचन्द गीत परमार्थी में आत्मा को सम्बोधते हुए सद्गुरु के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सद्गुरु अमृतमय तथा हितकारी वचनों से चेतन को समझाता है-

चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै ।
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै।
सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै, आरु तुमहू हौ घानी ।
तबहूं तुमहिं न क्यों हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी।।[२५]

दौलतराम जैन गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए चिंतित दिखाई देते हैं कि उन्हें वैसा गुरु कब मिलेगा जो कंचन-कांच में व निंदक-

वंदक में समताभावी हो, वीतरागी हो, दुर्धर तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, संयमी हो। ऐसे ही गुरु भवसागर से पार करा सकते हैं -

कब हौं मिलैं मोहि श्री गुरु मुनविर करि हैं भवोदधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीन्हों छाड़ि परिग्रह मारा हो ।।
कंचन--कांच बराकर जिनके, निदंक-बंधक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निजघर मन वचन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरे पावस तरुतर ठारा हो ।
करुणा मीन हीन त्रस थावर ईर्यापथ समारा हो ।।
मास छमासउपास बासवन पासुक करत अहारा हो।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनके धर्म शुक्ल चित धारा हो।।
ध्यानारूढ़ गुढ़ निज आतम शुद्ध उपयोग विचारा हो।
आप तरहि औरनि कौ तारहिं, भव जल सिन्धु अपारा हो।
दौलत ऐसे जैन जतिन को निजप्रति धोक हमारा हो।।

(दौलत विलास, पद ७२)

द्यानतराय को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं दिया। तदनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नंष्ट नहीं कर पाता, मेघ के समान सभीपर समानभाव से निस्वार्थ होकर कृपा जल वर्षाता है, नरक तिर्यंच आदि गतियों से जीवों को लाकर स्वर्ग-मोक्ष में पहुंचाता है अतः त्रिभुवन में दीपक के समान प्रकाश करनेवाला गुरु ही है। वह संसार सागर से पार लगाने वाला जहाज है। विशुद्धमन से उसके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए।[२६]

कवि विषयवासना में पगे जीवों को देखकर सहानुभूतियों पूर्वक कह उठता है-

जो तजै विषय की आसा, द्यानत पावै त्रिभुवासा ।
यह सतगुरु सीख बनाई काहूं विरलै के जिय आई।।[२७]

भूधरदास को भी श्रीगुरु के उपदेश अनुपम लगते हैं इसलिए वे सम्बोधित कर कहते हैं। - ''सुन ज्ञानी प्राणी, श्रीगुरु सीख सयानी।[२८] गुरु की यह सीख रूप गंगा नदी भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली, मोह-रूपी महापर्वत को भेदती हुई आगे बढ़ी, जग को जड़ता रूपी आतप को दूर करते हुए ज्ञान रूप महासागर में गिरी, सप्तभंगी रूपी तरंगे उछलीं। उसको हमारा शतशः वन्दन। सद्गुरु की यह वाणी अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली है।

बुधजन सद्गुरु की सीख को मान लेने का आग्रह करते हैं - ''सुठिल्यौ जीव सुजान सीख गुरु हित की कही। रुल्यौ अनन्ती बार गति-गति सातान लही। (बुधजन विलास, पद ९९), गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्याले से बुधजन घोर जंगलों से दूर हो गये :-

गुरु ने पिलाया जो ज्ञान प्याला ।
यह बेखबरी परमावां की निजरस में मतवाला ।
यों तो छाक जात नहिं छिनहूं मिटि गये आन जंजाल ।
अद्भुत आनन्द मगन ध्यान में बुद्धजन हाल सम्हाला ।।

- बुधजन विलास, पद ७७

समय सुन्दर की दशा गुरु के दर्शन करते ही बदल जाती है और पुण्य दशा प्रकट हो जाती है - आज कू धन दिन मेरउ। पुण्यदशा प्रगटी अब मेरी पेखतु गुरु मुख तेरउ।। (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. १२९) साधुकीर्ति तो गुरु दर्शन के बिना विह्वल-से दिखाई देते है। इसलिए सखि से उनके आगमन का मार्ग पूछते हैं। उनकी व्याकुलता निर्गुण संतों की व्याकुलता से भी अधिक पवित्रता लिए हुए है (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. ९१)

वीर हिमाचल तै निकसी, गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है ।
मोह महाचल भेद चली, जग की जड़ता तप दूर करी है ।।
ज्ञान पयोनिधिमाहिं रुली, बहु भंग-तरंगिनि सौं उछरी है ।
ता शचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अंजुरी निज सीस धरी है।[२९]

इस प्रकार सद्गुरु और उसकी दिव्य वाणी का महत्त्व रहस्य-साधना की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सद्गुरु के प्रसाद से ही सरस्वती।[३०] और एकचित्तता की प्राप्ति होती है।[३१] ब्रह्म मिलन का मार्ग यही सुझाता है। परमात्मा से साक्षत्कार कराने में सद्गुरु का विशेष योगदान रहता है। माया का आच्छन्न आवरण उसी के उपदेश और सत्संगति से दूर हो पाता है। फलतः आत्मा विशुद्ध बन जाता है उसी विशुद्ध आत्मा को पूज्यपाद ने निश्चय नय की दृष्टि से सद्गुरु कहा है।[३२]

प्रायः सभी दार्शनिकों ने नरभव की दुर्लभता को स्वीकार किया है। यह सम्भवतः इसलिए भी होगा कि ज्ञान की जितनी अधिक गइराई तक मनुष्य पहुंच सकता है। उतनी गहराई तक अन्य कोई नहीं। साथ ही यह भी स्थायी तथ्य है कि जितना अधिक अज्ञान मनुष्य में हो सकता है उतना और दूसरे में नहीं। ज्ञान और अज्ञान दोनों की प्रकर्षता यहां देखी जा सकती है। इसलिए आचार्यो ने मानव की शक्ति का उपयोग उसके अज्ञान को दूर करने में लगाने के लिए प्रेरित किया है। एतदर्थ सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि साधक के मन में नरभव की दुर्लभता समझ में आ जाय। महात्मा बुद्ध ने भी अनेक बार अपने शिष्यों को इसी तरह का उपदेश दिया था।[३३]

मन की चंचलता से दुःखित होकर रूपचन्द कह उठते है - ''मन मानहि किन समझायो रे।'' यह नरभव-रत्न अथक प्रयत्न करने

पर सत्कर्मो के कारण प्राप्त हो सका है। पर उसे हम विषय-वासनादि विकार-भव रूप काचमणि से बदल रहे हैं।[३४] जैसे कोई व्यक्ति धनार्जन की लालसा से विदेश यात्रा करे और चिन्तामणि रत्न हाथ आने पर लौटते समय उसे पाषाण समझ कर समुद्र में फेंक दे। उसी प्रकार कोई भवसागर में भ्रमण करते हुए सत्कर्मो के प्रभव से नरजन्म मिल जाता है पर यदि अज्ञानवश उसे व्यर्थ गवा देता है तो उससे अधिक मूढ और कौन हो सकता है ?[३५] सोमप्रभाचार्य के शब्दों को बनारसीदास ने पुनः कहा कि जिसप्रकार अज्ञानी व्यक्ति सजे हुए मतंगज से ईंधन ढोये, कंचन पात्रों को धूल से भरे, अमृत रस से पैर धोये, काक को उड़ाने के लिए महामणि को फेंक दे और फिर रोये, उसी प्रकार इस नरभव को पाकर यदि निरर्थक गंवा दिया तो बाद में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईंधन ढोवै।
कंचन भाजन धूल भरै शत्, मूढ सुधारस सौं पग धोवै ।।
बाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यौं यह दुर्लभ देह 'बनारसि' पाय अजान अकारथ खोवै ।।[३६]

द्यानतराय ने 'नहि ऐसा जनम बारम्बार' कहकर यही बात कही है। उनके अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नहीं बनाता तो 'अंध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गंवार' वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जायेगी।[३७] भैया भगवतीदास ने व्यक्ति को पहले उसे सांसारिक इच्छाओं की ओर से सचेत किया है और फिर नरजन्म की दुर्लभता की ओर संकेत किया। जीव अनादिकाल से मिथ्याज्ञान के वशीभूत होकर कर्म कर रहा है। कभी वह रामा के चक्कर में पड़ता है

तो कभी वन के, कभी शरीर से राग करता है तो कभी परिवार से। उसे यह ध्यान नहीं कि 'आज कालि पींजरे सों पंछी उड़ जातु है।[३८]' रे चिदानंद, तुम अपने मूल स्वरूप पर विचार करो। जब तक तुम और रूप में पगे रहोगे, तब तक वास्तविक सुख तुम्हें नहीं मिल सकेगा। इन्द्रिय सुख को यदि तुम वास्तविक सुख मानते हो तो इससे अधिक भूल तुम्हारी और क्या होगी ? यह सुख क्षणिक है और तुम्हारा स्वरूप अविनाशी है। ऐसा नरजन्म पाकर विवेकी बनो और कर्मरोग से मुक्त होओ, इसी में कल्याण है। अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा।[३९] तुमने इतनी गाढ़ निद्रा ली जो साधारणतः और कोई नहीं लेता। अब तुम्हारे हाथ चिन्तामणि आया है, नरभव पाया है इसलिए घट की आंखें खोल और जौहरी बन।[४०]

संसार की करुण स्थिति को देखकर भी यह मूढ नर भयभीत नहीं होता। इस मनुष्य जन्म को पाकर सोते-सोते ही व्यतीत कर दिया जाय तो बहुत बढ़ी अज्ञानता होगी। उस समय की कोई कीमत नहीं लगायी जा सकती हैं एक-एक पल उसका अमूल्य है।[४१] इसलिए कवि ने 'चेतन नरभव पाय कै, हो जानि वृथा क्यों खोवै छै'[४२] का उद्घोष किया है। दौलतराम ने चतुर्गति के दुःखों का वर्णन करते हुए "दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि त्यौं पर्याय लही त्रसतणी' कहकर मनुष्य को सचेत किया है।[४३] बुधजन के भावों को देखिये, कितनी आतुरता और व्यग्रता दिखाई दे रही है। उनके शब्दों में :-

नरभव पाप फेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो ।
नाहक ममत ठानि पुद्गलसों, करम जाल क्यों परना हो ।।
नरभव० ।।१।।

यह तो जड़, तू ज्ञान-अरूपी, तिल तुष क्यों गुरु बरना हो ।
राग-द्वेष तजि, भज समता कौं, कर्म साथ के हरना हो ।।२।।
यों भव पाय विषय-सुख सेहा, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो ।
'बुधजन' समुझि सेय जिनवर-पद, ज्यों भवसागर तरना हो ।।३।।[४४]

कविवर विषयासक्त व्यक्ति की आहट को पहचानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि तुमने अभी तक बहुत विगार किया है अपना। यह नरभव मुक्ति-महल की सीढी है, संसार-सागर से पार कराने वाला तट है फिर क्यों इसे व्यर्थ खो रहा है-

''अरे हाँ तैं तो सुधरी बहुत विगारी ।
ये गति मुक्ति महल की पौरी पाप रहत क्यों पिछारी।''
(बुधजन विलास, पद २६)

भूधरदास सचेत होकर नरभव की सफलता की बात करते हैं -

अरे हा चेतो रे भाई ।
मानुष देह लही दुलही, सुधरी उधरी भवसंगति पाई ।
जे करनी वरनी करनी नहिं, समझी करनी समझाई ।
यों शुभ थान जग्यौ उर ज्ञान, विषै विषपान तृष न बुझाई ।
पारस पाव सुधारस भूधर, भीख के मांहि सुलाज न आई ।।
(भूधर विलास, पद ४६)

बिहारीदास को नरभव व्यर्थ करना समुद्र में राई फेंक कर पुनः प्राप्त करना जैसा लगा - ''आतम कठिन उपाय पाय नरभव क्यों तजै राई उदधि समानी फिर ढूंढ नहीं पाइये।''[४५] नरभव दुर्लभता के चिन्तन के साथ ही साधक का मन संसार और शरीर की नश्वरता पर भी टिक

जाता है।[४६] उसका मन तथाकथित सांसारिक सुखों की ओर से हटकर स्थायी सुख की प्राप्ति में लग जाता है। अब वह समझने लगता है कि सांसारिक सुख वस्तुतः वास्तविक सुख नहीं बल्कि सुखाभास है। नरभव दुर्लभता का चिन्तन इस चिन्तन को और आगे बढ़ा देता है।

२. आत्म सम्बोधन

नरभव दुर्लभता, शरीर आदि विषयों पर चिन्तन करने के साथ ही साधक अपने चेतन को आत्म सम्बोधन से सन्मार्ग पर लगाने की प्रेरणा देता है। इससे असद् वृत्तियाँ मन्द हो जाती हैं और साध्य की ओर भी एकाग्रता बढ़ जाती है साधक स्वयं आगे आता है और संसार के पदार्थो की क्षणभंगुरता आदि पर सोचता है।

बनारसीदास अपने चेतन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि रे चेतन, तू त्रिकाल में अकेला ही रहने वाला है। परिवार का संयोग तो ऐसा ही है, जैसे नदीनाव का संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है वहां वियोग भी निश्चित ही है। यह संसार असार है, क्षणभंगुर है। बुलबुले के समान सुख, संपत्ति, शरीर आदि सभी कुछ नष्ट होने वाले हैं। तू मोह के कारण उनमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि आत्मा के समूचे गुणों को भूल गया है। 'मैं मैं' के भाव में चतुर्गतियों में भ्रमण करता रहा। अभी भी मिथ्यामत को छोड़ दे और सद्गुरु की वाणी पर श्रद्धा कर ले। तेरा कल्याण हो जायेगा।[४७] रे चेतन, तू अभी भी मिथ्याभ्रम की घनघोर निद्रा में सोया हुआ है। जबकि कषाय रूप चार चोर तुम्हारे घर को नष्ट किये दे रहे हैं -

चेतन तुहु जनि सोवहु नींद अज्ञोर ।
चार चोर घर मूसंहि सरबस तोरो ।

इसलिए तू राग द्वेष आदि छोड़कर और कनक-कामिनी से सम्बन्ध त्याग अचेतन पदार्थो की संगति में तू सब कुछ भूल गया। तुझे यह तो समझना चाहिए था कि चकमक में कभी आग निकलती नहीं दिखती।[४८] आगे कवि अपनी आत्मा को सम्बोधते हुए कहते हैं - **'तू आतम गुन जानि रे जावि, साधु वचन मनि आनि रे आनि।** भरत चक्रवर्ती, रावण आदि पौराणिक महापुरुषों का उदाहरण देकर वे और भी अधिक स्पष्ट करते हैं कि अन्त समय आने पर ''और न तोहि छुड़ावन हार"।[४९]

यह संसारी जीवात्मा पर पदार्थो में अधिक रुचि दिखाता है और स्वयं अपने गुणों को भूल जाता है - चेतन उल्टी चाल चले।

जड़ संगत तैं जड़ता व्यापी निज गुन सकल टले।

यह चेतन बार-बार मोह में फंस जाता है इसलिए वे उसे अपने आप को सम्भालने को कहते हैं -

चेतन तोहि न नेक संसार,
नख शिख लों दृढ़ बन्धन बैठे कौन निखार।[५०]

इसीलिए बनारसीदास संसारी जीव को 'भौंदू' कहकर सम्बोधित करते हैं। उनके इस शब्द में कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है यह देखते ही बनता है। उनका कथन है - रे भौंदू, ये जो चर्म चक्षु हैं जिनसे तुम पदार्थो का दर्शन करते हो, वस्तुतः ये तुम्हारी नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति भ्रम से होती है और जहां भ्रम होता है वहां श्रम होता है। जहां श्रम होता है वहां राग होता है। जहां राग होता है वहां मोहादिक भाव होते हैं, जहां मोहादिक भाव होते हैं वहां मुक्ति प्राप्ति

असम्भव है। रे भौंदू, ये चर्म चक्षुएं तो पौद्गलिक हैं, पर तूं तो पुद्गल नहीं। ये आखें पराधीन हैं। बिना प्रकाश के वे पदार्थ को देख नहीं सकतीं। अत: ऐसी आंखे प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो किसी पर निर्भर न रहें -

भौंदू भाई ! समुझ शब्द यह मेरा,
जो तू देखै इन आंखिनसौं तामें कछु न तेरा। भौंदू०।।१।।
पराधीन बल इन आंखिन को, विनु प्रकाश न सूझै ।
सो परकाश अगति रवि शशि को, तू अपनों कर बूझे ।।
भौंदू ।।५।।[५१]

वास्तविक आखें तो 'हिये की आखें हैं। रे भौंदू, तुम उन्हीं हिये की आंखों से देखो जिनसे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता। उनसे अमृत रस की वर्षा होती है। वे केवलज्ञानी की वाणी को परख सकती है। उन आंखों से परमार्थ देखा जाता है जिससे प्राणी कृतार्थ हो जाता है। यही केवली की व्यवस्था है जहां कर्मो का लेष नहीं रहता। उन आंखों के मिलते ही अलख निरंजन जाग जाता है, मुनि ध्यान धारणा करता है। संसार के अन्य सभी कार्य मिथ्या लगने लगते हैं, विषय विकार नष्ट होकर शिव-सुख प्राप्त होता है, समता रस प्रकट होता है, निर्विकल्पावस्था में जीव रमण करने लगता है।[५२] बनारसीदास कहते हैं - ''वा दिन को कर सोच जिय ! मन में, वा दिन।।'' हे मूढ़ प्राणी जिस दिन आंधी चलेगी उसमें तुम्हें व तुम्हारे परिवार को एवं सम्पत्ति को बह जाना पड़ेगा इसलिए तू इन सब में चित्त मत लगा और निर्वाण प्राप्ति का मार्ग ग्रहण कर।[५३]

वीरचंद (१७वीं शती) ने इसी संदर्भ में संबोधसत्ताणुभावना में कतिपय शिक्षाप्रद एवं भावपूर्ण दोहे दिये हैं, यथा -

दया बीज विण जे क्रिया ते सधली अप्रमाण,
शीतल सजल जल भर्‌या नेम चंडाल न बाण।
कंठ विहणूं गान जिम, जिम विण व्याकरणे वाणि,
न सोहे धर्मदया बिना, जिम भोयण विण पाणि ।।

भैया भगवतीदास ने जीवन की तीनों अवस्थाओं का सुन्दर चित्रण करके संसारी को उद्बोधित किया है -

भूलि गयी निज रूप अनुपम, मोह-महामद के मतवारे ।
तेरो हू दाव बन्दो अब के तुम चेतन क्यों नही चेतन हारे ।।[५४]

तुम्हारे घट में चिदानन्द बैठा है उससे रूप को देखने-परखने का उपाय कीजिए-चिदानन्द भैया विराजित है घट मांहि,

ताके रूप लखिये को उपाय कछु करिये।।

पर पदार्थो के संसर्ग से आत्मधर्म को मत भूल। सम्यग्ज्ञानी होकर परमार्थ प्राप्त कर, और शुद्धानुभव रस का पान कर।[५५]

व्यक्ति भोगों की और सरलता पूर्वक दौड़ता है। उसकी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कविवर दौलतराम ने "मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी" कहकर भोगवासना को भुजंग के शरीर (भोग) के समान बताया है जो देखने में तो सुन्दर लगता है पर स्पर्श करते ही डस लेता है और मर्मान्तिक पीड़ा का कारण बनता है।[५६] जिस प्रकार तोता आकाश में चलने की अपनी गति को भूलकर नलिनी के फंदे में फंसता है और पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार रे आत्मन्, तू अपने स्वरूप को भूलकर दुःख सागर में डुबकियां लगाता है।[५७] इसलिए वे चेतन को उस और से मुड़ने के लिए कहते हैं -

'जियौ तोहि समझायौ सौ सौ बार।
देख सगुरु की परहित में रति हित-उपदेश सुनायी सौ सौ बार।
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनसों लपटाये।
स्वपद विसार रच्यो पर पद में, मदरत ज्यौं वीरायी।।
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो।।
अबहूं समुझि कठिन यह नरभव, जिनवृष विना गमायो।
ते विलखें मनि डार उपधि में, दौलत को पछतायो।।[५८]

जीव के मिथ्याज्ञान की ओर निहार कर द्यानतराय कहे बिना नहीं रह पाते-जानत क्यों नहि हे नर पाते-जानत क्यों नहि हे नर आतम ज्ञानी,

राग द्वेष पुद्गल की संगति निहचै शुद्ध निशानी ।[५९]

तू मैं मैं की भावना से क्यों ग्रसित है ? संसार का हर पदार्थ क्षणभंगुर है पर अविनाशी है -

मैं मैं काहे करत है, तन धन पवन निहार ।
तू अविनाशी आतमा, बिनासीत संसार ।।

परन्तु माया मोह के चक्कर में पड़कर स्वयं की शक्ति को भूल गया है। तेरी हर श्वासोच्छवास के साथ सोहं-सोहं के भाव उठते हैं। यही तीनों लोकों का सार है। तुम्हें तो सोहं-छोड़कर अजपाजप में लग जाना चाहिए।[६०] उदयराज जती ने प्रीति को सांसारिक मोह का कारण बताकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया है -

उदैराज कहैं सुणि आतमा इसी प्रीति जिणउँ करै ।[६१]

महात्मा आनन्दघन ने पौराणिक शब्दों और अर्थो को छोड़कर आत्मा के राम आदि नये शब्द और उनके नये अर्थ दिये हैं। 'राम' वह है जो निज पद में रमे, 'रहीम' वह है जो दूसरें पर रहम करें, 'कृष्ण' वह है जो कर्मो का क्षय करे, 'महादेव' वह है जो निर्वाण प्राप्त करे, 'पार्श्व' वह है जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श करे, ब्रह्म वह है जो आत्मा के सत्य रूप को पहिचाने। वह ब्रह्म निष्कर्म और विशुद्ध है :-

निज पद रमे राम सौ कहिये, रहिम करे रहिमान री ।
करशे कर्म काम सौ कहिये, महादेव निर्वाण री ।।
परसे रूप पारस सौ कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री ।
इह विध साधौ आप आनंदघन, चेतनमय निःकर्म री ।।[६९]

जैनदर्शन वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप पर विचार करने के लिए नय-प्रणाली का उपयोग करता है। तदनुसार वस्तु के मूल अथवा शुद्ध स्वरूप को निश्चय-नय और अशुद्ध स्वरूप को व्यवहार नय के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव की निष्कर्मावस्था पर शुद्ध अथवा निश्चयनय से और सकर्मावस्था पर अशुद्ध अथवा व्यवहार नय से विचार किया जाता है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में साधकों ने इन दोनों प्रणालियों को यथासमय अपनाया। आत्मा के स्वरूप पर भी उन्होंने इन्हीं दोनों प्रणालियों के आधार पर विचार किया है।

बुद्ध चिदानन्दरूप अपना भाव ही ज्ञान है उसी से माया-मोहादि दूर हो जाते हैं और सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द,
चीततो मूको मायामोह गेह देखिए ।[७०]

आत्मा का मूल गुण ज्ञान है। वह कर्मो के प्रभाव से प्रच्छन्न

भले ही हो जाये पर लुप्त नहीं होता। जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि में अनेक रूप धारण करता है फिर भी वह अपने स्वर्णत्व की नहीं छोड़ता।[७१] जीव की यह शुद्धावस्था चैतन्य रूप है, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त शक्ति सहित है, अमूर्तिक है, शिव है, अखंडित है, सर्वव्यापी है।[७२]

बनारसीदास के नाम पर पीताम्बर द्वारा लिखी ज्ञानवावनी में जीव के स्वरूप को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार जीव शुद्ध नय से शुद्ध, सिद्ध, ज्ञायक आदि रूप है।[७३] परन्तु कर्मादि के कारण वह उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। यहीं चिदानन्द को राजा मानकर कर्म पुद्गलों से उसका संघर्ष भी बताया है। साथ ही चेरी, सोना, परमार्थ, प्रपंच, चौपट आदि रूपकों के माध्यम से उसके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट किया है।[७४] बनारसीदास ने जीव के शुद्ध स्वरूप को शिव और ब्रह्म समाधि माना[७५] तथा शरीर में उसके निवास को उसी प्रकार बताया जिस प्रकार फल-फूलादि में सुगन्ध, दही-दूध आदि में घी, काठ पाषाणदि में पावक।[७६] इसी प्रकार का कथन मुनि महनन्दि का भी है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध में घी, तिल से तेल तथा लकड़ी में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर में आत्मा निवास करती है :-

खीरह मज्झह जैम धिउ, तिलह मंज्झि जिम तिलु।
कट्ठिहु वासणुं जिम वसइ, निम देहहि देहिल्लु।[७७]

बनारसीदास ने आत्मा और शिव को सांगरूपक में प्रस्तुत कर शिव के समूचे गुण सिद्ध में घटाये हैं। शिव को उनहोंने ब्रह्म, सिद्ध और भगवान भी कहां है। समूची शिवपच्चीसी में उनके इस सिद्धान्त की मार्मिक व्याख्या उपलब्ध है। तदनुसार जीव और शिव दोनों एक हैं।

रूपचन्द ने चेतन को चतुर सुजान कहकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचानने के लिए उद्बोधित करते हैं और कहते हैं कि पर पदार्थ अपने कभी भी नहीं हो सकते - 'रूपचन्द चितचेति नर, अपनी न होइ निदान' (हिन्दी पद संग्रह, पद ६२)। क्या औस से कभी प्यास बुझ सकती है?[६२] क्या विषय-सुख से कभी सहज-शाश्वत् सुख प्राप्त हो सकता है ? इसलिए रे चेतन ! पर-पदार्थो से प्रीति मत कर। तुम दोनों का स्वभाव बिल्कुल भिन्न है। तू विवेकी है और पर पदार्थ जड़ है। ऐसी स्थिति में तू कहाँ उनमें फँसा हुआ है - जिय जिन करहिं पर सौं प्रीति। एक प्रकृति न मिलै जासौं, को मरे तिहि नीति।[६३]

बुधजन को अज्ञानी जीव के इन कार्यो पर अचंभा होता है कि वह पाप कर्म को भी धर्म से सम्बद्ध करता है - **पाप काज करि धन कौ चाहै, धर्म विषैं मैं बतावै छै ।**[६४] इसलिए मनराम तो सीधा कह देते हैं -'चेतन इह धर नाहीं तेरौ'। मिथ्यात्व के कारण ही तूने इसे अपना घर माना है। सद्गुरु के वचन रूपी दीपक का प्रकाश मिलने पर यह तेरा आन-अंधकार आने आप ध्वस्त हो जायेगा।[६५]

भैया भगवतीदास आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए चेतन को सम्बोधते हुए कहते हैं - रे मूढ, आत्मा को पहिचान। वह ज्ञान में हैं और ध्यान में है। न वह मरता है और न उत्पन्न होता है, न राव है न रंक। वह तो ज्ञान निधान है। आत्मप्रकाश करता है और अष्ट कर्मो का नाश करता है।[६६] सुनो राय चिदानन्द, तुम अनंत काल से इन्द्रिय सुख में रमण कर रहे हो फिर भी तृप्त नहीं हुए।[६७]

साधक आत्मसम्बोधन के माध्यम से अपने कृत कर्मो पर पश्चात्ताप करता है जिसे रहस्य भावना की एक विशिष्ट सीढ़ी कही जा सकती है। उसकी यही मानसिक जागरूकता उसे साधना-पथ से विमुख नहीं होने देती। चित्त विशुद्ध हो जाने से सांसारिक आसक्ति कोसों दूर हो जाती है। फलतः वह आत्मचिन्तन में अधिक सघनता के साथ जूट जाता है।

३. आत्मचिन्तन

जैन दर्शन में सप्त तत्त्वों में जीव अथवा आत्मा को सर्व प्रमुख स्थान दिया गया है। वहां जीव के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है - संसारी और मुक्त। संसार की भिन्न-भिन्न पर्यायों में भ्रमण करने वाला सकर्म जीव संसारी कहलाता है और जब वह अपने कर्मो से विमुक्त हो जाता है तो उसे मुक्त कहा जाता है। जीव की इन दोनों पर्यायों को क्रमशः आत्मा और परमात्मा भी कहा गया है। सामान्यतः जीव के लिए चिदानन्द, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबद्ध, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवन्त, प्राणवन्त, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कुलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखण्ड, हंस, अक्षर, आत्मराम, कर्म कर्ता, परमवियोगी आदि नामों का प्रयोग किया जाता है और परमात्मा के लिए परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वन्द, मुक्त, मुकुन्द, अम्लान, निराबाध, निगम, निरंजन, निर्विकार, निराकार, संसार-शिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान आदि नाम दिये जाते हैं।[६८]

व्यवहारतः वह जीव है और निश्चय नय से वह शिव रूप है। जीव शिव की पूजा करता है और बाद में शिव रूप को प्राप्त करता है। कवि ने यहां निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं को एकत्व में समाहित करने का प्रयत्न किया है। जीव शिव रूप जिनेन्द्र की पूजा साध्य की प्राप्ति के लिए करता है। बनारसीदास ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उसी शिव को सिद्ध में प्रस्थापित कर दिया है। तनमंडप रूप वेदी है उस पर शुभलेश्या रूप सफेदी है। आत्म रुचि रूप कुण्डली बनी है, सद्गुरु की वाणी जल-लहरी है उसके सगुण स्वरूप की पूजा होती है। समरस रूप जल का अभिषेक होता है, उपशम रूप रस का चन्दन घिस जाता है, सहजानन्द रूप पुष्प की उत्पत्ति होती है, गुण गर्भित 'जयमाल' चढ़ायी हाती है। ज्ञान-दीप की शिखा प्रज्वलित हो उठती है, स्याद्वाद का घंटा झंकारता है, अगम अध्यात्म चवर डुलाते हैं, क्षायक रूप धूप का दहन होता है। दान की अर्थ-विधि, सहजशील गुण का अक्षत, तप का नेवज, विमलभाव का फल आगे रखकर जीव शिव की पूजा करता है और प्रवीण साधक फलतः शिवस्वरूप हो जाता है। जिनेन्द्र की करुणारस में पगी वाणी सुरसरिता है, सुमति अर्धांगिनी गौरी है, त्रिगुणभेद नयन विशेष है, विमलभाव समकित शशि-लेखा है। सुगुरु-शिक्षा उर में बंधे श्रृंग हैं। नय व्यवहार कंधे पर रखा वाघाम्बर है। विवेकबैल, शक्ति विभूति अंगच्छवि है। त्रिगुप्ति त्रिशूल है, कंठ में विभावरूप विषय विष हैं, महादिगम्बर योगी भेष है, ब्रह्म समाधि-छपन घर है अनाहद-रूप डमरू बजता है, पंच-भेद शुभज्ञान है और ग्यारह प्रतिमायें ग्यारह रुद्र हैं। यह शिव मंगल कारण होने से मोक्ष-पथ देने वाला है।[३८] इसी को शंकर कहा गया है, यही आश्रय निधि स्वामी, सर्वजग अन्तर्यामी और आदिनाथ हैं। त्रिभुवनों का त्याग कर शिववासी होने से त्रिपुर हरण कहलाये। अष्ट कर्मो से अकेले संघर्ष

करने के कारण महारुद्र हुए। मनोकामना का दहन करने से कामदहन कर्ता हुए। संसारी उन्हीं को महादेव, शंभु, मोहहारी हर आदि नाम से पुकारते हैं। यही शिवरूप शुद्धात्मा सिद्ध, नित्य और निर्विकार है, उत्कृष्ट सुख का स्थान है। साहजिक शान्ति से सर्वांग सुन्दर है, निर्दोष है, पूर्ण ज्ञानी है, विरोधरहित है, अनादि अनंत है इसलिए जगत-शिरोमणि हैं, सारा जगत उनकी जय के गीत गाता है -

अविनासी अविकार परमरसधाम है ।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम है।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है ।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत है ।।४।।[७९]

निहालचन्द ने भी सिद्ध रूप निर्गुण ब्रह्म को ओंकार रूप मानकर स्तुति की है। उन्हें वह रूप अगम, अगोचर, अलख, परमेश्वर, परमज्योति स्वरूप दिखा -

'आदि ओकार आप परमेसर परम जोति'
अगम अगोचर अलख रूप गयौं है।

यह ओंकार रूप सिद्धों को सिद्धि, सन्तों को ऋद्धि, महन्तों को महिमा, योगियों को योग, देवों और मुनियों को मुक्ति तथा भोगियों को भुक्ति प्रदान करता है। यह चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान है। इसके समान और कोई भी दूसरा मन्त्र नहीं -

सिद्धन को सिद्धि, ऋद्धि देहि संतन को,
महिमा महन्तन को देन दिन माही है,
जोगी कौ जुगति हूं, मुकति देव, मुनिन कूं,
भोगी कुं भुगति गति मतिउन पांही है ।

चिन्तामन रतन, कल्पवृक्ष, कामधेून,
सुख के समान सब याकी परछांही है,
कहैं मुनि हर्षचन्द निर्षदेयज्ञान दृष्टि ऊंकार,
मंत्र सम और मन्त्र नाही हैं ।।[८०]

बनारसीदास और तुलसीदास समकालीन हैं। कहा जाता है, तुलसीदास ने बनारसीदास को अपनी रामायण भेंट की और समीक्षा करने का निवेदन किया। दूसरी बार जब दोनों सन्त मिले तो बनारसीदास ने कहा कि उन्होंने रामायण को अध्यात्म रूप में देखा है। उन्होंने राम को आत्मा के अर्थ में लिखा है और उसकी समूची व्याख्या कर दी है। आत्मा हमारे शरीर में विद्यमान हैं अध्यात्मवादी अथवा रहस्यवादी इस तथ्य को समझता है। मिथ्यादृष्टि उसे स्वीकार नहीं करता। आत्मा राम है, उसका ज्ञान गुण लक्ष्मण है, सीता सुमति है शुभोपयोग वानर दल है, विवेक रणक्षेत्र है, ध्यान धनुष टंकार है जिसकी आवाज सुनकर ही विषयभोगादिक भाग जाते हैं, मिथ्यातम रूपी लंका भस्म हो जाती है, धारणा रूपी आग उग जाती है, अज्ञान भाव रूप राक्षसकुल उसमें जल जाते हैं, निकांक्षित रूप योद्धा लड़ते है, रागद्वेष रूप सेनापति जूझते हैं, संशय का गढ़ चकनाचूर हो जाता है, भवविभ्रम का कुम्भकरण विलखने लगता है मन का दरयाव पुलकित हो उठता है, महिरावण थक जाता है। समभाव का सेतु बंध जाता है, दुराशा की मंदोदरी मूर्छित हो जाती है, चरण (चरित्र) का हनुमान जाग्रत हो जाता है, चतुर्गति की सेना घट जाती है, छपक गुणके बाण छूटने लगते हैं, आत्मशक्ति के चक्र सुदर्शन को देखकर दीन विभीषण का उदय हो जाता है और रावण का सिरहीन जीवित

कबंध मही पर गि रने लगता है। इस प्रकार सहजभाव का संग्राम होता है और अन्तरात्मा शुद्ध बन जाता है। बनारसीदास ने अन्त में यह निष्कर्ष दिया कि रामायण व्यवहार दुष्टि है और राम निश्चय दृष्टि। ये दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव हैं -

विराजै रामायण घट माहिं ।।
मरमी होय मरम सो जानैं, मूरख मानै नाहिं ।।
विराजै आमायण ।।टेक।।
आतम 'राम' ज्ञान गुन लछमन 'सीता' सुगति समेत।
शुभोपयोग 'वानरदल' मंडित, वर विवेक 'रणखेत'।।२।।
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग।
भई भसम मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग।।३।।
जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल लरे निकांदित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति संसै गढ चकचूर।।४।।
वलखत 'कुंभकरण' भवविभ्रम, पुलकित मनदरयाव।
थकित उदार वीर 'महिरावण' सेतुबंध समभाव।।५।।
मिर्छित 'मदोदरी' दुराशा, जग चरन 'हनुमान'।
घटी चतुर्गति परणति 'सेना' छुटे छपकगुण 'बान'।।६।।
निरखि सकतिगुन चक्रसुदर्शन उदय विभीषण दीन।
फिरै कबंध मही रावण की प्राणभाव शिरहीन।।
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहारदृष्टि 'रामायण' केवल निश्चय 'राम' ।।
विराजै रामायण।।[८९]

चेतन लक्षण रूप आत्मा की तीन अवस्थायें होती हैं -

बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं वह बहिरात्मा है। उसी को मिथ्यादृष्टि भी कहा गया है। वह विधिनिषेध से अनभिज्ञ होता है और विषयों में लीन रहता है। जो भेद विज्ञान से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानता है वह अन्तरात्मा है। इसी को सम्यक् दृष्टि कहा गया है। बनारसीदास ने इन्हीं को क्रमशः अधम, मध्यम और पंडित कहा है। जिनवाणी पर श्रद्धा करने वाला, भ्रम संशय को करने वाला, समकितवान् असंयमी, जघन्य अथवा अधम, अन्तरात्मा है। वैरागी त्यागी, इन्द्रियदंभी, स्वपरविवेकी और देशसंयमी जीव मध्यम अन्तरात्मा है। तथा सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की श्रेणी को धारण करने वाले शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी निस्परिग्रही जीव उत्तम अथवा पंडित अन्तरात्मा है। जो संयोग गुणस्थान पर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है वह परमात्मा है। इसके दो भेद हैं - सकल (सशरीरी) और निकल (अशरीरी)। इन्हीं को क्रमशः अर्हन्त और सिद्ध कहा गया है।[८२]

त्रिविधिसकल तनुथर गत आतम, बहिरातम धुरि भेद।
बीजो अंतर-आतम, तिसरो परमातम अविछेद ।।
आतम बुद्धि कायादिक ग्रहयो, बहिरातम अघरूप।
कायादिक नो सांखीधर रहयो, आंतर आतम रूप ।।
ज्ञानानंद हो पूरण पावनो वरजित सकल उपाध।
अतीन्द्रिय गुणगणमणिआगरु इम परमातम साध ।।
बहिरातम तजि अंतर आतम रूप थई थिर भाव।
परमातम नूं हो आतमभावक्ं आतम अरपण दाव।।[८३]

आत्मा एक स्थिति पर पहुंचकर सगुणऔर बाद में निर्गुण रूप हो जाता है। कविवर बनारसीदासने उसकी इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन किया है।[८४] आचार्य योगीन्दु ने इन्हीं को क्रमशः सकल और निकल की संज्ञा दी है।[८५] सकल का अर्थ है अर्हन्त और निकल का अर्थ है सिद्ध। एक साकार है और दूसरा निराकार।[८६] अर्हन्त के चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शेष चार अघातिया कर्मो के नष्ट होने तक संसार में सशरीर रहना पड़ता है। पर अर्हन्त आठों कर्मो का नाश कर चुकते हैं और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। उन्हीं को सगुण और निर्गुण बह्म भी कहा गया है। हिन्दी के जैन कवियों ने दोनों की बड़े भक्तिभाव से स्तुति की है। उन्होंने सिद्ध को ही ब्रह्म कहा है।[८७] दर्शन से उन्हें चारों ओर फैला बसन्त देखने मिला है।[८८]

हीरानन्द मुकीम ने आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को अलख अगोचर बताया तथा आत्मतत्त्व के अनुपम रूप को प्राप्त करने का उपदेश दिया।[८९] इसका पूर्ण परिचय पाये बिना जप तप आदि सब कुछ व्यर्थ है उसी तरह जैसे कणों के बिना तुषों का फटकना निरर्थक रहता है। धान्य विरहित खेत में बाढ़ी लगाने का अर्थ ही क्या है ? आत्मा विशुद्ध स्वरूप निर्विकार, निश्छल, निकल, निर्मल ज्योर्तिज्ञान गम्य और ज्ञायक है।[९०] वह 'देवनि को देव सो तो बसै निज देह मांझ, ताकौ भूल सेवत अदेव देव मानिकै' के कारण संसार भ्रमण करता है।[९१]

४. आत्मा-परमात्मा

जैसा कि हम विगत पृष्ठों में कह चुके हैं , आत्मा की विशुद्धतम अवस्था परमात्मा कहलाती है। इस पर भैया भगवतीदास ने चेतन कर्म चरित्र में जीव के समूचे तत्त्वों के रूप में विवाद प्रकाश डाला है। एक

अन्य स्थान पर भी कवि ने शुद्ध चेतन के स्वरूप पर विचार किया है। उह एक ही ब्रह्म है जिसके असंख्य प्रदेश हैं, अनन्त गुण हैं, चेतन है, अनन्त दर्शन-ज्ञान, सुख-वीर्यवान है, सिद्ध है, अजर-अमर है, निर्विकार है। इसी को परमात्मा कहा गया है[९२]। उसका स्वभाव ज्ञान दर्शन है और राग-द्वेष, मोहादि विभाव आत्म परणतियाँ है।[९३] शिव, ब्रह्म और सिद्ध को एक माना है।[९४] ब्रह्म और ब्रह्मा में भी एकरूपता स्थापित की है। जैसे ब्रह्मा के चार मुख होते हैं, वैसे ब्रह्म के भी चार मुख होते हैं - आंख, नाक, रसना और श्रवण। हृदय रूपी कमल पर बैठकर यह विविध परिणाम करता रहता है पर आतमराम ब्रह्म कर्म का कर्ता नहीं। वह निर्विकार होता है।[९५] अनन्तगुणी होता है।[९६] आत्मा और परमात्मा में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर मात्र इतना है कि मोह मेल दृढ़ लगि रह्यो तातैं सूझै नाहि।[९७] शुद्धात्मा को ही परमेश्वर परमगुरु परमज्योति, जगदीश और परम कहा है।[९८]

५. आत्मा और पुद्गल

पुद्गल रूप कर्मो के कारण आत्मा (चेतन) की मूल ज्ञानादिक शक्तियाँ धूमिल हो जाती हैं और फलतः उसे संसार में जन्म मरण करना पड़ता है। यह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द प्रकाश धूप, चांदनी, छाया, अधंकार, शरीर, भाषा, मन श्वासोच्छवास तथा काम, क्रोध, मान-माया, लोभ आदि जो भी इन्द्रिय और मनोगोचर हैं वे सभी पौद्गलिक हैं देह भी पौद्गलिक है। मन में इस प्रकार का विचार साधक को भेदविज्ञान हो जाने पर मालूम पड़ने लगता है और वही बहिरात्मा, अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा सांसारिक भोगों को तुच्छ समझने लगता है और अपनी अन्तरात्मा को विशुद्धावस्था प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है।

अन्तरात्मा विचारता है कि आत्मा और पुद्गल वस्तुतः भिन्न-भिन्न हैं पर परस्पर सम्बन्ध बने रहने के कारण व्यवहारतः उन्हें एक कह दिया जाता है। आत्मा और कर्मो का सम्बन्ध अनादिकाल से रहा है। उनका यह सम्बन्ध उसी प्रकार से है जिस प्रकार तिल का खलि और तेल के साथ रहता है। जिसप्रकार चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है उसी प्रकार कर्म चेतन को अपनी ओर खींचता है। चेतन शरीर में उसी प्रकार रहता है। जिस प्रकार फल-फूल में सुगन्ध, दूध में दही और घी, तथा काठ में अग्नि रहा करती है। सहज शुद्ध चेतन भाव कर्म की ओट में रहता है और द्रव्य कर्म रूप शरीर से बंधा रहता है।[९९] बनारसीदास ने एक उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कोठी में धान रखी है, धान के छिलके के अन्दर धान्य कण रखा है। यदि छिलके को धोया जाय तो कण प्राप्त हो जायेगा और यदि कोठी (मिट्टी की) को धोया जाय तो कीचड़ बन जायेगी। यहाँ कोठी के रूप में नोकर्म मख हैं, द्रव्य कर्म में धान्य है, भावकर्ममल के रूप में छिलका (चमी) हैं और कण के रूप में अष्ट कर्मो से मुक्त भगवान है।[१००] इस प्रकार कर्म रूप पुद्गल को दो भेद हैं - भाव कर्म और द्रव्य कर्म। भाव कर्म की गति ज्ञानादिक होती है और द्रव्य कर्म नोकर्म रूप शरीर को धारण करता है। एक ज्ञान का परिणमन है और दूसरा कर्म का घेर है। ज्ञानचक्र अन्तर में रहता है पर कर्मचक्र प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चेतन के ये दोनों भाव क्रमशः शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के रूप हैं। निज गुण-पर्याय के ज्ञानचक्र की भूमिका रहती है और पर पदार्थो के गुणपर्याय में कर्मचक्र कारण रहता है। ज्ञानी सजग सम्यग् दर्शन युक्त कर्मो की निर्जरा करने वाला तथा देव-धर्म गुरु का अनुसरण करने वाला होता है पर कर्मचक्र में रहने वाला घनघोर निद्रालु, अन्धा तथा कर्मो का बन्ध करने वाला

देव-धर्म गुरु की ओर से विमुख होता है। कर्मवान् जीव मोही मिथ्यात्वी, भेषधारिकों को गुरु मानने वाला, पुण्यवान् को देव कहने वाला तथा कुल परम्पराओं को धर्म बताने वाला होता है, पर ज्ञानी जीव वीतरागी निरंजन को देव, उनके वचनों को धर्म और साधु पुरुष को गुरु कहता है। कर्मबन्ध से भ्रम बढ़ता है और भ्रम से किसी भी वस्तु का स्पष्टतः भान नहीं हो पाता। मोह का उपशम होते ही विभाव परणितियाँ समाप्त होती जाती हैं तथा सुमति का उदय होता है। उसी से सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रकाश आता है। शिव की प्राप्ति के लिए सुमति की प्राप्ति ही मुख्य उपाय है।[१०१] आत्मा का यही मूल रूप है - मोह कर्म मम नाहीं नाहिं भ्रम कूप है, शुद्ध चेतना सिंधु हमारी रूप है।[१०२]

जिस प्रकार कोई नटी वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में परदे की ओट में आकर जब खड़ी होती है तो किसी को दिखाई नहीं देती पर जब उसके दोनों ओर के परदे अलग कर दिये जाते हैं तो दर्शक उसे स्पष्ट रूप से देखने में सक्षम हो जाते हैं। वैसे ही यह ज्ञान का समुद्ररूप आत्मा मिथ्यात्व के आवरण से ढंका था। उसके दूर होते ही आत्मा ने अपनी मूल ज्ञायक शक्ति प्राप्त कर ली :-

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आमरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूं और दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखैं दुष्टि धरिकैं।।
तैंसे ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रकट रह्यो तिहूं लोक भरिकैं।।

ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
शुद्धता संभारे जग जालसौं निसरिकैं।।[१०३]

मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव अध्यात्म और रहस्य साधना की ओर उन्मुख नहीं हो पाता। वह देह और जीव को अभिन्न मानकर सारी भौतिक साधना करता है।[१०४] मोह, ममता, परिग्रह, विषय भोग *आदि संसार के कारणों को दूर कर आत्मज्ञानी कर्म-निर्जरा* में जुट जाता है। संसारी का मन तृष्णा के कारण धर्म-रूप अंकुश को उसी तरह ही स्वीकार करता जैसे महामत्त गजराज अंकुश से भी वश में नहीं हो पाता। इस मन को वश में करने के लिए ध्यान-समाधि और सद्गुरु का उपदेश उपयोगी होता है। कंचन जिस प्रकार किसी परिस्थिति में अपना स्वभाव नहीं छोड़ता उसे पकाने के बाद शुद्ध कर लिया जाता है। जैसे ही आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता, उसे भेदविज्ञान के माध्यम से मोहादि के आवरण को दूर कर परमात्मपद प्राप्त कर लिया जाता है।

इस प्रकार चेतन और पुद्गल, दोनों पृथक् हैं। पुद्गल (देह) कर्म की पर्याय है और चेतन शुद्ध बुद्ध रूप है। चेतन और पुद्गल के इस अंतर को भैया भगवतीदास ने बड़े साहित्यिक ढंग से स्पष्ट किया है। इन दोनों में वही अन्तर है जो शरीर और वस्त्र में है। जिस प्रकार शरीर वस्त्र वही हो सकता और वस्त्र शरीर। लाल वस्त्र पहिनने से शरीर लाल नहीं होता। जिस प्रकार वस्त्र जीर्ण-शीर्ण होने से शरीर जीर्ण-शीर्ण नहीं होता उसी तरह शरीर के जीर्ण-शीर्ण होने से आत्मा का निवास रहता है। इसी को कविवर बनारसीदास ने अनेक उदाहरण देकर समझाया है।[१०५]

सोने की म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार सोने की कही जाती है परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने की म्यान से अलग की

जाती है तब भी लोग उसे लोहे की ही कहते हैं। इसी प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है परन्तु वह घड़ा घी रूप नहीं होता, उसी तरह शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, व गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीर के समान अचेतन नहीं हो जाता।

खांडो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग ।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग ।।७।।
ज्यौं घट कहिये धीव कौ, घअ कौ रूप न धीव ।
त्यौं वरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ।।८।।[१०६]

किसनदास (१७ वीं शती) की उपदेश वावनी में जीवन की क्षणभंगुरता और आयु के पल-पल छीजने का मार्मिक चित्रण हुआ है -

अंजलि के जल ज्यों घटत पलपल आयु
विष से विषम विविसाउत विष रस के।
पंथ को मुकाम कहु बाय को न गाम यह,
जैबो निज धाम तातें कीजे काम यश के।
खान सुलतान उमराव राव रान आन,
किसिन अजान जान कोऊ न रही सके।
सांझ रु विहान चल्यो जात है जिहान तातै,
हमहूँ निदान महिमान दिन दस के ।

(डा० हरिप्रसाद गजानन-गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन पृ० १६८-१७०)

कवि बनारसीदास ने भी मोह मुक्त होने की स्थिति का वर्णन निम्न सवैये में बडी मोहकता के साथ किया है -

पुन्य संजोग जुरे रथ-पाइक, माते मतंग तुरंग तबेले।
मानि विभौ अंगयौ सिरभार, कियो बिसतार परिग्रह ले ले।
बंध बढाइ करी थिति पूरन, अन्त चले उठि आप अकेले।
हारि हमालकी पोटली डारि कै, और दिवाल की ओट हूँ खेले।

आत्मचिन्तन के सन्दर्भ में साधक आत्मा के मूल स्वरूप पर उक्त प्रकार से विचार कर उसके साथ कर्मो के स्वरूप पर भी विचार करता है। इस विचारणा से उसक आश्रव-बन्ध की प्रक्रिया ढीली पड़ जाती है, रागादिक भाव शिथिल हो जाते है तथा संवर-निर्जर का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

६. चित्तशुद्धि

जैन रहस्य साधना में चित्त शुद्धि का विशेष महत्त्व है। उसके बिना किसी भी क्रिया का कोई उपयोग नहीं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए अन्तः कारण का शुद्ध होना आवश्यक है। जो बाह्यलिंग से युक्त है किन्तु अभ्यन्तर लिंग से रहित है वह फलतः आत्मपथ से भ्रष्ट और मोक्ष पथ का विनाशक है।[१०७] क्योंकि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंग कभी भी परमार्थ प्राप्ति में कारणभूत नहीं होता। शुद्ध भाव ही गुण-दोष का कारण होता है।[१०८] बाह्य क्रिया में आत्महित नहीं होता । इसलिए उसकी गणना बन्ध पद्धति में की गई है। वह महादुःखदायी है। योगीन्दुमुनि और मुनिरामसिंह जैसे रहस्य साधकों ने कबीर से पूर्व बाह्य क्रियायें करने वाले योगियों को फटकारा है और अपनी आत्मा को धोखा देने वाले कहा है। चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।[१०९]

बनारसीदास ने भी यही कहा कि यदि स्व-पर विवेक जाग्रत नहीं हुआ तो सारी क्रियायें आत्मशुद्धि बिना मिथ्या है, निरर्थक है।[११०]

भैया भगवतीदास भी आत्म शुद्धि के पक्षपाती थे।[111] पांडे हेमराज ने इसी तरह कहा कि शुद्धात्म का अनुभव किये बिना तीर्थ स्थान, शिर मुंडन, तप-तापन आदि सब कुछ व्यर्थ है - "शुद्धातम अनुभौ बिना क्यों पावै सिवषेत"[112] वही मोक्ष मार्ग का विशेष साधन है -

भाव बिना द्रव्य नाहि, द्रव्य बिना लोक नाहिं,
लोक बिना शून्य सब मूल भूत भाव है।[113]

शुद्ध भाव की प्राप्ति हो जाने पर पर पदार्थो से अरुचि हो जाती है, संशयादिक दोष दूर हो जाते हैं, विधि निषेध का ज्ञान हो जाता है, रागादिक वासना दूर होकर निर्वेद भाव जाग्रत हो जाता है।[114] इसलिए शुद्धभाव और आत्मज्ञान के बिना किया गया मिथ्या दृष्टि का करोड़ों जन्मों का बालतप उतने कर्मो का विनाश नहीं कर पाता जितना सम्यग्ज्ञानी जीव क्षण मात्र में कर डालता। इसलिए कवि दौलतराम शुद्ध भाव माहात्म्य को समझकर कह उठते हैं -

मेरे कब है वा दिन की सुधरी ।
तन बिन वसन असन बिन वन में निवसौ नास दृष्टि धरी ।।
पुण्य पाप परसों कब विरचों, परचों निजविधि चिर-बिखरी ।
तज उपाधि, सज सहज समाधि सहों धाम-हिम मेघ झरी ।।
कब थिर-जोग धरो ऐसों मोहि उपल जान मृगखाज हरी ।
ध्यान-कमान तान अनुभवशर, छेदों किहि दिन मोह अरी।।
कब तन कंचन एक गनों अरु , मनि जड़ितालय शैल दरी।।
दौलत सदगुरु चरनन सेऊं जो पुरवौ आश यहै कमारी।।[115]

भावशून्य बाह्य क्रियाओं का निषेधकर साधक अन्तरंग शुद्धि की ओर अग्रसर होता है। वह समझाने लगता है कि अपने आपको जाने

बिना देहाश्रित क्रियायें करना तथा-निर्वेद हुए बिना तप करना व्यर्थ है इसलिए दौलतराम कहते हैं कि यदि तू शिव पद प्राप्त करना चाहता है तो निज भाव को जानो।[116]

यह चित्तविशुद्धि आत्मालोचन गर्भित होती है। आत्मालोचन के बिना साधक आत्मविकास की ओर सफलतापूर्वक पग नहीं बढ़ पाता। आत्मालोचन और आत्मशोधन परस्पर गुथे हुए हैं। जैन कवियों ने इन दोनों क्षेत्रों में सहजता और सरलतापूर्वक आत्म दोषों को प्रगट कर चित्तविशुद्धि की ओर कदम बढ़ाये हैं - रूपचन्द को इस बात का पश्चात्ताप है कि उन्होंने अपना मानुस जन्म व्यर्थ खो दिया 'मानुस जन्म वृथा तै खोयो' (हिन्दी पद संग्रह, पद ४६)। द्यानतराय (द्यानत विलास, पद २१) । कवि चिन्ता ग्रस्त है कि उसे वैराग्यभाव कब उदित होगा - ''मेरे मन कब हवै है वैराग'' (द्यानत पद संग्रह, पद २४१) यही सोचते-सोचते वे कह उठते हैं -

'दुविधा कब जै है या मन की'।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौ तज सेवा जन-जन की ।
कब रुचि सौ पीवै दृग चातक, द्वन्दा अखय पद धन की ।
कब सुभ ध्यान धरौं समना गहि, करूं न ममता तन की ।
कब घट अन्तर रहे निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचन की ।
कब सुख ल्हों भेद परमारथ, मिटै धाना धन की ।
कब घर खांड़ि होहुं एकांकी, लिये लालसा बन की ।
ऐसी दसा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा धन की ।।

- (हिन्दी पद, संग्रह, पद ८०)

दौलतराम ''हम तो कबहुं न निजगुन आये'' कह 'निज घर नाहिं पिछान्यौ रे' कह उठते हैं। विद्यासागर भी ''मैं तो या भव योंहि

गमायो'' कहकर यही भाव व्यक्त करते हैं। ये भाव साधक की आंतरिक पवित्रता से उत्पन्न मार्मिक स्वर है जिनमें परमात्मा के साक्षात्कार की गहन आशा जुड़ी हुई है जिसके बल पर वह आध्यात्मिक प्रगति के सोपान चढ़ता रहता है।

इस प्रकार जैनधर्म में अन्तरंग की विशुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है। इसलिए बनारसीदास ने ज्ञानी और अज्ञानी की साधना के फल में अन्तर दिखाते हुए स्पष्ट कहा है-

जाके चित्त जैसी दशा ताकी तैसी दृष्टि ।
पंडित भव खंडित करें, मूढ बनावे सृष्टि ।।[११७]

स्व-पर का विवेक भेदविज्ञान कहलाता है। उसका प्रकाश आदिकाल से लगे हुए जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जाने पर होता है। सम्यग्दृष्टि ही भेदविज्ञानी होता है। उसे भेदविज्ञान सांसारिक पदार्थो से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण को किट्टिका आदि से भिन्न कर देती है।[११८] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते हैं - ''प्रभु मोकौं अब सुप्रभात भयो'' वह मिथ्याभ्रम, मोहनिद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[११९]

७. भेदविज्ञान

भेदविज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है अन्य पक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति में मन रमण करने लगता है।[१२०] इसलिए भेदविज्ञान की 'हिये की आखें' कहा गया है जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[१२१] जैसे कोई व्यक्ति

धोबी के घर जाकर दूसरे के कपड़े पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपड़ों का स्वामी आकर कहता है कि ये कपड़े मेरे हैं तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म संयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावों से भिन्न अपने स्वस्वभाव को ग्रहण करता है।[१२२] जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नारी का पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदन-शक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है। जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं -

जैसें करवत एक काठ बीच खण्ड करै,
जैसे राजहंस निखारै दूध जलकौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक सकतिसेती,
भिन्न-भिन्न करै चिदानन्द पुद्गल कौ।।[१२३]

शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निराबाध भेदविज्ञान रूप तीक्ष्ण करौंत अन्तःकरण में प्रवेश कर स्वभाव-विभाव और जड़ चेतन को पृथक्-पृथक् कर देता है। वह भेद-विज्ञान जिनके हृदय में उत्पन्न होता हैं उन्हें शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नहीं सुहाता। वे आत्मानुभव करके ही प्रसन्न होते हैं और परमात्मा का स्वरूप पहचानते हैं।[१२४] इसलिए भेदविज्ञान को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण माना गया है।[१२५] भेदविज्ञान के बिना शुभ-अशुभ की सारी क्रियायें भागवद् भक्ति, बाह्यतप आदि सब कुछ निरर्थक है।[१२६]

भेदविज्ञान अपनी ज्ञान शक्ति से द्रव्य कर्म भावकर्म को नष्ट कर मोहान्धकार को दूर कर केवलज्ञान की ज्योति प्राप्ति करता है। कर्म और नोकर्म से न छिप सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रकट होती है जिससे वह सीधा मोक्ष प्राप्त करता है -

जैसौ कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदि मूल वृच्छ कौ उखारै गहि बाहू सौं।
तैसैं मतिमान दर्व कर्म भावकर्म त्यागि,
रहै अतीत मति ग्यान की दशाहू सौं।
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अन्धकार,
जगै जोति केवल प्रधान सवितोहू सौं।
चुकै न सुकतीसों लुकैं न पुद्गल मांहि,
धुकै मोख थलको रुके न फिर काहू सौं।।[१२७]

भेदविज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है। इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। पीताम्बर ने ज्ञानवावनी में इसी तथ्य को काव्यात्मक ढंग से बहुत स्पष्ट किया है।[१२८] बनारसीदास ने इसी को कामनाशिनी पुण्यपापतापहरनी, रामरमणी, विवेकसिंहचरनी, सहज रूपा, जगमाता रूप सुमतिदेवी कहा है।[१२९] भैया भगवतीदास ने ''जैसो शिवखेत तेसौ देह में विराजमान, ऐसा लखि समुति स्वभाव में पगाते हैं।''[१३०] कहकर ''ज्ञान बिना बेर-बेर क्रिया करी फेर-फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन को'' कहा है[१३१]। कवि को चतन जब अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है -

''देखी मेरी सखिये आज चेतन घर आवै।
काल अनादि फिरयो परवश ही अब निज सुधहि चितावै।।''[१३२]

भेदविज्ञान रूपी तरुवर जैसे ही सम्यक्त्वरूपी धरती पर ऊंगता है वैसे ही उसमें सम्यग्दर्शन की मजबूत शाखायें आ जाती हैं, चारित्र का दल लहलहा जाता है, गुण की मंजरी लग जाती है, यश स्वभावतः चारों दिशाओं में फैल जाता है। दया, वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, मनप्रभावना, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुण गुणमंजरी में गुंथे रहते हैं।[१३३] कवि भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा में जब अनन्तज्ञानादिक शक्तियां हैं तो संसारी जीव को यह बात समझ में क्यों नहीं आती। इसलिए वे कहते हैं -

पानी विन मीन प्यासी, मोहे रह-रह आवै हांसी रे ।।[१३४]

द्यानतराय आत्मा को सम्बोधते हुए स्वयं आत्मरमण की ओर झुक जाते हैं और उन्हें आत्मविश्वास हो जाता है कि 'अब हम अमर भये न मरेंगे।' भेदविज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और वे आत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते हैं। अब उन्हें चर्मचक्षुओं की भी आवश्यकता नहीं। अब तो मात्र आत्मा की अनन्तशक्ति की ओर उनका ध्यान है। सभी वैवाहिक भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके संसार-दुःख से छूटे जा रहे हैं -

हम लागे आतमराम सौं ।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-धान सौं ।।
समता सुख घट में परगारयो, कौन काज मै काम सौं ।
दुविधाभव जलांजलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वाम सौं ।।

भेदज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलौकै चाम सौं ।
उरै-परै की बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौं ।।
विकलप भाव रंक सब भाजैं, झरि चेतन अभिराम सौं ।
'द्यानत' आतम अनुभव करिकै, दूटे भव-दुख घाम सौं ।।[१३५]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है।[१३६]

स्वपर-विवेक रूप यह भेदविज्ञान साधक के मन में संसार और पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है और उससे सम्बद्ध रागादिक विकारों को दूर करने में सहायक होता है। उसके मन में रहस्य भावना की प्राप्ति और उसकी साधना के प्रति आत्मविश्वास बढ़ जाता है और फलतः वह रत्नत्रय की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

इसमें जीवदया द्वारा ही सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति संभव बताई गई है। आगमगच्छीय साधुमेरु ने अपने पुण्यरास (सं. १५०१) में जीवदया को सब पुण्यों का सार बताया है और सालिग ने बलभद्रबेलि में उसे सम्यक्त्व का कारण बताया है -

जीवदयानी हियउ धरउ बुद्धि, जीवदया पालउ मनशुद्धि,
जीवदया लगइ निरन्तर वृद्धि, जीवदया पालिइ हुइ सर्वसिद्धि।
इम जीव दया प्रतिपालउ, साचउ समकित रयण उजालउ,
समकित विण काज न सीझइ, सालिग कहइ सुधउ कीजइ ।

(जैन गोजर काव्य, भाग १ पृ. १३२, १३४-१३५)

८. रत्नत्रय

रत्नत्रय का तात्पर्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र

का समन्वित रूप है। इन तीनों की प्राप्ति ही मुक्ति का मार्ग है।[१३७] यह मार्ग भेदविज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। सम्यग्ज्ञानी वही है जिसे आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो, परमार्थ से सही प्रेम हो, सत्यवादी और निर्विरोधी हो, पर पदार्थो में आसक्ति न हो, अपने ही हृदय में आत्म हित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि और आत्मगुणों की वृद्धि प्रगट दिखती हो तथा आत्मीय सुख से आनंदित हो।[१३८] इसी से आत्मस्वरूप की पहिचान होती है और साधक समझ लेता है -

'अब ग्यान कला जागी भरम की दृष्टि भागी'
अपनी परायी सब सौंज पहिचानी है ।[१३९]

सम्यग्ज्ञानी इन्दियजनित सुख-दुःख से अभिरुचि हटाकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है तथा दर्शन-ज्ञान-चरित्र को ग्रहण कर आत्मा की आराधना करता है।[१४०] ज्ञान रूपी दीपक से उसका मोह रूपी महान्धकार नष्ट हो जाता है। उस दीपक में किंचित् भी धुंआ नहीं रहता, हवा के झकोरों से बुझता नहीं, एक क्षण भर में कर्मपतंगों को जला देता है, बत्ती का भोग नहीं, घृत तेलादि की भी आवश्यकता नहीं, आँच नहीं, राग की लालिमा नहीं। उसमें तो समता, समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं, निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग जाग्रत हो जाते हैं।[१४१] कुल जाति, रूप, ज्ञान, धन, तप, प्रभुता, ये आठ मद दूर हो जाते हैं, कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेवसेवक और कुधर्मसेवक, ये छह अनायतन, कुगुरुसेवा, कुदेवसेवा और कुधर्मसेवा ये तीन मूढतायें सम्यक्त्वी के दूर हो जाती हैं।[१४२]

सम्यग्ज्ञानी जीव, सदैव आत्मचिन्तन में लगा रहता है। उसे दुनियां के अन्य किसी कार्य से कोई प्रयोजन नहीं होता। आनंदघन ने एक अच्छा उदाहरण दिया है जैसे ग्रामवधुएँ पांच-सात सहेलियां मिलकर पानी भरके घर की ओर चलीं। रास्ते में हंसती इठलाती चलती हैं पर उनका ध्यान निरन्तर घड़ों में लगा रहता है। गायें भी उदर पूर्ति के लिए जंगल जाती हैं, घास चरती हैं, चारों दिशाओं में फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ों की ओर लगा रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव का भी मन अन्य कार्यों की ओर लगा रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी का भी मन अन्य कार्यों की ओर झुका रहने पर भी ब्रह्म-साधना की ओर से विमुख नहीं होता।

सात पांच सहेलयाँ रे हिल-मिल पाणीड़े जाय।
ताली दिये खल हंसै, वाकी सुरत गगरु आमायं।
उदर भरण के कारणों रे गउवां बन में जाय।
चारों चरैं चहुं दिसि फिरैं, वाकीसुरत बछरूआ मायं।।[१४३]

अज्ञात कवि कृत मातृका बावनी में स्पष्ट कहा गया है कि सम्यक्त्व के बिना सभी क्रियायें वैसे ही काफूर हो जाती है जैसे गर्म तवे पर पड़ी जल की बूँदें क्षण भर में छनछना कर लुप्त हो जाती हैं। इसका अन्तिम पद्य देखिये :

एहु विचारु हियइ जो धरइ, सूधउं धम्मु विचारिउ करइ।
सुहगुरु तथा चलण सेवंति, ते नर सिद्धि सुक्खु पावंति
जइ संसारु तरवेउ करउ, सतगुरु तणा वयण ओसरहु।
जइ संसारह करिसउ छेहु, सुद्धं धम्मु विचारिउ लेहु।

भैया भगवतीदास ने सम्यक्त्व को सुगति का दाता और दुर्गति

का विनाशक कहा है।[१४४] छत्रपति की दृष्टि में जिस प्रकार वृक्ष की जड़ और महल की नींच होती है वैसे ही सम्यक्त्व धर्म का आदि और मूल रूप है। उसके बिना प्रशमभाव, श्रुतज्ञान, व्रत, तप, व्यवहार आदि सब कुछ भले ही होता रहे पर उनका सम्बन्ध आत्मा से न हो, तो वे व्यर्थ रहती हैं, इस प्रकार सम्यक्त्व के बिना भी सभी क्रियायें सारहीन होती हैं।[१४५]

भूधरदास का कवि सम्यक्त्व की प्राप्ति से वैसा ही प्रफुल्लित हो जाता है जैसे कोई रसिक सावन के आने से रसमग्न हो उठता है। मिथ्यात्वरूपी ग्रीष्म व्यतीत हो गया, पावस बड़ा सुहावना लगने लगा। आत्मानुभव की दामिनि दमकने लगी, सुरति की घनी घटायें छाने लगीं। विमल विवेक रूप पपीहा बोलने लगे, सुमति रूप सुहागिन मन को रमने लगी, साधक भाव अंकुरित हो गये, हर्षवेग आ गया, समरस का जल झरने लगा। कवि अपने घर में आ गये, फिर बाहिर जाने की बात उनके मन से चली गयी -

'अब मेरे समकित सावन आयो'।।
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम पावस सहज सुहायो ।।अब।।१।।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा धन छायौं ।
बालै विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन पायो ।।अब।।२।।
गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजै, मोर सुमत विहसायों ।
साधक भाव अंकूर उठे बहु, जित तित हरण सवायो ।।अब।।३।।
भूल भूलकहि भूल न सूझत, समरस जल झरलायों ।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो।।अब ।।४।।[१४६]

सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र का भी सम्बन्ध है। शुद्धज्ञान के साथ शुद्ध चरित्र का अंश रहता है। इससे ज्ञानी जीव हेय,

उपादेय को सही ढंग से समझाता है। उसका वैराग्य पक जाता है, राग, द्वेष, मोह से उसकी निवृत्ति हो जाती है, पूर्वोपार्जित कर्म निजीर्ण हो जाते हैं और वर्तमान तथा भविष्य में उनका बन्ध नहीं होता। ज्ञान और वैराग्य, दोनों एक साथ मिलकर ही मोक्ष के कारण होते हैं। जैसे किसी जंगल में दावानल लगने पर लंगड़ा मनुष्य अंधे के कंधे पर चढ़े और उसे रास्ता बताता जाये तो वे दोनों परस्पर के सहयोग से दावानल से बच जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र में एकता मुक्ति प्राप्त के लिए आवश्यक है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप जानता है और चारित्र आत्मा में स्थिर होता है।[१४७] रूपचन्द ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का सामुदायिक रूप ही साध्य की प्राप्ति में कारण बताया है। दर्शन से वस्तु के स्वरूप को देखा जाता है, ज्ञान से उसे जाना जाता है और चारित्र से उस पर स्थिरीकरण होता है। द्रव्यसंग्रह में भी यही बात कही गयी है।[१४८]

मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की समन्वित अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति भेदविज्ञान के द्वारा होती है। अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रहों से दूर रहकर परिषह सहते हुए तप करने से परमपद प्राप्त होता है।[१४९] साधक आत्मानुभव करने पर कहने लगता है - हम लागे आतमराम सो। उसके आत्मा में समता सुख प्रगट हो जाता है, दुविधाभाव नष्ट हो जाता और भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाता है। इसलिए द्यानतराय कहने लगते 'आतम अनुभव व करना रे भाई'। भेदविज्ञान जब तक उत्पन्न नहीं होता तक तक जन्म-मरण का दुःख सहना पड़ता है। सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन, व्रत तप, संयम आदि आत्मज्ञान के विना निरर्थक है। इसलिए कवि रागादिक परिणामों को त्याग कर समता से लौ लगाने का संकल्प करता है, क्षपक श्रेणी

चढ़कर चरित मोह का नाश करना चाहता है, क्रमशः घातिया-अघातिया कर्मो को नष्ट कर अर्हन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने की बात करता है। उसकी संकल्प पूर्ति की आतुरता 'आतम जानो रे भाई' और कभी 'करकर आतम हित रे प्रानी' कह उठता है। जब भेदविज्ञान हो जाने का उसे विश्वास हो जाता है तो 'अब हम आतम को पहिचानी', दुहराकर 'मोहि कब ऐसा दिन आय है' कह जाता है। संसार की स्वार्थता देखकर उसे यह भी अनुभव हो जाता है - दुनिया मतलब की गरजी, अब मोहे जान पड़ी।[१५०]

भैया भगवतीदास ने राग द्वेष को जीतना, क्रोध मानादिक माया-लोभ कषाओं को दूर करना, मुक्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया है।[१५१] वे भेदविज्ञान को निजनिधि मानते हैं। उसको पाने वाला ब्रह्मज्ञानी है और वही शिवलोक की निशानी कही गयी है।[१५२] विश्वभूषण ने अनेकान्तवाद के जागते ही ममता के भाग जाने की बात कही और उसी को मुक्ति प्राप्ति का मार्ग कहा।[१५३] वह उस योगी में चित्त लगाना चाहता है जिसके सम्यक्त्व की डोरी से शील के कछोटा को बांध रखा है। ज्ञान रूपी गूदड़ी गले में लपेट ली है। योग रूपी आसन पर बैठा है। वह आदि गुरु का चेला है । मोह के काम फड़वाये हैं। उनमें शुक्ल ध्यान की बनी मुद्रा बहती है । क्षायकरूपी सिंगी उसके पास है जिसमें करुणानुयोग का नाद निकलता है। वह अष्ट कर्मो के उपलों की धुनी रमाता है और की अग्नि जलाता है उपशम के छन्ने से छानकर सम्यक्त्व रूपी जाल से मल-मलकर नहाता है। इस प्रकार वह योग रूपी सिंहासन पर बैठकर मोक्षपुरी जाता है। उसने गुरु की सेवा की है जिससे उसे फिर कलियुग में न आना पड़े।[१५४]

इस प्रकार जैन-साधक रहस्य-साधना के साधक तत्त्वों पर स्वानुभूतिपूर्वक चलने का उपक्रम करता है। वह सद्गुरु अथवा स्वाध्याय के माध्यम से संसार की क्षणभंगुरता तथा अनित्यशीलता पर गम्भीर चिन्तन कर शनैः-शनैः सम्यक्त्व के सोपान पर चढ़ जाता है। साधनात्मक रहस्य भावना की प्रवृत्तियों के जन्म तथा उनकी सांगोपांगता पर विचार करने के साथ ही इन प्रवृत्तियों में सहज-योग साधना तथा समरसता के भाव जाग्रत होते हैं। साधक इन्हीं भावनाओं के आधार पर स्वात्मा के उत्तर विकास पर पहुंचने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

यह स्मरणीय है कि जैनाचार्यों ने श्रृंगार को रसराज न मानकर शान्त को रसराज माना है। उनकी दृष्टि में अनिर्वचनीय आनन्द की यथार्थ अनुभूति रागद्वेषादिक मनोविकारों के उपशम होने पर ही हो पाती है। आठों रसों के स्थायी भाव रागद्वेष से संबद्ध हैं। उनसे उत्पन्न होने वाले आनन्द में वह स्थायित्व और गहरापन नहीं है जो शान्तरस में पाया जाता है। इसलिए बनारसीदास ने 'नवमों सान्त रसनिकौ नायक' कहकर रहस्य साधना में उसकी प्रतिष्ठा की है (नाटक समयसार, १०.१३३)। सभी जैनाचार्यों ने रागद्वेषों से विमुख होकर वीतराग पथ पर बढने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के लिए दो ही उपाय हैं - तत्त्वचिन्तन और वीतरागियों की भक्ति। वीतराग भक्ति से मन रागद्वेषादि विकारों से हटकर आत्मशोधन की ओर मुडता है, प्रमाद परिष्कृत होता है, निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है और केवलज्ञान उत्पन्न होने पर अन्त में पूर्ण आत्मानुभूति हो जाती है।

सप्तम परिवर्त

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियाँ

रहस्य भावना के बाधक तत्त्वों को दूरकर साधक, साधक तत्त्वों को प्राप्त करता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलतः वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुंच जाता है। इस अवस्था में साधक का आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठता है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेता है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्यों में इन विधाओं का विशेष उपयेाग हुआ है। उसमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य साधनाओं के दिग्दर्शन होते हैं। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता संवेदनशीलता, स्वसंवेदनता, भेदविज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परम वीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रस्तुत किया है और चिदानन्द चैतन्यमय ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यातमगम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरंजन, अनक्षर, अशरीरी, गुरुगुसाई, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है।[1] दाम्पत्य मूलक प्रेम का भी सरल प्रवाह उसकी अभिव्यक्ति के निर्झर से झरता हुआ

दिखाई देता है। इन सब तत्त्वों के मिलन से जैन-साधकों का रहस्य परम रहस्य बन जाता है।

प्रस्तुत परिवर्त में साधक का आत्मा बहिरात्मा से मुक्त होकर अन्तरात्मा की और मुड़ता है। अन्तरात्मा बनने के बाद तथा परमात्मपद प्राप्ति के पूर्व इन दोनों अवस्थाओं के बीच में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। इन प्रवृत्तियों में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने प्रपत्ति (भक्ति), सहज योग साधना और समरसता तथा रहस्य भावना का विशेष रूप से उपयोग किया है। हम आगे इन्हीं तत्त्वों का विवेचन करेंगे।

१. प्रपत्त भावना :

रहस्य भावना में साधक परमात्मपद पाने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग अपनाता है। जब योग साधना का मार्ग साधक को अधिक दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति का सहारा लेता है। रहस्य साधकों के लिए यह मार्ग अधिक सुगम है। इसलिए सर्वप्रथम वह इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर क्रमशः रहस्य भावना की चरम सीमा पर पहुंचता है। रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद की भूमि चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित होती है - आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु की प्रधानता और सहज मार्ग। जैन साधकों की आस्तिकता पर सन्देह की आवश्यकता नहीं। उन्होंने तीर्थंकरों के सगुण और निर्गुण, दोनों रूपों के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना प्रदर्शित की है। उनकी भगवद् प्रेम भावना उन्हें प्रपन्न भक्त बनाकर प्रपत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है।

'प्रपत्ति' का तात्पर्य है - अनन्य शरणागत होने अथवा आत्मसमर्पण करने की भावना। भगवद् गीता में 'शिष्यस्तेहं शाधिमां त्वं प्रपन्नम्'[२] कहकर इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है। नवधा भक्ति[३] का भी मूल उत्स प्रपत्ति है। अतः हमने यहां 'प्रपत्ति' शब्द को विशेष रूप से चुना है। भागवत्पुराण की नवधा भक्ति के ९ लक्षण माने गये हैं - श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन (शरण) अर्चना, वन्दना दास्यभाव, सख्यभाव और आत्म निवेदन। कविवर बनारसीदास ने इसमें कुछ अंतर किया है।[४] ये तत्त्व हीनाधिक रूप से सगुण और निर्गुण, दोनों प्रकार की भक्ति साधनाओं में उपलब्ध होते हैं। भक्ति के साधनों में कृपा, रागात्मक सम्बन्ध, वैराग्य ज्ञान और सत्संग प्रमुख हैं। प्रपत्ति में इन साधनों का उपयोग होता है। पांचरात्र लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति की षड्विधायें दी गई हैं - आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का विसर्जन, संरक्षण, एतद्रूप विश्वास गोप्तृत्व रूप में वरण, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य भाव। प्रपत्तिभाव के अतिरिक्त नारद भक्तिसूत्र में साध्य रूपा प्रेमाभक्ति की ग्यारह आसक्तियां बतायी हैं[५] - गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणसक्ति, कान्त्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, और परमविरहासक्ति। दास्यासक्ति में विनयभाव का समावेश है। विनय के अन्तर्गत दीनता मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, मनोराज्य और विचारण ये सात तत्त्व आते हैं। पश्चात्ताप, उपालम्भ आदि भाव भी प्रपत्ति मार्ग में सम्मिलित हैं। लगभग ये सभी भाव भक्ति साधना में दृष्टिगोचार होते है।[६]

जैन साधना में भक्ति का स्थान मुक्ति के लिए सोपानवत् माना गया है। भगवद् भक्ति का तात्पर्य है - अपने इष्टदेव में अनुराग

करना। अनुराग के साथ ही विनय, सेवा, उपासना, स्तुति, शरणगमन आदि क्रियायें विकसित हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में पर्युपासना शब्द का भी प्रयोग हुआ है। उपासगदसाओ में पर्युपासना का क्रम इस प्रकार मिलता है - उपगमन, अभिगमन, आदक्षिणा, प्रदक्षिणा, वंदण, नमस्सण एवं पर्युपासना। स्तवन, नामस्मरण, पूजा, सामायिक आदि के माध्यम से भी साधक अपनी भक्ति प्रदर्शित करता हुआ साधना को विशुद्धतर बनाने में जुटा रहता है। हिन्दी जैन कवियों ने इन सभी प्रकारों को अपनाकर भक्ति का माहात्म्य प्रस्थापित किया है।

महात्मा आनन्दघन (सं. १६७२-१७४०) उदार विचारों के जैन सन्त थे। वे साम्प्रदायिक संकुचित भाव से परे थे। उनके भाव कबीर, दादू, रज्जव आदि सन्तों से मिलते-जुलते हैं। उनकी आनन्दघन बहत्तरी इन्हीं आध्यात्मिक भावों से ओतप्रोत रचना है जिसमें शान्तरस का मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन हुआ है। इसमें भक्ति, वैराग्य से प्रेरित आध्यात्मिक रूपक अन्तर्ज्योति का आविर्भाव और प्रेरणामय उल्लास का भाव व्यक्त हुआ है। भक्ति के विषय में उनका यह मार्मिक कथन उल्लेखनीय है कि कुछ काम करते हुए भी साधक का मन भगवान के चरणों में लगा रहे। गाय कहीं भी चरती है पर उसका ध्यान अपने बछडे पर लगा रहता है। अखण्ड सत्य में अडिग विश्वास ही भक्ति का लक्षण है चाहे फिर उसे राम, रहीम, महादेव या महावीर कुछ भी कहें, आगे फिर उनके काव्य में मधुर भाव और प्रपत्ति की सुन्दर झलक निम्न पद्यों में दृष्टव्य है -

आम कहो, रहमान कहो कोउ कान्ह कहो महादेव री,
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्म सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजनभेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री,
तैसे खण्ड कल्पना रोपित आप-अखण्ड सरूप री।

मधुर भाव और प्रपत्ति की सुन्दर झलक इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :-

मैं आई प्रभु सरन तुम्हारी, लागत नाहिं धको ।
भुजन उठाय कहूँ औरन सुं करहुं ज कर ही सको ।
वारे नाह संग मेरो, यूं ही जीवन जाय
ए दिन हसन खेलन के सजनी, रोते रैन विताय
अब मेरे पति गति देव निरंजन
भटकूं कहाँ-कहाँ सिर पटकूं, कहाँ करुं जनरंजन।

ये सभी उदाहरण निर्गुण भक्तों की अध्यात्मवादी अवधारणा के पर्याप्त निकट दिखाई देते हैं। नाथ सिद्धों की तरह वे चेतना को उद्बोधित करते हुए कहते हैं -

क्या सोवे उठ जाग बाउ रे ।
अंजलि जल ज्युं आयु घटत है, देत पहोरिया धरिय घाउ रे ।
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनींद्र चल, कोण राजापतिसाह राउ रे ।
भमत भमत जलनिधि पायके, भगवंत भजन बिन भाउनाउ रे ।
कहा विलंब करे अब बाउ रे, तरी भव जलनिधि पार पाउ रे ।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ।

इसी तरह खरतरगच्छीय उदयराज (सं. १६३१-१६७६) के वैद्यविरहिणी प्रबन्ध में विरहज्वर से पीडित नारी व्रजराज रूपी वैद्यराज के पास जाती है और अपना दु:ख निवारण कराती है। यहां कृष्ण भक्ति काव्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है -

अपने अपने कंत सूं रसवास रहिया जोइ,
उदैराज उन नारि कूं, जमे दुहाग न होइ ।
जां लगि गिरि सायल अचल, जाम अचल धूराज,
तां रंग राता रहै, अचल जोड़ि व्रजराज ।

कविवर बनारसीदास ने भक्ति के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबद्धि रूप होकर कुबुद्धि को मिटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदय में प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासा रूप होकर नेत्रों को स्थिर करती है, कभी आरती रूप होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है। जब जैसी अवस्था होती है तब तैसी क्रिया करती है -

कबहूं सुमति है कुमतिकी निवास करै,
कबहू विमल जोति अन्तर जगति है ।
कबहूं दया है चित करत दयाल रूप,
कबहूं सुलालसा है लोचन लगति है ।।
कबहूं आरती के प्रभु सनमुख आवै,
कबहूं सुभारती व्है बाहरि बगति है ।
धरै दसा जेसी तब करै रीति तेसी ऐसी,
हिरदै हमारै भगवंत की भगति है ।[७]

जैन साधना के क्षेत्र में दस प्रकार की भक्तियाँ प्रसिद्ध हैं - सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चरित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, पंचमहागुरु भक्ति, चैत्य भक्ति, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति और समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त निर्वाण भक्ति, नंदीश्वर भक्ति और शांति भक्ति को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। भक्ति के दो रूप हैं - निश्चय नय से की गई भक्ति और व्यवहार नय से की गई भक्ति। निश्चय नय से की गई भक्ति का सम्बन्ध वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्म तत्त्व की भावना से है और व्यवहार नय से की गई भक्ति का सम्बन्ध सराग सम्यग्दृष्टियों के पंच परमेष्ठियों की

आराधना से है। व्यवहार में उपास्य को कर्म, दु:खमोचक आदि बनाकर भक्ति की जाती है पर वह अन्तरंग भावों के सापेक्ष होने पर ही सार्थक मानी गई है अन्यथा तहीं। नवधा भक्ति आदि के माध्यम से साधक निश्चय भक्ति की ओर अग्रसर होता है। इसी को प्रपत्ति मार्ग कहा जाता है।

उपर्युक्त प्रपत्ति मार्ग के प्रमुख तत्त्वों के आधार पर हम यहाँ मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों द्वारा अभिव्यक्त रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे। बनारसीदास ने नवधा भक्ति में सर्वप्रथम श्रवण को स्थान दिया है। श्रवण का तात्पर्य है अपने आराध्य देव के उपदेशों का सम्यक् श्रवण करना और तदनुकूल सम्यक्ज्ञान पूर्वक आचरण करना। भक्त के मन में आराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का अतिरेक होता है। अत: मात्र उसी के उपदेश आदि को सुनकर अपने जीवन को कृतार्थ माना है। वह अपने अंगों की सार्थकता को तभी स्वीकार करता हैं जबकि वे आराध्य की ओर झुके रहें। मनराम ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है -

नैन सफल निरषै जु निरंजन, सीस सफल नमि ईसर झावहि ।
श्रवन सफल विहि सुनत सिद्धांतहि मुषज सफल जपिय जिन नांवहि ।
हिर्दो सफल जिहि धर्मवसे ध्रुव, करज सुफल पुन्यहि प्रभु पावहि ।
चरन सफल मनराम वहै गनि, जे परमारथ के पथ धावहि ।।[८]

इसी को द्यानतराय ने 'रे जिय जनम लहो लेह' कहकर चरण, जिह्वा, श्रोत्र आदि की सार्थकता तभी मानी है जब वे सद्गुरु की विविध उपासना में जुटे रहें -[९]

भक्त कवि ने अपने आराध्य का गुण कीर्तन करके अपनी भक्ति प्रकट की है। वह आराध्य में असीम गुणों को देखता है पर उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण कह उठता है -

प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी ।
गणधर कहत पार नहिं पावैं, कहा बुद्धि है मेरी ।।
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा ।
एक जीभ केसे गुण गावै उछू कहै किमि सूरा ।।
चमर छत्र सिंहासन बरनौं, ये गुण तुमतैं न्यारे ।
तुम गुण कहन वचन बल नाहीं नैन गिनै किमि तारे ।।[१०]

भगवद् गुण कीर्त्तन से भक्त को भोग पद, राज पद, ज्ञान पद, चक्री और इन्द्र पद ही नहीं मिलते बल्कि शाश्वत पद भी मिल जाता है। इसलिए विनयप्रभ उपाध्याय ने कहा है - एह माहप्प तुम सयल जगि गज्जए।[११] उन्हें परमाराध्य भगवद् गुण कीर्त्तन 'पुन्य भंडार भरेसुए, मानव भव सफल करे सुए'[१२] का कारण प्रतीत होता है। इस गुण कीर्त्तन से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है - 'वांछित फल बहु दान दातार, सारद सामिण वीनषु'[१३] और भवबंधन क्षीण होता है - 'भव बंधन खीणो समरसलीणो, ब्रह्म जिनदास पाय वंदणो।'[१४] भट्टारक ज्ञानभूषण की दृष्टि में ये गुण भगवान में उसी प्रकार भरे हैं जैसे शरदकालीन सरोवर में निर्मल जल भरा रहता है -

आहे नयन कमल दल सम किल कोमल बोलइ वाणी ।
शरदर सरोवर निर्मल सकल अकल गुण खानि ।।[१५]

भगवान् महावीर कलिकाल के समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं[१६] उनका स्वरूप निर्विकार, निश्चल, निकल और ज्ञानगम्य है जिसने उसे जान लिया उसे संसार में और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।[१७]

कविवर द्यानतराय ने पार्श्वनाथ स्तोत्र में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की महिमा का अनेक प्रकार से गुणगान किया है -

दुखी दुःखहर्ता सुखी सुक्खकर्ता । सदा सेवकों को महानन्द भर्ता ।।
हरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं । विषं डांकिनी विघ्न के भय अवाचं ।।३।।
दरिद्रीन को द्रव्य के दान दीने । अपुत्रीन को तु भले पुत्र कीने ।।
महासंकटों से निकारै विधाता । सबे संपदा सर्व को देहि दाता ।।४।।[१८]

पं. रूपचन्द्र प्रभु की अनन्त गुण गरिमा से प्रभावित होकर कह उठते हैं - 'प्रभु तेरी महिमा को पावै।'[१९] कविवर बुधजन भी 'प्रभु तेरी महिमा वरणी न जाई'[२०] कहकर इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं। इसीलिए भक्त कवि भावविभोर होकर कह उठते हैं - गणधर इन्द्र न करि सकैं तुम विनती भगवान। विनती आप निहारिकैं कीजै आप समान।

साधक गुण आराध्य कीर्त्तन कर उसके चिन्तवन में अपने को लीन कर लेना है। उसके नाम स्मरण से ही उसकी सारी इच्छायें पूर्ण हो जाती है। उसके लिए भगवान काम घट-देवमणि और देवतरू के समान लगते हैं।[२१] भट्टारक कुमुदचन्द्र ने इसी तथ्य को 'नाम लेत सहू पातक चूरे' कहकर अभिव्यक्त किया है।[२२] मुनिचरित्रसेन नेमिनाथ के समाधिमरण का स्मरण करने के लिए कहते हैं जिससे अन्तःकरण का समूचा विष नष्ट हो जाता है - 'नमि समाधि सुमरि जिय बिसु नासइ।[२३] प्रभु का स्मरण करके ब्रह्म रायमल्ल का मन अत्यंत उत्साहित होता है - 'तौह सुमिरण मन होइ उछाह तो हुआ छ अरु होय जी सी।' इससे अठारह दोष दूर हो जाते हैं और छयालीस गुण उत्पन्न हो जाते हैं।[२४] भैया भगवतीदास के लिए प्रभु का नामस्मरण कल्पवृक्ष, कामधेनु,

चिन्तामणि और अमृत-सा लगता है जो समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला और सुख प्राप्ति का कारण है।[२५] द्यानतराय प्रभु के नामस्मरण के लिए मन को सचेत करते हैं जो अघजाल को नष्ट करने में कारण होता है -

रे मन भज-भज दीन दयाल ।।
जाके नाम लेत इक खिन में, कटै कोटि अघ जाल ।।१।।
परब्रह्म परमेश्वर स्वामी देखत होत निहाल ।
सुमरण करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल ।।१।।
इन्द्र फणीन्द्र चक्रधर गावैं, जाकौ नाम रसाल ।
जाके नाम ज्ञान प्रकासैं, नासै मिथ्याजाल ।।३।।
जाके नाम समान नहीं कछु, ऊरध मध्य पताल ।
सोई नाम जपौ नित द्यानत, छांड़ि विषै विकराल ।।४।।[२६]

प्रभु का यह नामस्मरण (चिंतवन) भक्त तब तक करता रहता है जब तक वह तन्मय नहीं हो जाता। 'जैनाचार्यो ने स्मरण और ध्यान को पर्यायवाची कहा है। स्मरण पहले तो रुक-रुककर चलता है, फिर शनैः शनैः उसमें एकान्तता आती जाती है, और वह ध्यान का रूप धारण कर लेता है। स्मरण में जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा। इससे सांसारिक विभूतियों की प्राप्ति होती अवश्य है किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक सुख के लिए ही बल दिया है। प्रभु के समरण पर तो लगभग सभी कवियों ने जोर दिया है किन्तु ध्यानवाची स्मरण जैन कवियों की अपनी विशेषता है।[२७] इस प्रकार के ध्यान से भक्त कवि का दुविधाभाव समाप्त हो जाता है और उसे हरिहर ब्रह्म पुरन्दर की सारी निधियां भी

तुच्छ लगती है। वह समता रस का पान करने लगता है। समकित दान में उसकी सारी दीनता चली जाती है और प्रभु के गुणानुभव के रस के आगे और किसी भी वस्तु का ध्यान नहीं रहता -

हम मगन भये प्रभु ध्यान में
विसर गई दुविधा तन मन की, अचिरा सुत गुन गान में ।।
हरि-हर-ब्रह्म-पुरन्तर की रिधि, आवत नहिं कोउ मान में ।
चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान में ।।
इतनें दिन तूं नाहिं पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान में ।
अब तो अधिकारी है बैठे, प्रभु गुन अखय खजान में ।।
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु गुन अनुभव के रस आगे, आवत नहिं कोइ ध्यान में ।।[२८]

जगजीवन भी प्रभु के ध्यन को बहुत कल्याणकारी मानते हैं।[२९] द्यानतराय अरहन्त देव का स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं। ऊे ख्यातिलाभ पूजादि छोड़कर प्रभु के निकटतर पहुंचना चाहते हैं।[३०] इसी प्रकार एक पद में मन को इधर-उधर न भटकाकर जिन नाम के स्मरण की सलाह दी है क्योंकि इस से संसार के पातक कट जाते हैं -

जिन नाम सुमरि मन बावरे, कहा इत उत भटके ।
विषय प्रगट विष बेल है इनमें मत अटके ।।
द्यानत उत्तम भजन है कीजैं मन रटकैं ।
भव भव के पातक सवैं जैंहे तो कटकैं ।।[३१]

भक्त कवि अपने इष्टदेव के चरणों में बैठकर उनका उपदेश सुनता है[३२] फलतः उसके राग द्वेषदूर हो जाते हैं और वह सदैव भगवान के चरणों में रहकर उनकी सेवा करना चाहता है।[३३] बनारसीदास ने भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें देवों का देव कहा है। उनके चरणों

की सेवा कर इन्द्रादिक देव भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कवि अठारह दोषों से मुक्त प्रभु की चरण सेवा करने की आकांक्षा व्यक्त करता है -

जगत में सौ देवन कौ देव ।
जासु चरन परसै इन्द्रादिक होय मुकत स्वमेव ।
नहीं तन रोग न श्रम नहि चिन्ता, दोष अठारह मेव ।
मिटे सहज जाके ता प्रभु की करत बनारसि सेव ।[३४]

कुमुदचन्द्र भी प्रभु के चरण-सेवा की प्रार्थना करते हैं -- 'प्रभु पाय लागौं करूं, सेव थारी, तू सुन ले अरज श्री जिनराज हमारी।'[३५] भैया भगवतीदास प्रभु के चरणों की शरण में जाकर प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार होने से बचना चाहते हैं।[३६] आनंदघन संसार के सभी कार्य करते हुए भी प्रभु के चरणों में उसी प्रकार मन लगाना चाहते हैं जिस प्रकार गायों का मन सब जगह घूमते हुए भी उनके बछड़ों में लगा रहता है -

ऐसे जिन चरण चित पद लाउं रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुणगाऊं रे मना ।
उदर भरण के कारणे रे गउवां बन में जाय,
चारौ चहुं दिसि फिरै, बाकी सुरत बछरू आ मांय ।।[३७]

खंभात निवासी कवि शंभुदास (१७वीं शती) की अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। उनमें एक सरस्वती वन्दना भी है जिसका एक पद्य निम्नलिखित है -

कासमीर मुख मंडणी, भगवती ब्रह्म सुताय,
तुं त्रिपुरा तु भारती, तुं कविजन नीमाय ।
तुं सरसति तुं शारदा, तुं ब्रम्हाणी सार,
विदुषी माता तुं कही तुझ गुण नो नहिपार ।

उपाध्याय यशोविजय (सं. १६८०-१७४४) गंभीर शास्त्राभ्यासी कवि थे। उनके ग्रन्थों में कवित्वशक्ति, वचनचातुरि, पदलालित्य, अर्थ गौरव, रसपोषण, अलंकार निरूपण, परपक्ष खण्डन, स्वपक्षमण्डल और जिनभक्ति माहात्म्य का बडा सुन्दर वर्णन हुआ है। जसविलास में उनका जिनेन्द्र स्तवन देखिए जिसमें वे प्रभु के ध्यान में मग्न हो जाते हैं -

हम मगन भये प्रभु ध्यान में,
बिखर गई दुविधा तन मन की, अचिरा सुत गुन गान में।
हरिहर ब्रह्म पुरंदर की रिधि आवत नहि कोउ मान में ।
चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान में ।
इतने दिन तू नाहि पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान में ।
अब तो अधिकारी हैं बैइे, प्रभुगुन अखय खजान में ।
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु गुन अनुभव के रस आगे, आवत नहिं कोउ ध्यान में ।
(डा० प्रेमसागरजैन - हिन्दी जैन भक्तिकाव्य पृ० २०२)

भगवतीदास पार्श्वजिनेन्द्र की भक्ति में अगाध निष्ठा व्यक्त करते हुए संसारी जीव को कहते हैं कि उसे इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। उसकी रात-दिन की चिन्ता पार्श्वनाथ की सेवा से ही नष्ट हो जायेगी -

काहे को देशदिशांतर धावत, काहे रिझावत इन्द्र नरिंद ।
काहे को देवि औ देव मनावत, काहे को शीस नसावत चंद ।।
काहे को सूरज सीं करजोरत, काहे निहोरत मूढ़ मुनिंद ।
काहे को सोच करे दिन रैन तू, सेवत क्यों नहि पार्श्व जिनंद ।।[३८]

जगतराम प्रभु के समक्ष अपनी भूल को स्वीकार करते हुए कहते हैं जिन विषय कषाय रूपी नागों ने उसे डसा है उससे बचने के लिए मात्र आपका भक्ति गरुड ही सहायक सिद्ध हो सकता है।[३९] खुशालचन्द काला भगवान् की चरण सेवा का आश्रय लेकर संसार-सागर से पार होना चाहते हैं 'सुरनर सब सेवा-करें, जी चरण कमल की वोर, भमर समान लग्यो रहे जी, निसि-वासर भोर।।'[४०] कविवर दौलतराम अपने आराध्य के सिवा और किसी की चरण सेवा में नहीं जाना चाहते है -

जाउं, कहां शरन तिहारौ ।।
चूक अनादि तनी या हमारी, माफ करौं करुणा गुन धारै ।।
डूबत हों भवसागर में अब, तुम बिन को मोहिं पार निकारै ।।
तुन सम देव अबर नहि कोई, तातें हम यह हाथ पसारे ।।
मौसम अधम अनेक ऊबारे, बरनत हैं गुरु शास्त्र अपारे ।।
दौलत को भवपार करो अब, आयो है शरनागत थारे ।[४१]

कवि बुधजन को भी जिन शरण में जाने के बाद मरण का कोई भय नहीं दिखाई देता। वह भ्रमविनाशक, तत्त्व प्रकाशक और भवदधितारक है -

हम शरन गह्यौ जिन चरन को ।
अब औरन की मान न मेरे, डर हुरह्यौ नहिं मरनको ।।१।।
भरम विनाशन तत्त्व प्रकाशन, भवदधि तारन तरन को ।
सुरपति नरपति ध्यान धरत वर, करि निश्चय दुःख हरन को ।।२।।
या प्रसाद ज्ञायक निज जान्यौं तन जड़ परन को।
निश्चय सिधसौं पै कषायतैं, पात्र भयो दुख भरन को ।।३।।
प्रभु बिन और नहीं या जग में, मेरे हित के करन को ।
बुधजन की अरदास यही है, हर संकट भव फिरन को ।।४।।[४२]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने स्तुति अथवा वन्दनापरक सैकड़ों पद और गीत लिखे हैं। उनमें भक्त कवियों ने विविध प्रकार से अपने आराध्य से याचनायें की हैं। भट्टारक कुमुदचन्द्र पार्श्व प्रभु की स्तुति करके ही अपने जन्म सफलता मानते हैं। उसी से उनके तन-मन की आधि-व्याधि भी दूर हो जाती है - 'जनम सुलभ भयौ भयौ सुकाज रे। तन की तपत टरी सब मेरी, देखत लोडण पास आज रे'।[४३] लावण्य समय ने भगवान ऋषभदेव की वन्दना करते हुए उन्हें भवतारक और सुखकारक कहा है।[४४] श्री क्षान्तिरंग गणि को पूर्ण विश्वास है कि पार्श्व जिनेन्द्र की वन्दना करने से अज्ञान ही नष्ट नहीं होता वरन् मनवांछित फल की भी प्राप्ति होती है -

पास जिणंद खइराबाद मंडण, हरष धरी नितु नमस्यं हो ।।
रोर तिमिर सब हेलेहिं हरस्यूं, मनवांछित फलवरस्यं ।।[४५]

कुशललाभ कवि सरस्वती की वन्दना करते हुए उसे सुराणी, स्वामिनी और वचन विलासणी मानते हैं। वह समस्त संसार में व्याप्त एक ज्योति है।[४६] रामचन्द्र तीर्थंकर वर्धमान को प्रणाम करते हैं और लोकालोक प्रकाशक उनके स्तवन से मोहतम को दूर करते हैं - 'प्रणामो परम पुनीत नर, वरधमान जिनदेव।'[४७] कविवर बनारसीदास ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अनेक प्रकार से स्तुति की है। जिसमें भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय हुआ है -

करम भरम जग तिमिर हरनखग, हरन लखन खग सिवमगदरसी ।
निरखत नयन भविकजल वरसत, हरखत अमित भविक जन सरसी।।
मदन कदन-जिन परम धरम हित, सुमिरत भगति भगति सब डरसी ।
सजल-जलद तन मुकुट सपत फन, कमठ-दलन जिन नमत बनरसी ।१।[४८]

कवि राजमल की सरस्वतीवन्दना देखिए -

श्री जिनवदन नलिन स्थितकारी,
श्रुतदेवी गुण गाऊं संवारी,
सिद्धिबुद्धि लहुंसारी,कलहंस ऊपरिआसनधारी,
जगपति त्रिभुवन माँहि संचारी, पहियो वेश विस्तारी,
पयसोवन घूंघर धमकारी,
उरि नवसर वरमोतिनहारी, करि चूडी खलकारी।
जड़ित मनोहर भूषण भारी,
अमृत भीनी लोचन तारी, सारद नाम उारी।
रस निधि रे दरशन शशी संवच्छरइ रे
(१६९६) ईडरनगरमझारि;
श्री पोसीना पार्श्वनाथ सुपसाउलइ रे,
कहि राजयरतन उवझाय भावइ रे ।

कविवर दौलतराम अपने आराध्य से अब दुःख को हरण करने की प्रार्थना करते हैं, और उनका गुणगान करते हुए कहते हैं कि हे परमेश्वर, तुम मोक्षमार्ग दर्शक हो और मोह रूपी दावानल के लिए नीर हो। मेरी वेदना को दूर करो और कर्म जंजीर से मुझे मुक्त करो -

हमारी वीर हरो भव पार ।।
मैं दुःख तपित दयामृतसर तुम, लखि आयो तु तीर ।
तु परमेश मोखमगदर्शक, मोहदवानलनीर ।।१।।
तुम विनहेत जगत उपगारी, शुद्ध चिदानन्द धीर ।
गनपतिज्ञान समुद्र न लंघै, तुम गुनसिन्धु गहीर ।।२।।
याद नहीं मैं विपति सही जो, घर घर अमि शरीर ।
तुम गुन चिंतत नशत तथा भव ज्यौं घन चलत समीर ।।३।।
कोटवार की अरज यही है, मैं दुःख सहूं अधीर ।
हरहु वेदना फन्द दौल की, कतर कर्म जंजीर ।।४।।[४९]

जगजीवन के पद भी बड़े हृदयहारी हैं। कवि अपने आराध्य से जन्म-मरण का चक्कर दूर करने का निवेदन करता है और 'दीनबन्धु' जैसे विरद को निर्वाह करने की प्रार्थना करता है।[५०] बुधजन भी प्रभु की महिमा को अच्छी तरह जानते हैं। वे उनके दर्शन मात्र से ही अपने राग-द्वेष को भूल जाते हैं -

प्रभु तेरी महिमा वरणी न जाई ।।
इन्द्रादिक सब तुम गुण गावत, में कछु पार न पाई ।।१।।
षट् द्रव्य में गुण व्यापत जैते, एक समय में लखाई ।
ताकी कथनी विधि निषेधकर, द्वादस अंग सवाई ।
क्षायिक समकित तुम ढिग पावत और ठौर नहिं पाई ।
जिन पाई तिन भव तिथिं गाही, ज्ञान की रीति बढ़ाई ।।३।।
मो स अल्प बुधि तुम उपावत, श्रावक पदवी पाई ।
तुम ही तैं अभिराम लखूं निज राग दोष विसराई ।।४।।[५१]

भक्त कवि आराध्य से अपने आपको अत्यन्त हीन समझता है और लघुता व्यक्त करते हुए दास्य भाव को प्रकट करता है। भ. कुमुदचन्द के भक्तिराग ने उन्हें अनाथ बना दिया और फलतः स्वयं को भगवान के चरण-शरण में छोड़ दिया।

नाथ अनाथनि कूं कछु दीजे ।।
विरद संभारी धारी हठ मन ते, काहे जग जस लीजे ।।१।।
तुम्ही निवाज कियो हूं मानष गुण अवगुण न गणीजे ।।
व्याल वाल प्रतिपल सविषतरु, सौं नहीं आप हणीजे ।।२।।
में तो सोई जो ता दीन हूतो जा दिन को न छूईजे ।
जो तुम जानत और भयो है बाधि बाजार बेचीजे ।।३।।
मेरे तो जीवन धन सब तुमहि, नाथ तिहारे जीजे ।
कहत कुमुदचन्द चरण शरण मोहि, जे भावे सो कीजे ।।४।।[५२]

कविवर बनारसीदास ने आराध्य के प्रति लघुता व्यक्त करते हुए उसके स्वरूप को अगम और अथाह माना है उसके स्वरूप का वर्णन करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार उलूकपोत रवि किरण के उद्योत का वर्णन नहीं कर सकता और बालक अपनी बाहों से सागर पार नहीं कर सकता।

प्रभुस्वरूप अति अगम अगाह । क्यों हमसे इह होय निवाह ।
ज्यौं जिन अंध उलूको पोत । कहि न सकै रवि किरन उदोत ।।४।।
तुम असंख्य निर्म्मलगुणखानि । मैं मतिहीन कहो निजवानि ।
ज्यौं बालक निजबांह पसार । सागर परिमित कहै विचार ।।६।।[५३]

जगतराम प्रभु का अनुग्रह पाने के लिए हाथ जोड़कर बैठे हैं और अवगुणों को अनदेखा करने की प्रार्थना कर रहे हैं। कवि का यह 'चेरा' का स्वरूप दृष्टव्य हैं -

तुम साहिब में चेरा, मेरा प्रभु जी हो ।।
चूक चाकरी मो चेरा की, साहिब सी जिन मेरा ।।१।।
टहल यथाविधि बन नहीं आवे, करम रहे कर बेरा ।
मेरो अवगुण इतनो ही लीजे, निशदिन सुमरन तेरा ।।२।।
करो अनुग्रह अब मुझ ऊपर मेरो अब उरझेरा ।
'जगतराम' कह जोड़ वीनवै राखौ चरणन नेरा ।।३।।[५४]

वखतराम साह भी इसी तरह -- "दीनानाथ दया मो पे कीजै" कहकर अपने आपको अधम और पालक बताते हैं।[५५] बुधजन भी चेरा मनकर अष्टकर्मो को नष्ट करना चाहते हैं -[५६]

साधक भक्त कवि की समता और एकता की प्रतीति के सन्दर्भ में मैं पहले विस्तार से लिख चुकी हूं। 'समता भाव भये हैं मेरे आन भाव सब त्यागो जी' जैसे भाव उसके मन में उदित होते हैं और वह

एकाकारता की अनुभूति करने लगता है।[५७] वह अब रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर संसार सागर से पार करने की प्रार्थना करता है-

तुम माता तुम तात तुम ही परम धणीजी ।
तुम जग सांचा देव तुम सम और नहीं जी ।।१।।
तुम प्रभु दीनदयालु मुन्द दुष दूरि करो जी ।
लीजै मोहि उबारि मैं तुम सरण गही जी ।।२।।
संसार अनंतन ही तम ध्यान धरो जी ।
तुम दरसन बिन देव दुरगति मांहि सत्यौजी ।।३।।[५८]

भक्त कवि आराध्य के रूप पर आसक्त होकर उसके दर्शन की आकांक्षा लिये रहता है। सीमन्धर स्वामी के स्तवन में भेरुनन्द उपाध्याय ने प्रभु के रूप का बड़ा सुन्दर चित्रांकन किया है जिसमें उपमान-उपमेय का स्वाभाविक संयोजन हुआ है।[५९] भट्टारक ज्ञानभूषण ने तीर्थंकर ऋषभ की बाल्यावस्था का चित्रण करते समय उनके मुख को पूर्णमासी के समान बताया और हाथों को कल्पवृक्ष की उपमा दी। उनके काव्य में बालक का चित्र अत्यन्त स्वाभाविक ढंक से उभरा हुआ है जिसमें अनेक उपमानों का प्रयोग है।[६०]

पांडे रूपचन्द का काव्य सौष्ठव देखिये जिसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का समुचित प्रयोग हुआ है -

प्रभु तेरी परम विचित्र मनोहर, मूरति रूप बनी ।
अंग-अंग की अनुपम सोभ, बरननि सकति फनी ।।
सकल विकार रहित बिनु अम्बर, सुन्दर सुभ करनी ।
निराभरन भासुर छवि सोहत, कोटि तरुन तरनी ।।
वसु रस रहित सांत रस राजत, खलि इहि साधुपनी ।
जाति विरोधि जन्तु जिहि देखत, तजत प्रकृति अपनी ।।

दरिसनु दुरित हरै चिर संचितु, सुरनरफनि मुहनी ।
रूपचन्द कह कहौं महिमा, त्रिभुवन मुकुट-मनी ।।[६१]

कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में पंचपमेष्ठियों की जो स्तुतियाँ की हैं । उनमें तीर्थंकर के शरीर की स्तुति यहां उल्लेखनीय है।[६२] जगतराम ने भी इसी प्रकार आराध्य की छवि देखकर शाश्वत सुख की प्राप्ति की आशा की है।[६३] नवलराम के नेत्रों में उसकी छाया सुखद प्रतीत होती है - 'म्हारा तो नैना में रही छाय, हो जी हो जिनेन्द्र थांकी मूरति।''[६४] दौलतराम को भी ऐसा ही सुखद अनुभव होता है और साथ ही उनके मोह महातम का नाश हुआ है - 'निरखत सुख पायौ जिन मुख चन्द मोह महातम नाश भयौ हे, उर अम्बुज प्रफुलायौ। ताप नस्यौ बढि उदधि अनन्द।[६५] बुधजन भी 'छवि जिनराई राजै छै' कहकर भगवान की स्तुति करते हैं।[६६]

रूपासक्तिमय भक्ति के माध्यम से भक्त भगवद् दर्शन के लिए लालायित रहता है। वह जिनेन्द्र का दर्शन करने में अपना जन्म सफल मानता है और ध्यान धारण करने से संसिद्धि प्राप्त करता है।[६७] उपाध्याय जयसागर को आदिनाथ के दर्शनों से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।[६८] पद्म तिलक ने भी आदिनाथ की स्तुति की है जिससे समस्त मनोवांछित अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं।[६९] मुनि जयलाल का मन प्रभु के दर्शन से हर्षित हो जाता है। वह राज ऋद्धि की आकांक्षा नहीं करता, बस, उसे तो आराध्य के दर्शनों की ही प्यास लगी है।[७०] यह दर्शन सभी प्रकार के संकट और दुरित का निवारक है - 'उपसमै संकट विकट कष्टक दुरित पाप निवरणा।'[७१] मनोवांछित चिन्तामणि है।[७२] जिसे वह अच्छा नहीं लगता वह मिथ्यादृष्टि है। जिन प्रतिमा जिनेन्द्र के समान है। उसके दर्शन करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं -

जिन प्रतिमा जिन सम लेखीयइ ।
ताको निमित्त पाय उर अन्तर राग दोष नहि देखीयइ ।।
सम्यग्दृष्टि होइ जीव जे, जिस मन ए मति रेखीयइ ।
यहु दरसन जांकू न सुहावइ, मिथ्यामत येखीयइ ।
चितवत चित चेतना चतुर नर नयन मेष जे मेखीयइ ।
उपशम कृपा ऊपजी अनुपम, कर्म करइ न सेखीयइ ।।
वीतराग कारण जिन भावन, ठवणा तिण ही पेखीयइ ।
चेतन कंवर भये निज परिणति, पाप पुन्न दुइ लेखीयइ ।।[७३]

ब्रह्म गुलाल एक कुशल भक्तकवि थे। उनकी अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। उन्होंने कृपणजगावनहार में जिनप्रतिमा की महिमा का सुन्दर वर्णन किया है -

प्रतिमा कारणु पुण्य निमित्त,
बिनु कारण कारज नहि मित्त
प्रतिमा रूप परिणवै आपु, दोशादिक नहिं व्यापै पापु ।
क्रोध लोभ माया बिनु मान,
प्रतिमा कारण परिणवै घान, पूजा करत होइ यह भाउ,
दर्शन पाये गलै कषाउ।

विद्यासागर ने 'निरख्यो नयने जब रसायन मन्दिर सुखकर' लिखकर भगवान के दर्शन का आनन्द लिया है।[७४] बनारसीदास ने जिनबिम्ब प्रतिमा के माहात्म्य का इस प्रकार वर्णन किया है -

जाके मुख दस्तसौं भगत के नैननिकों,
थिरता को बानि बढे चंचलता विनसी ।
मथद्रा देखि केवली की मुद्रा याद आवै जहां,
जाके आगे इन्द्र ही विभूति दीसै तिनसी ।।

जाको जस जपत प्रकाश जगे हिरदै में,
सोइ सुद्धमति होई हुती जु मलिन सी ।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सो है जिनकी छवि सुविद्यमान जिनसी ।।[७५]

कविवर दौलतराम ने जिन दर्शन करके भरपूर सुख पाया 'निरखत सुख पायौ, जिन मुखचन्द'। उन्हें जिन दवि त्रिभुवन आनन्दकारिणी और जगतारिणी प्रतीत हुई है।[७६] बुधजन के नयन नाभिकुअर के दर्शन करते ही सफल हो गये - 'तिरखै नाभिकुअरजी, मेरे नैन सफल भये'। जिनेन्द्र के दर्शन करते ही उनका मिथ्यातम भाग गया, अनादिकालन संताप मिट गया और निजानुभव पाकर अनन्त हर्ष पा लिया -

लखैं जी अज चन्द जिनन्द प्रभु की मिथ्यातम मम भागौ ।।टेक।।
अनादिकाल की तपत मिटी सब, सूतौ जियरौ जागौ ।।१।।
निज संपति निज ही मैं पाई, तब निज अनुभव लागौ ।
बुधजन हरषत आनन्द वरषत, अमृत झर मैं पागौ ।।२।।[७७]

भक्त कवि आराध्य का दर्शन कर भक्तिवशात् उनके समझ अपने पूर्वकृत कर्मो का पश्चात्ताप करता है जिससे उसका मन हल्का होकर भक्ति भाव में और अधिक लीन हो जाता है। भट्टारक कुमुदचन्द्र 'मैं तो नरभव बोधि गवायो। न कियो जपतप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो।' तथा ''चेतन चेतत क्यूं बावरे। विषय विषे लपटाय रहियो कहा, दिन दिन छीजत जात आपरे' जैसे पद्यों में अपना भक्ति-सिक्त पश्चात्ताप व्यक्त करते हैं।[७८] रूपचन्द 'जनमु अकारथ ही जु गयौ।। धरम अकारथ काम पद तीनौ, एकोकरि न लयौ।'[७९] द्यानतराय तो 'कबहू' न निज घर आये।। परघर फिरत बहुत

दिन बीते नांव अनेक धराये।।[८०] व नवलराम 'प्रभु चूक तकसीर मेरी माफ करिये' कहकर मिथ्यात्व क्रोध-मान माया लोभ इत्यादि विकार भावों के कारण किये गये कर्मो की भर्त्सना करते हैं और आराध्य से भवसागर पार कराने की प्रार्थना करते हैं[८१] - ''प्रभु चूक तकसीर मेरी माफ करिये।''

साधक पश्चात्ताप के साथ भक्ति के वश आराध्य को उपालम्भ देता है कि 'जो तुम दीनदयाल कहावत। हमसे अनाथनि हीन दीन कूं काहे न नाथ निवाजत।।' प्रभु, तुम्हें अनेक विधानों से घिरे सेवक के प्रति मौन धारण नहीं करना चाहिए। तुम विघनहारक, कृपा सिन्धु जेसे विरुदों को धारण करते हो तब उनका पूरा निर्वाह करना चाहिए।[८२] द्यानतराय उपालम्भ देते हुए कुछ मुखर हो उठते हैं। और कह देते हैं कि आप स्वंय तो मुक्ति में जाकर बैठ गये पर मैं अभी भी संसार में भटक रहा हूं। तुम्हारा नाम हमेशा मैं जपता हूं पर मुझे उससे कुछ मिलता नहीं। और कुछ नहीं, तो कम से कम राग-द्वेष को तो दूर कर ही दीजिए -

तुम मैं प्रभु कहियत दीनदयाल ।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल ।।१।।
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मनवच तीनों काल ।
तुम तो हमके कछु देत नहिं, हमरो कौन हवाल ।।२।।
बुरे भले हम भगत तिहारे, जानत हो हम चाल ।
और कछु नहिं यह चाहत हैं, राग-दोष को टाल ।।३।।
हम सौं चूक परी सो वकसो, तुम तो कृपा विशल ।
द्यानत एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ।।४।।[८३]

एक अन्यत्र स्थान पर कवि का उपलम्भ देखिये- वह उद्धार किये गये व्यक्तियों का नाम गिनाता है और फिर अपने इष्ट को उलाहना देता है कि मेरे लिए आप इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं।

मेरी अब बेर कहा ढील करी जी ।
सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी ।।
सीता सती अगनि में बैठी पावक नीर करी सगरी जी ।
वारिषेण पै खडक चलायो, फूलमाल कीनी सुथरी जी ।।
धन्या वाणी परलो निकाल्यौ ता घर रिद्ध अनेक भी जी ।
सिरीपाल सागर तैं तारयो, राजभोग कै मुकति वरी जी ।।
सांपकियौ फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरी जी ।
'द्यानत' में कुछ जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी ।[८४]

दौलतराम भी इस प्रकार उपलम्भ देते हैं और अवगुणों की क्षमा याचना कर आराध्य से दु:ख दूर करने की प्रार्थना करते हैं -

नाथ मोहि तारत क्यौं ना, क्या तकसीर हमारी ।।
अंजन चोर महा अघ करता सपत विसन का धारी ।
वो ही मर सुरलोक गयो है, बाकी कछु न विचारी ।।१।।
शूकर सिंह नकुल वानर से, कौन-कौन व्रत धारी ।
तिनकी करनी कछु न बिचारी, वे भी भये सुर भारी ।।२।।
अष्ट कर्म बैरी पूरुब के, इन मो करी खुवारी ।
दर्शन ज्ञान रतन हर लीने, दीने महादुख भारी ।।३।।
अवगुण माफ करे प्रभु सबके, सबकी सुधि न विसारी ।
दौलतराम खड़ा कर जोरे, तुम दाता मैं भिखारी ।।४।।[८५]

इस प्रकार प्रपत्तभावना के सहारे साधक अपने आराध्य परमात्मा के सान्निध्य में पहुंचकर तत्तत् गुणों को स्वात्मा में उतारने

का प्रयत्न करता है। प्रपत्ति में श्रद्धा और प्रेम की विशुद्ध भावना का अतिरेक होने के फलस्वरूप साधक अपने आराध्य के रंग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने पर उसका दुविधा भाव समाप्त हो जाता है और समरसभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। यहीं सांसारिक दुःखों से त्रस्त जीव शाश्वत शांति की प्राप्ति कर लेता है और वीतरागता शुक्लध्यान के रूप में स्फुरित हो जाती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन भक्तों की भावाभिव्यक्ति में इसी प्रकार की शान्ता भक्ति का प्राधान्य रहा है।

२. सहज-साधना और समरसता

योग साधना भारतीय साधनाओं का अभिन्न अंग है। इसमें साधारणतः मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया का समावेश किया गया है। उत्तर काल में यह परम्परा हठयोग की प्रस्थापना में मूलकारण रही। इसमें सूर्य और चन्द्र के योग से श्वासोच्छवास का निरोध किया जाता है अथवा सूर्य (इड़ा नाड़ी) और चन्द्र (पिंगला) को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राणवायु का संचार किया जाता है। उत्तर कालीन वैदिक और बौद्ध सम्प्रदाय से प्राणवायु का संचार किया जाता है। उत्तर कालीन वैदिक और बौद्ध सम्प्रदाय में हठयोग साधना का बहुत प्रचार हुआ। जैन साधना में मनि योगीन्दु,[८६] मुनि रामसिंह[८७] और आनंदघन[८८] में इसके प्रारंभिक तत्त्व अवश्य मिलते हैं। पर उसका वह वीभत्स रूप नहीं मिलता जो उत्तरकालीन वैदिक अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मिलता रहा है। जैन-साधना का हठयोग जैनधर्म के मूल भाव से पतित नहीं हो सका। उसे जैनाचार्यो ने अपने रंग में रंगकर अन्तर्भूत कर लिया। योग-साधना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य भी जैन साधकों ने लिखा है। उसमें योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशति, योगशास्त्र आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

योग का तात्पर्य है यम-नियम का पालन करना। यम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह और नियम का अर्थ है महाव्रतों का पालन। पंचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर विजय' का विशेष महत्त्व है। उसे ही सत्य ब्रह्म दर्शन निरवाची।'[८९] इसीसे योगी के मन की परख की जाती है।[९०] ऐसा ही योगी धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पाता है। दौलतराम ने एसे ही योगी के लिए कहा है - **'ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भव में आवै।**[९१]

बनारसीदास का चिन्तामणि योगी आत्मा सत्य रूप है जो त्रिलोक का शोक हरण करने वाला है और सूर्य के समान उद्योतकरी है।[९२] कवि द्यानतराय को उज्ज्वल दर्पण के समान निरंजन आत्मा का उद्योत दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्द रूप परमात्मा है जो सहज साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है - 'देखो भाई आतमराम विराजे।[९३] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक के मन में दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है - **'अब हम अमर भये न मरेंगे।'**[९४]

शुद्धात्मावस्था की प्राप्ति में समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनंद जैनेतर कवियों की तरह जैन कवियों ने भी लिया है। उसकी प्राप्ति में सर्वप्रथम द्विविधा का अन्त होना चाहिए जिसे बनारसीदास और भैया भगवतीदास ने दूर करने की बात कही है। आनन्दतिलक की आत्मा समरस में रंग गई -

समरस भावे रंगिया अप्पा देखई सोई,
अप्पउ जाणइ परणई आणंद करई णिरालंव होई ।

यशोविजय ने भी उनका साथ दिया।[९५] बनारसीदास को वह कामधेनु चित्रावेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[९६] उन्होंने ऐसी ही आत्मा को समरसी कहा है जो नय-पक्षों को छोडकर समतारस ग्रहण करके आत्म स्वरूप की एकता को नहीं छोडते और अनुभव के अभ्यास से पूर्ण आनंद में लीन हो जाते हैं।[९७] ये समरसी सांसारिक पदार्थो की चाह से मुक्त रहते हैं - 'जे समरसी सदैव तिनकौं कछु न चाहिए।[९८] ऐसा समरसी ब्रह्म ही परम महारस का स्वाद चख पाता है। उसमें ब्रह्म, जाति, वर्ण, लिंग, रूप आदि का भेद अब नहीं रहता।

भूधरदासजी की सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद कैसी आत्मानुभूति हुई और कैसा समरस रूपी जल झरने लगा, यह उल्लेखनीय है -

अब मेरे समकित सावन आयो ।।
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ।।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा धन छायो ।।
बौलैं विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो ।।
भूल धूलकहि मूल न सूझत, समरस जल झर लायो ।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायौ ।।[९९]

आनंदघन पर हठयोग की जिस साधना का किंचित् प्रभाव दिखाई देता है वह उत्तरकालीन अन्य जैनाचार्यो में नहीं मिलता -

आतम अनुभव-रसिक कौ, अजब सुन्यौ बिरतंत ।
निर्वेदी वेदन करै वेदन करै अनन्त ।।
माहारो बालुडो सन्यासी, देह देवल मठवासी ।
इड़ा-पिंगला मारग तजि जोगी, सुषमना घर बासी ।।
ब्रम्हरंध्र मधि सांसन पूरी, बाऊ अनहद नाद बजासी ।
यम नीयम आसन जयकारी, प्राणयाम अभ्यासी ।।

प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी ।
मुल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यकासन वासी ।[१००]

द्यानतराय ने उसे गुगे का गुड़ माना।[१०१] इस रसायन का पान करने के उपरान्त ही आत्मा निरंजन और परमानन्द बनता है।[१०२] उसे हरि-हर-ब्रह्मा भी कहा जाता है। आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति को ही दौलतराम, ने "शिवपुर की डगर समरस सौं भरी, सो विषय विरस रुचि चिरविसरी"[१०३] कहा है।

मध्यकाल में जिस सहज-साधना के दर्शन होते हैं उससे हिन्दी जैन कवि भी प्रभावित हुए हैं पर उन्होंने उसका उपयोग आत्मा के सहज स्वाभाविक और परम विशुद्धावस्था को प्राप्त करने के अर्थ में किया हैं। बाह्याचार का विरोध भी इसी सन्दर्भ में किया है।[१०४] जैन साधक अपने एंग की सहज साधना दारा ब्रह्य पद प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। कभी कभी योग की चर्चा उन्होंने अवश्य की पर हठयोग की नहीं। ब्रह्मानुभूति और तज्जन्य आनंद को प्राप्ति का उद्घाटन करने में जैनसाधकों की उक्तियां न अधिक जटिल और रहस्यमय बनी और न हीं उनके काव्य में अधिक अस्पष्टता आ पाई। जैन काव्य में सहज शब्द मुख्य रूप से तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है -

१. सहज-समाधि के रूप में २. सहज-सुख के रूप में[१०५] और ३. परमतत्त्व के रूप में।

पीताम्बर ने सहज समाधि को अगम्य और अकथ्य कहा है। यह समाधि सरल नहीं है। वह तो नेत्र और वाणी से भी अगम्य है जिसे साधक ही जान पाते हैं -

"नैनन ते अगम अगम याही बैनन तैं,
उलट 'पुलट बहै कालकूटह कह री ।
मूल बिन पाए मूढ़ कैसे जोग साधिक आवें,
सहज समाधि की अगम गति गहरी ।।३४।।[१०६]

बनारसीदास ने उसे निर्विकल्प और रूपाधिक का प्रतीक माना। वही आत्मा केवलज्ञानी और परमात्मा कहलाता है। इसी को आतम समाधिक कहा गया है जिसमें राग, द्वेष, मोह विरहित वीतराग अवस्था की कल्पना की गई है।

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेंटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है।।
इन्द्रियजनित सुखःदुख सौ विमुख है कै।
परम के रूप है करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आतम अराधि परमातम करतु है।।[१०७]
रागद्वेष मोह की दसासों भिन्न रहे यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल का विधुंसहै।
निरुपाधि आतम समाधि में विराजे तानैं,
कहिए प्रगट पुरन परम हंस है।।[१०८]

जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं[१०९] उन्हें जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाया है। उन्होंने बाह्यसाधन का खंडनकर अन्तःसाधना पर बल दिया है। व्यवहार नय की दृष्टि ने जाप करना अनुचित नहीं है पर निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो द्यानतराय जी ऐसे सुमिरन को महत्त्व देते हैं जिसमें -

ऐसो सुमरन करिये रे भाई । पवन थंभै मन कितहु न जाई ।।
परमेसुर सौं साचौं रहिजै । लोक रंजना भय तजि दीजै ।।
यम अरु नियम दोऊविधि धारौं । आसन प्राणायाम सामरौ ।।
प्रत्याहार धारना कीजैं । ध्यान समाधि महारस वीजै।।[११०]

अनहद को ध्यान की सर्वोच्च अवस्था कहा जा सकता है जहां साधक अन्तरतम में प्रवेश कर राग-द्वेषादिक विकारी भावों से शून्य हो जाता है वहां शब्द अतीत हो जाते हैं और अन्त में आत्मा का ही भाव शेष रह जाता है। कान भी अपना कार्य करना बंद कर देता है। केवल भ्रमरगुञ्जन-सा शब्द कानों में गूंजता रहता है।

अनहद सबद सदा सुन रे ।।
आप ही जानैं और न जानैं, कान बिना सुनिये धुन रे ।।
भमर गुंज सम होत निरन्तर, ता अंतर गति चितवन रे ।।[१११]

इसीलिए द्यानतराय जी ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छवास के साथ सदैव सोहं सोहं की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं -

सोहं सोहं होत नित, सांसा उसास मझार ।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार ।।
तीन लोक में सार, घर सिव खेत निवासी ।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी ।।
जैसो तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं ।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ।।[११२]

आनंदघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अंतः कारण में अजपा जाप को जगाते हैं वे चेतन मूर्ति

निरंजन का साक्षात्कार करते हैं।[११३] इसीलिए संत आनंदघन भी सोहं को संसार का सार मानते हैं -

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो ।
सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो ।।[११४]

इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनंद के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश्य भावविभोर हो उठती है -

"उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी ।
झड़ी सदा आनंदघन बरखत, बन मोर एकनतारी ।।[११५]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सहज योग साधनाजन्य रहस्यभावना से साधक आध्यात्मिक क्षेत्र को अधिकाधिक विशुद्ध करता है तथा ब्रह्म (परमात्मा) और आत्मा के सम्मिलन अथवा एकात्मकता की अनुभूति तथा तज्जन्य अनिर्वचनीय परमसुख का अनुभव करता है। इन्हीं साधनात्मक अभिव्यक्तियों के चित्रण में वह जब कभी अपनी साधना के सिद्धान्तों अथवा पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करता है। इस शैली को डॉ. त्रिगुणयत ने शब्द मूलक रहस्यवाद और अध्यात्म मूलक रहस्यवाद कहा है।[११६] इस तरह मध्यकालीन जैन साधकों की रहस्यसाधना अध्यात्ममूलक साधनात्मक रहस्यभावना की सृष्टि करती है।

३. भावनात्मक रहस्य भावना

साधक की आत्मा के ऊपर से जब अष्ट कर्मो का आवरण हट जाता है, और संसार के मायाजल से उसकी आत्मा मुक्त होकर विशुद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है तो उसकी भाव दशा भंग हो जाती

है। फलतः साधक विरह-विधुर हो तड़प उठता है। यह आध्यात्मिक विरह एक ओर तो साधक को सत्य की खोज अर्थात् परमपद की प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है और दूसरी ओर उसे साधना में संलग्न रखता है। साधक की अंतरात्मा विशुद्धतम होकर अपने में ही परमात्मा का रूप देखती है। तब वह प्रेम और श्रद्धा की अतिरेकता के कारण उससे अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित करने लगती है। यही कारण है कि कभी साधक उसे पति के रूप में देखता है और कभी पत्नी के रूप में। क्योंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्यरति में देखी जाती है। अतः रहस्यभावना की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और प्रिया के आश्रय में होती रही है।

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन एवं जैनेतर सन्तों एवं कवियों ने इसी दाम्पत्यमूलक रतिभाव का अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। आत्मा परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया गया है। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का यह कथन इस सन्दर्भ में उपयुक्त है कि लोक में आनंदशक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दाम्पत्य संयोग में होता है, जिसमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिए एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनंद स्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनंद इसी कारण अनायास लौकिक दाम्पत्य प्रेम के रूपकों में प्रकट हो जाता है। अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैध भाव ही समाप्त हो जाता है।[११७] मध्यकालीन कवियों ने आध्यात्मिक प्रेम के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विवाहों का चित्रण किया है। प्रायः इन्हें विवाहला, विवाह, विवाहलउ और विवाहला आदि नामों से जाना जा सकता है। विवाह भी दो प्रकार के मिलते हैं। रहस्यसाधकों की रहस्यभावना से जिन विवाहों का सम्बन्ध है उनमें जिन प्रभसूरि का 'अंतरंग विवाह'

अतिमनोरम है। सुमति और चेतन प्रिय-प्रेमी रूप हैं। अजयराज पाटणी ने शिवरमणी विवाह रचा जिसमें आत्मा वर (शिव) और मुक्ति वधू (रमणी) है। आत्मा मुक्ति वधू के साथ विवाह करता है।

बनारसीदास ने भगवान शान्तिनाथ का शिवरमणी से परिणय रचाया। परिणय होने के पूर्व ही शिवरमणी की उत्सुकता का चित्रण देखिये - कितना अनूठा है - री सखि, आज मेरे सौभाग्य का दिन है कि जब मेरा प्रिय से विवाह होने वाला है पर दु:ख यह है कि वह अभी तक नहीं आया। मेरे प्रिय सुख-कन्द है, उनका शरीर चन्द्र के समान है इसलिए मेरा आनंद मन सागर में लहरें ले रहा है। मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं जग में उनकी सुहावनी ज्योति फैली है, कीर्ति भी छायी है, वह ज्योति दु:ख रूप अन्धकार दूर करने वाली है, वाणी से अमृत झरता है। मुझे सौभाग्य से ऐसा पति मिल गया।[११८]

एक अन्य कृति अध्यात्मगीत में बनारसीदास को मन का प्यारा परमात्मा रूप प्रिय मिल जाता है। अत: उनकी आत्मा अपने प्रिय (परमात्मा) से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग में ऐसी तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली तड़पती है। मन में पति से मिलने की तीव्र उत्कंठा बढ़ती ही जाती है तब वह अपनी समता नाम की सखी से अपने मन में उठे भावों को व्यक्त करती है यदि मुझे प्रिय के दर्शन हो गये तो मैं उसी तरह मग्न हो जाऊंगी जिस तरह दरिया में बूंद समा जाती है। मैं अहंभाव को तजकर प्रिय से मिल जाऊंगी। जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है वैसे ही मैं अपने को प्रिय में लीन कर दूंगी।[११९] आखिरकार उसका प्रिय उसके अन्तर्मन में ही मिल गया और वह उससे मिलकर एकाकार हो गई। पहले उसके मन में जो दुविधा भाव था वह भी दूर हो गया।

दुविधाभाव का नाश होने पर उसे ज्ञान होता है कि वह और उसका प्रियतम एक ही है। कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से इस एकत्व भाव को और अभिव्यक्त किया है। वह और उसके प्रिय, दोनों की एक ही जाति है। प्रिय उसके घट में विराजमान है और वह प्रिय में। दोनों का जल और लहरों के समान अभिन्न सम्बन्ध है। प्रिय कर्ता है और वह करतूति, प्रिय सुख का सागर है और वह सुख सींव है। यदि प्रिय शिव मंदिर है तो वह शिवनींव, प्रिय बह्मा है तो वह सरस्वती, प्रिय माधव है तो वह कमला, प्रिय शंकर है तो वह भवानी, प्रिय जिनेन्द्र है तो वह उनकी वाणी है। इस प्रकार जहां प्रिय है - वहां वह भी प्रिय के साथ में है। दोनों उसी प्रकार से हैं - 'ज्यौं शशि हरि में ज्योति अभंग।'

जो प्रिय जाति सम सोइ। जातहिं जात मिलै सब कोइ ।।८।।
प्रिय मोरे घट, मैं पियमहिं। जलतरंग ज्यौं द्विविधा नाहिं ।।१९।।
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी में ज्ञानविभूति ।।२०।।
पिय सुखसागर मैं सुखसींव। पिय शिवमन्दिर मैं शिवनींव ।।२१।।
पिय ब्रह्म मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ।।२२।।
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलबानि ।।२३।।
जहं पिय तहं मैं पिय के संग। ज्यौं शशि हरि में जोति अभंग ।।२९।।[१२०]

कविवर बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैत भाव की स्थापना करते हुए रहस्यभावना की साधना की है। चेतन को देखते ही सुमति कह उठती है, चेतन, तुमको निहारते ही मेरे मन से परायेपन की गागर फूट गयी। दुविधा का अचल फट गया और शर्म का भाव दूर हो गया। हे प्रिय, तुम्हारा स्मरण आते ही मैं राजपथ को छोड़कर भयावह जंगल में तुम्हें खोजने निकल पड़ी। वहां हमने तुम्हें देखा कि तुम शरीर की नगरी के अंत: भाग में अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए भी

कर्मो के लेप में लिपटे हुये हो। अब तुम्हें मोह निद्रा को भंग कर और रागद्वेष को दूर कर परमार्थ प्राप्त करना चाहिए।

बालम तहुं तन चितवन गागरि फूटि ।
चरा गो फहराय सम गै छूटि, बालम ।।१।।
हमं तक रहूं जे सजनी रजनी घोर ।
घर करकेउ न जाने चहुदिसि चोर, बालम ।।२।।
पिउ सुधि पावत वन मैं पैसिउ पेलि ।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ।।३।।
काय नगरिया भीतर चैतन भूप ।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम ।।५।।
चेतन बूझि विचार घरहु सन्तोष ।
राग द्वेष दुइ बंधन छूटत मोष, बालम ।।१३।।[१२१]

पत्नी सुमति पति चेतन के वियोग में जल विन मीन के समान तड़पती है (वही, अध्यात्म गीत पृ. १५९-६०) और ऐसे मग्न होना चाहती है जैसे दरिया में बूंद समा जाती है। अपने ही अथक प्रयत्नों से वह अन्ततः प्रिय चेतन को पाने में सफल हो जाती है - पिय मेरे घट में पिय मांहि जलतरंग ज्यों दुविधा नाहीं (वही पृ. १६१)। इसलिए वह कह उठती है-देखो मेरी सखिन य आज चेतन घर आवे। (ब्रह्मविलास पद १४)। सतगुरु ने कृपा कर इस विछुरे कंत को सुमति से मिला दिया (हिन्दी पद संग्रह पद ३७९)।

साधक की आत्मा रूप सुमति के पास परमात्मा स्वयं ही पहुंच जाते हैं क्योंकि वह प्रिय के विरह में बहुत क्षीण काय हो गई थी। विरह के कारण उसकी बेचैनी तथा मिने के लिए आतुरता बढ़ती ही गई। उसका प्रेम सच्चा था इसलिए भटका हुआ पति स्वयं वापिस आ गया।

उसके आते ही सुमति के खंजन जैसे नेत्रों में खुशी छा गया। और वह अपने चपल नयनों को स्थिर करके प्रियतम के सौन्दर्य को निरखती रह गयी। मधुर गीतों की ध्वनि से प्रकृति भर गयी। अन्तः का भय और पाप रूपी मल न जाने कहाँ विलीन हो गये क्योंकि उसका परमात्मा जैसा साजन साधारण नहीं। वह तो कामदेव जैसा सुन्दर और अमृत रस जैसा मधुर है। वह अन्य बाह्य क्रियायें करने से प्राप्त नहीं होता। बनारसीदास कहते हैं कि वह तो समस्त कर्मो का क्षय करने से मिलता है।

म्हारे प्रगटे देव निरंजन ।
अटकौ कहां-कहां सिर भटकत कहां कहूं जन-रंजन ।।म्हारे०।।१।।
खंजन दृग, दृग नयनन गाऊं चाऊं चितवत रंजन ।
सजन घर अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय रंजन ।।म्हारे०।।
वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मंजन ।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करम षय खंजन ।।म्हारे०।।[१२२]

भूधरदास की सुमति अपनी विरह-व्यथा का कारण कुमति को मानती है और इसलिए उसे "जह्यो नाश कुमति कुलटा को, विरमायो पति प्यारो" (भूधरविलास, पद २९) जेसे दुर्वचन कहकर अपना दुःख व्यक्त करती है तथा आशा करती है कि एक न एक दिन काललब्धि आयेगी जब उसका चेतनराव पति दुरमति का साथ छोड़कर घर वापिस आयेगी (वही, पद ६९)।

जैन साधकों एवं कवियों ने रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने के लिए राजुल और तीर्थंकर नेमिनाथ के परिणय कथानक को विशेष रूप से चुना है। राजुल आत्मा का प्रतीक है और नेमिनाथ परमात्मा का। राजुल रूप आत्मा नेमिनाथ रूप परमात्मा से

मिलने के लिए कितनी आतुर है यह देखते ही बनता है। यहाँ कवियों में कबीर और जायसी एवं मीरा से कहीं अधिक भावोद्वेग दिखाई देता है। संयोग और वियोग दोनों के चित्रण भी बड़े मनोहर और सरस है।

भट्टारक रत्नकीर्ति की राजुल से नेमिनाथ विरक्त होकर किस प्रकार गिरिनार चले जाते हैं, यह आश्चर्य का विषय है कि उन्हें तो नेमिनाथ पर तन्त्र-मन्त्र मोहन का प्रभाव लगता है - ''उन पे तंत मंत मोहन है, वैसी नेम हमारो।'' सच तो यह है कि ''कारण कोउ पिया को न जाने।'' पिया के विरह से राजुल का संताप बढ़ता चला जाता है और एक समय आता है जब वह अपनी सखी से कहने लगती है - ''सखी री नेम न जानी पीर'' 'सखी को मिलावो नेम नरिन्दा' 'सखी री सावनि घटाई सतावे।'[१२३]

भट्टारक कुमुदचन्द्र और अधिक भावुक दिखाई देते हैं। असह्य विरह-वेदना से सन्तप्त होकर वे कह उठते हैं - सखी री अब तो रह्यो नहीं जात।[१२४] हेमविजय की राहुल भी प्रिय के वियोग में अकेली चल पड़ती है उसे लोक मर्यादा का बंधन तोड़ना पड़ता है। घनघोर घटायें छायी हुई हैं, चारों तरफ बिजली चमक रही है, पिउरे पिउ रे की आवाज पपीहा कर रहा है, मोरें कंगारें पर बैठकर आवाजें कर रही हैं। आकाश से बूंदें टपक रही हैं, राजुल के नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लग जाती है।[१२५] भूधरदास की राजुल को तो चारों ओर अपने प्रिय के बिना अंधेरा दिखाई देता है। उनके बिना उसका हृदय रूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है। इस वेदना को वह अपनी मां से भी व्यक्त कर देती है, सखी तो ठीक ही है - ''बिन पिय देखें मुरझाय रह्ययो हे, उर अरविन्द हमारो री।।[१२६] राजुल के विरह की स्वाभाविकता वहां और अधिक दिखाई देती है जहां वह अपनी सखी से कह उठती है - ''तहाँ ले चल री

जहाँ जादौपति प्यारो। ''नमि बिना न रहै मेरी जियरा, मां विलंबन लाव पठाव तहां दी जहाँजगपति पिय प्यारौ' ?[१२७]

जगतराम ने ''सखी री बिन देखे रह्यौ न जाय'' और द्यानतराय ने 'तै देखे नेमिकुमार' कहकर राजुल की आंतरिक वेदना में समरातस का सिंचन कर दिया। उनकी राजुल अपनी सखिसे नेमिनाथ के साथ मिलाने का आग्रह करती है - एरी सखि नेमिजी को मोहि मिलावो ''और कहती है - ''सुनरी सखि, जहाँ नेमि गये तहां मो कहँ ले पहुंचावे री हां'' (द्यानत पद संग्रह, २०८)। पर उसे जब यह समझ में आ जाता है कि नेमिनाथ तो वैरागी हैं मुक्ति गामी हैं, तो वह कहने लगती है कि उनसे मिलना तभी सम्भव है जब वह भी वैरागिन हो जाय -

पिय वैराग्य लियो है किस मिस देखन जाऊँ ।
ब्याहन आये पशु छुटकाये तजि रथ जनपुर गाऊँ ।
मैं सिंगारी वे अविकारी ज्यौं नम मुठिय समाऊँ ।
द्यानत जो गिनि ह्वै विरमाऊँ कृपा करैं निज ठाऊँ ।।
(वही, पद १९१)

इस सन्दर्भ में पंच सहेली गीत का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें छीहल ने मालिन, तम्बोलनी, छीपनी, कलालनी और सुनारिन नामक पांच सहेलियों को पांच जीवों के रूप में व्यंजित किया है। पांचों जीव रूप सहेलियों ने अपने-अपने प्रिय (परमात्मा) का विरह वर्णन किया है। जब उन्हें ब्रह्मरूप पति की प्राप्ति नहीं हो पाती हैं तो वे उसके विरह से पीडित हो जाती है। कुछ दिनों के बाद प्रिय (ब्रह्म) मिल जाता है। उससे उन्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। उनका प्रिय मिलन ब्रह्म मिलन ही है। पति के मिलन होने पर उनकी

सभी आशाएँ पूर्ण हो गयीं। पति के साथ समत्व आलिंगन साधक जीव जब ब्रह्म से मिलता है तो एकाकार हुए बिना नहीं रहता। इसी को परमसुख की प्राप्ति कहते हैं। ब्रह्म मिलन का चित्रण दृष्टव्य है :-

चोली खोल तम्बोलनी काढया गात्र अपार ।
रंग किया बहु प्रीयसुं नयन मिलाई तार ।।[१२८]

भैया भगवतीदास का 'लाल' उनसे कहीं दूर चला गया इसलिए उसको पुकारते हुए वे कहते हैं - हे लाल, तुम किसके साथ घूम रहे हो ? तुम अपने ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते ? तुमने अपने अन्तर में झांक कर कभी नहीं देखा कि वहाँ दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर नारियाँ तुम्हारे लिए खड़ी हुई हैं। वे अनुपम रूप सम्पन्न हैं।

कहां-कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में ।
नेकहु बिलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी-कैसी नीकि नारी ठाड़ी है टलह में ।
एक ते एक बनी, सुन्दर स्वरूप धनी,
उपमा ने जाय बाम की चहल में ।[१२९]

महात्मा आनन्दघन की आत्मा भी अपने प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है। इसी स्थिति में कभी वह मान करती है तो कभी प्रतीक्षा, कभी उपालम्भ देती है तो कभी भक्ति के प्रवाह में बहती है, कभी प्रिय के वियोग में सुध-बुध खो देती है - ''पिया बिन सुधि-बुधि भूली हो।'[१३०] विरह-भुंजग उसकी शैय्या को रात भी खूंदता रहता है, भोजन-स्नान करने की तो बात की क्या ? अपनी इस दशा का वर्णन किससे कहा जाय ?[१३१] उसका प्रिय इतना अधिक निष्ठुर

हो जाता है कि वह उपालम्भ दिये बिना नहीं रहती। वह कहती है कि मैं मन, वचन और कर्म से तुम्हारी हो चुकी, पर तुम्हारी यह निष्ठुरता और उपेक्षा क्यों ? तुम्हारी प्रवृत्ति फूल-फूल पर मंडराने वाले भ्रमर जैसी है तो फिर हमारी प्रीति का निर्वाह कैसे हो सकता है ? जो भी हो, मैं प्रिय से उसी प्रकार एकाकार हो चुकी हूँ जिस प्रकार पुष्प में उसकी सुगन्ध मिल जाती है। मेरी जाति भले ही निम्न कोटि की हो पर अब तुम्हें किसी भी प्रक्रार के गुण-अवगुण का विचार नहीं करना चाहिए।

पिया तुम निठुर भए क्यूं ऐसे ।
मैं मन बच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनैसैं ।।
फूल-फूल भंवर कैसी भाउंरी भरत ही निबहै प्रीति क्यूं ऐसे ।
मैं तो पियतें ऐसि मिली आली कुसुम वास संग जैसे ।
ओछी जात कहा पर ऐती, नीर न हैयै भैसें ।
गुन अवगुन न विचारी आनन्दघन, कीजियै तुम हो तैसे।।[१३२]

"सुहागण जागी अनुभव प्रीति" में पगी और अन्त:करण में अध्यात्म दीपक से जगी आनन्दघन की आत्मा एक दिन सौभाग्यवती हो जाती है। उसे उसका प्रिय (परमात्मा) मिल जाता है। अतएव वह सौलहों श्रृंगार करती है। पहनी हुई झीनी साड़ी में प्रीति का राग झलक रहा है। भक्ति की मेंहदी लगी हुई है, शुभ भावों का सुखकारी अंजन लगा हुआ है। सहजस्वभाव की चूड़ियाँ और स्थिरता का कंकन पहन लिया है, ध्यान की उर्वशी को हृदय में रखा और प्रिय की गुणमाला को धारण किया। सुरति के सिन्दूर से मांग संवारी, निरति की वेणी सजाई। फलत: उसके हृदय में प्रकाश की ज्योति उदित हुई। अन्त:करण में अजपा की अनहद ध्वनि गुंजित होती है और अविरल आनन्द की सुखद वर्षा होने लग जाती है।

आज सुहागन नारी अवधू आज ।
मेरे नाथ आप सुध, कीनी निज अंगचारी ।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीरी सारी ।
मंहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी ।
सहज सुभाव चुरी मैं पैन्ही, थिरता कंकन भारी ।
ध्यान उरबसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी ।
सुरत सिन्दूर मांग रंगराती, निरतै बैनि समारी ।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन आरसी केवलकारी ।
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी ।
झड़ी सदा आनन्दघन बरसत, बन मोर एकनतारी ।।[१३३]

जैन साधकों ने एक और प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन किया है। साधक जब अनगार दीक्षा लेता है तब उसका दीक्षा कुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है। आत्मा रूप पति का मन शिवरमणी रूप पत्नी ने आकर्षित कर लिया 'शिवरमणी मन मोहियो जी जेठै रहे जी लुभाव।'[१३४]

कवि भगवतीदास अपनी चूनरी को अपने इष्ट देव के रंग में रंगने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। उसमें आत्मा रूपी सुन्दरी शिव रूप प्रीतम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। वह सम्यक्त्व रूपी वस्त्र को धारण कर ज्ञान रूपी जल के द्वारा सभी प्रकार का मल धोकर सुन्दरी शिव से विवाह करती है । इस उपलक्ष्य में एक सरस ज्योंनार होती है जिसमें गणधर परोसने वाले होते हैं जिसके खाने से अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

तुम्ह जिनवर देहि रंगाई हो, विनवड़ सषी पिया शिव सुन्दरी ।
अरुण अनुपम माल हो मेरो भव जलतारण चूंनड़ी ।।२।।
समकित वस्त्र विसाहिले ज्ञान सलिल सग सेइ हो ।

मल पचीस उतारिकै, दिढिपन साजी देइ जी ।।मेरी. ३।।
बड़ जानी गणधर तहां भले, परोसण हार हो ।
शिव सुन्दरी के बयाह कौं, सरस भई ज्योंणार हो ।।३०।।
मुक्ति रमणि रंग त्यौं रमैं, वसु गुणमंडित सेइ हो ।
अनन्त चतुष्टय सुख घणां जन्म मरण नहिं होइ हो ।।३२।।[१३५]

४. आध्यात्मिक होली

जैन साधकों और कवियों ने आध्यात्मिक विवाह की तरह आध्यात्मिक होलियों की भी सर्जना की है। इसको फागु भी कहा गया है। यहां होलियों और फागों में उपयोगी पदार्थो (रंग, पिचकारी, केशर, गुलाल, विवध वाद्य आदि) को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यंजित कया गया है। इसके पीछे आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार से सम्बद्ध आनन्दोपलब्धि करने का उद्देश्य रहा है। यह होली अथवा फाग आत्मा रूपी नायक शिवसुन्दरी रूपी नायिका के साथ खेलता है। कविवर बनारसीदास ने 'अध्यातम फाग' में अध्यातम बिन क्यां पाइये हो, परम पुरुष कौ रूप। अधट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा अगम अनूप की भावना से वसन्त को बुलाकर विविध अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से फाग खेली और होलिका का दहन किया 'विषम विरस' दूर होते ही 'सहज वसन्त' का आगमन हुआ। 'सुरुचि-सुगंधिता' प्रकट हुई। 'मन-मधुकर' प्रसन्न हुआ। 'सुमति-कोकिला' का गान प्रारम्भ हुआ। अपूर्व वायु बहने लगी। 'भरम-कुहर' दूर होने लगा। 'जड-जाडा' घटने लगा। माया-रजनी छोटी हो गई। समरस-शशि का उदय हो गया। 'मोह-पंक की स्थिति कम हो गई। संशय-शिशिर समाप्त हो गया। 'शुभ-पल्लवदल' लहलहा उठे।

'अशुभ पतझर' होने लगी। 'मलिन-विषयरति दूर हो गई, 'विरति-बेलि' फैलने लगी, 'शशिविवेक निर्मल हो गया, थिरता-अमृत हिलोरे लेने लगा शंकित सुचन्द्रिका फैल गई, 'नयन-चकोर' प्रमदित हो उठे, सुरति-अग्निज्वाला' भवक उठी समकित सूर्य उदित हो गया, 'हृदय-कमल' विकसित हुआ, 'सुयश-मकरन्द' प्रगट हो गया, दृढ़ कषाय हिमगिरि जल गया, 'निर्जरा-नदी में धारणाधार 'शिव-सागर' की ओर बहने लगी वितथ वात प्रभूता मिट गई, यथार्थ कार्य जाग्रत हो गया, वसन्तकाल में जंगल भूमि सुहावनी लगने लगी।[१३६]

बसन्त ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की और पूरी तरह से झुक गयी। कवि ने फिर यहां फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म क्षेत्र से किया। 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान ध्यान' उफताल बन गया, 'पिचकारी पद भी साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ-भाव भक्ति तान' में 'राग विराम' अलापने लगा, परम रस में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा।[१३७] दया की रस भरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर पान खाकर निर्लज्ज होकर गुप्ति-अंग प्रकट होने लगा, अकथ-कथा प्रारम्भ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिलकर अमल विमल रसप्रेम में सुरति की तरंगें हिलोरने लगीं। रहस्यभावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परम ज्योति प्रगट हुई। अष्ट कर्म रूप काष्ठ जलकर होलिका की आग बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्ज्वल हो गया। इसके उपरान्त फाग का खेल बन्द हो जाता है, फिर तो मोहपाश के नष्ट होने पर सहज आत्मशक्ति के साथ खेलना प्रारम्भ हो जाता है -

'नय पंकति चाचरि मिलि हो ज्ञान ध्यान डफताल ।
पिचकारीपद साधना हो संवर भाव गुलाल ।। अध्यातम०।।११।।
राग विराम अलापिये हो भावभगति थुमतान ।
रीझ परम रसलीनता दीजे दश विधिदान ।।अध्यातम०।।१२।।
दया मिठाई रसभरी हो तप मेवा परधान ।
शील सलिल अति सीयलो हो संजम नागर पान ।।अध्यातम०।।१३।।
गुपति अंग परगासिये हो यह निलज्ञता रीति ।
अकथ कथा मुख भाखिये हो यह गारी निरनीति ।।अध्यातम०।।१४।।
उद्धत गुण रसिया मिले हो अमल विमल रस प्रेम ।
सुरत तरंगमह छकि रहे हो, मनसा वाचा नेन ।।अध्यातम०।।१५।
परम ज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग ।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई ततार्ई भाग ।।अध्यातम०।।१६।।
प्रकृति पचासी लगि रही हो, भस्म लेख है सोय ।
न्हाय धोय उज्ज्वल भये हो, फिर तहं खेल न कोय ।।अध्यातम०।।१७।।
सहज शक्ति गुण खेलिये हो चेत बनारसीदास ।
सगे सखा ऐसे कहे हो, मिटे मोह दधि फास।।अध्यातम०।।१८।।[१३८]

जगतराम ने जिन-राजा और शुद्ध परिणति-रानी के बीच खेली जाने वाली होली का मनोरम दृश्य उपस्थित किया है। वे स्वयं उस रंग में रंग गये हैं और होली खेलना चाहते हैं पर उन्हें खेलना नहीं आ रहा है - कैसे होरी खेली खेलि न आवै। क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चपल हो गया। ब्रह्म ही एक ऐसा अक्षर है जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है।[१३९] उन्होंने एक अन्यत्र स्थान पर 'सुध बुध गोरी' के साथ 'सूरुचि गुलाल' लगाकर फाग भी खेली है। उनके पास 'समताजल' की पिचकारी है जिससे 'करुणा-केसर' का गुण छिटकाया है। इसके बाद अनुभव की पान-सुपारी और सरस रंग लगाया।

सुध बुध गोरी संग लेय कर, सुरुचि गलाल लगा रे तेरे ।
समता जल पिचकारी, करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे ।।
अनुभव पानि सुपारी चरचानि, सरस रंग लगाय रे तेरे ।
राम कहे जै इह विधि पेले, मोक्ष महल में जाप रे ।।[१४०]

द्यानतराय ने होली का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज वसन्तकाल में होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा रूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा रूप पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान, रूप, डफ, ताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोर लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियाँ चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है - तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है, तुम किसके लड़के हो ? बाद में होली के रूप में अष्ट कर्म रूप ईंधन को अनुभव रूप अग्नि में जला देते हैं और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है इसी शिवानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है।[१४१]

जिस समय सारा नगर होली के खेल में मस्त है, सुमति अपने पति चेतन के अभाव में खेद खिन्न है। उसे इस बात का अन्यन्त दुःख है कि उसका पति अपनी सौत कुमति के साथ होली खेल रहा है। इसलिए सोचती है 'पिया विन कासो खेलों होरी' (द्यानत पद संग्रह, पद १९३)। संयोग वश चेतनराय घर वापिस आते हैं और सुमति तल्लीन होकर उनके साथ होली खेलती है - भली भई यह होरी आई आये चेतनराय (वही, पद १९३)।

इसी प्रकार वे चेतन से समता रूप प्राणप्रिया के साथ 'छिमा

वसन्त' में होली खेलने का आग्रह करते हैं। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोलकर ज्ञान-ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदंग है, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चौला है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोली में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है -

चेतन खैलौ होरी ।।
समता भूमि छिमा वसन्त में, समता प्रान प्रिया संग गौरी ।।१।।
मन को माट प्रेम को पानी, तामें करुना केसरघोर,
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में छारै होरा होरी ।।२।।
गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों, डफ ताल टकोरी,
संजम अतर विमल व्रत चौवा, भाव गुलाल भरै भर झोरी ।।
धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी,
द्यानत सुमनि कहें सखियन सों, चिर जीवो यह जुग जुग जोरी ।।[१४२]

इसी प्रकार कविवर भूधरदास का भी आध्यात्मिक होली का वर्णन देखिये -

''अहो दोऊ रंग भरे खेलत होरी ।।१।।
अलख अमूरति की जोरी ।।
इनमें आतमराम रंगीले, उतते सुबुद्धि किसोरी ।
या के ज्ञान सखा संग सुन्दर, वाके संग समता गौरी ।।२।।
सुचि मन सलिल दया रस केसरि, उदै कलस में घोरी ।
सुधि समझि सरल पिचकारी, सखिय प्यारी भरि भरि छोटी ।।३।।

सतगुरु सीख तान घर पद की, गावत होरा होरी ।
पूरव बंध अबीर उड़ावत, दान गुलाल भर झोरी ।।४।।
भूधर आज बड़े भागिन, सुमति सुहागिन मोरी ।
सौ ही नारि सुलछिनी जन में, जासों पति ने रनि जोरी ।।५।।[१४३]

एक अन्य कृति में भूधरदास अभिव्यक्त करते हैं, कि उसका चिदानन्द जो अभी तक संसार में भटक रहा था, घर वापिस आ गया है। यहां भूधर स्वयं को प्रिया मानकर और चिदानन्द को प्रीतम मानकर उसके साथ होली खेलने का निश्चय करते हैं - ''होरी खेलूंगी घर आये चिदानन्द''। क्योंकि मिथ्यात्व की शिशिर समाप्त हो गई, काललब्धि का पसन्त आया, बहुम समय से जिस अवसर की प्रतीक्षा थी, सौभाग्य से वह समय आ गया, प्रिय के विरह का अन्त हो गया अब उसके साथ फाग खेलना है। कवि ने यहां श्रद्धा को गगरी बनाया उसमें रुचि का केशर घोला, आनन्द का जल डाला और फिर उमंग भी प्रिय पर पिचकारी छोड़ी कवि अत्यन्त प्रसन्न है उसकी कुमति रूप सौत का वियोग हो गया। वह चाहता है कि इसी प्रकार सुमति बनी रहे -

'होरी खेलूंगी घर आए चिदानन्द ।
गिरा मिथ्यात गई अब, आई काल की लब्धि वसंत ।।होरी।।
पीय संग खेलनि कों, हय सइये तरसी काल अनन्त ।।
भाग जग्यो अब माग रचनौ, आयो विरह को अंत ।।
सरधा गागरि में रुचि रूपी केसर घोरी तुरन्त ।।
आनन्द नीर उमंग पिचकारी, छोडूंगी नीकी भंत ।।
आज वियोग कुमति सोननिकों, मेरे हरष अनन्त ।।
भूधर धनि एही दिन दुर्लभ सुमति राखी विहसंत ।।[१४४]

नवलराम ने भी एसी ही होली खेलने का आग्रह किया है। उन्होंने निज परणति रूप सुहागनि और सुमतिरूप किशोरी के साथ यह खेल खेलने के लिए कहा है। ज्ञान का जल भरकर पिचकारी छोड़ी, क्रोध मान का अबीर उड़ाया, राग गुलाल की झोरी ली, संतोष पूर्वक शुभ भावों का चन्दन लिया, समता की केसर घोरी आत्मा की चर्चा की, 'मगनता' का त्यागकर करुणा का पान खाया और पवित्र मन से निर्मल रंग बनाकर कर्म मल को नष्ट किया।[१४५] एक अन्यत्र होली में वे पुनः कहते हैं - ''अैसे खेल होरी को खेलिरे'' जिसमें कुमति ठगौरी को त्यागकर सुमति-गोरी के साथ होली खेल।'' आगे नवलराम यह भाव दर्शाते हैं कि उन्होंने इसी प्रकार होली खेली जिससे उन्हें शिव पेढी का मार्ग मिल गया।

जैसे खेल होरी कौ खेलिरे ।।
कुमति ठगोरी कौं अब तजि करि, तु साथ सुमति गोरी को ।।
नवल हसी विधि खेलत है, ते पावत हैं मग शिव पौरी को ।।[१४६]

बुधजन भी चेतन को सुमति के साथ होली खेलने की सलाह देते हैं - 'चेतन खेल सुमति रंग होरी।' कषायादि को त्यागकर, समकित की केशर घोलकर मिथ्या की शिल को चूर-चूरकर निज गुलाल की झौरी धारणकर शिव-गोरी को प्राप्त करने की बात कही है।[१४७] कवि को विशुद्धात्मा की अनुभूति होने पर यह भी कह देते है -

निजपुर में आज मची होरी ।
उमगि चिदानन्द जी इत आये, इत आई सुमती गोरी ।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी ।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचुकी छोरी ।

गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसौं वरस्यो री ।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यौ ख्याल अनोखी री ।[१४८]

सर्वत्र होली देखकर सुमनि परेशान हो कह उठती है - 'और सबै मिलि होरि रचावें हूं, करके संग खेलूंगी होरी' (बुधजन विलास, पद ४३)। इसलिए बुधजन 'चेतन खेलसमुति संग होरी कहकर सत्गुरु की सहायता से चेतन को सुमति के पास वापस आने की सलाह देते हैं - (बुधजन विलास, पद ४३)। आध्यात्मिक रहस्य भावना से ओतप्रोत होने पर कवि का चेतनराय उसके घर वापस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है - 'अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलूंगी मैं होरी। कुमति को दूरकर सुमति को प्राप्त करता है, निज स्वभाव के जल से हौज भरकर निजरंग की रोरी घोलता है, शुद्ध पिचकारी लेकर निज मित पर छिड्कता है और अपनी अपूर्व शक्ति को पहचान लेता है -

अव घर आये चेतनराय, सजनी खेलांगी में होरी ।।
आरस सोच कानि कुल हरिकै, घरि धीरज बरजोरी ।
बुरी कुमति की बात न बूझै, चितवत हैं मोओरी,
वा गुरुजन की बलि-वलि जाऊं, दूरि करी मति भोरी ।।
निज सुभाव जल हौज भराऊं, घोरुं निजरंग रोरी ।
निज त्यौं ल्याय शुद्ध पिचकारी, छिरकन निज मति दोरी ।।
गाय रिझाय आप वश करिकैं, जावन द्यौं नहि पौरी ।
बुधजन रचि मति रहूं निरंतर, शक्ति अपूरब मोरी सजनी ।।[१४९]

दौलतरामजी का मन भी ऐसी हो होली खेलता है। उन्होंने मन के मृदंग सजाकर, तन को तंबूरा बनाकर, सुमति की सारंगी बजाकर,

सम्यक्त्व का नीर भरकर करुणा की केशर घोलकर ज्ञान की पिचकारी से पंचेन्द्रिय-सखियों के साथ होली खेली। आहारादिक चतुर्दान की गुलाल लगाई, तप के मेवा को अपनी झोली में रखकर यश की अबीर उड़ाई और अंत में भव-भव के दु:खों को दूर करने के लिए 'फागुआ शिव होरी' के मिलन की कामना करते हैं।[१५०] कवि ने इसी प्रसंग में बड़े ही सुन्दर ढंग से यह बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव कर्मो की होली किस प्रकार खेलता है -

ज्ञानी ऐसी होली मचाई।।
राग कियो विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति सुहाई।
धार दिगम्बर कीन्ह सु संवर निज परभेद लखाई।
घात विषदिनकी बचाई।। ज्ञानी ऐसी.।।१।।
कुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तन में तान उडाई।
कुम्भक ताल मृदंगसों पूरक रेचकबीन बजाई।
लगन अनुभव सौं लगाई।।ज्ञानी ऐसी.।।२।।
कर्म बतीता रसानाम धरि वेद सुइन्द्रि गनाई।
दे तप अग्नि भसम करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई।
करी शिव तिय की तिताई।।ज्ञानी.।।३।।
ज्ञान को फाग भाग वश आवै लाख करौ चतुराई।
सो गुरु दीनदयाल कृपा करि दौलत तोहि बताई।
नहीं चित्त से विसराई, ज्ञानी ।।४।।[१५१]

५. पंच - कल्याणक

विवाह, फागु और होलियों के साथ ही जैन साधकों ने अपने

इष्टदेव के पंच-कल्याणकों का भी काव्यमय आध्यात्मिक वर्णन किया है। परम्पराओं को काव्यमाला में गूंथ देना उनकी विशेषता है। देवी-देवताओं द्वारा भगवान के माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा, अर्चा-पूजा, उनके गर्भ में आते ही प्रारम्भ कर दी जाती है। जन्म होने पर कुबेर द्वारा निर्मित मायामयी ऐरावत पर बैठकर इन्द्र-इन्द्राणी भगवान के माता-पिता के पास आते हैं और मायामयी बालक को मां के पास लिटाकर भगवान को पांडुक शिला पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से स्नान करते हैं। इसी तरह दीक्षा तप और निर्वाण का वर्णन भी जैन कवियों ने पारम्परिक मान्यताओं के साथ काव्यमयी वाणी में किया है। भूधरदास उसे वचनमगोचर मानते हैं - कहि थकैं लोक लख जीभ न सके वरन (भूधरविलास, पद ३९) और दौलतराम तृप्त होकर मुक्ति राह की ओर बढ़ते हैं - 'दौलत नाहि लखे चख तृप्तहि सूझत शिववटवा' (दौलत विलास, पद ३९)। कविवर बनारसीदास ने शुद्धोपयोग को मलू नक्षत्र में उत्पन्न 'बेटा' का रूप देकर बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालक परिवार के विनाश का कारण होता है उसी प्रकार शुद्धोपयोग के उत्पन्न होने पर ममता, मोह, लोभ, काम, कोध आदि सारे विकार भाव ध्वस्त हो जाते हैं।

'मूलन बेआ जायो रे साधौ, जानै खोज कुटुम्ब सब खायो रे साधो।
जनमत माता ममता खाइ लोक व दोई भाई।।
काम, क्रोध दोई काका खाये, खाई तृषना दाई।
पापी पाप परोसी खायो अशुभ, करम दोई मामा।
मान नगर कौ राजा खायो, फैल परौ सब गामा।।
दुरमति दादी खाई दादौ, मुख देखत ही मूओ।
मंगलाचार बजाये बाजे, जब यो बालक हुओ।

नाम धरयौ बालक कौं भौंदू, रूप वरन कूछू नाहीं।
नाम धरतैं पांडे खये, कहत बनारसी भाई।
(बनारसीविलास, पृ. २३८)

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी के जैन साधकों द्वारा लिखित विवाह, फागु और होलियां आदि आध्यात्मरस से सिक्त ऐसी दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें एक ओर उपमा, उत्पेक्षा, रूपक, प्रीक आदि के माध्यम से जैन दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर तात्कालीन परम्पराओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। दोनों के समन्वित रूप से साहित्य की छटा कुछ अनुपम-सी प्रतीत होती है। साधक की रहस्यभावना की अभिव्यक्ति का इसे एक सुन्दर माध्यम कहा जा सकता है। विशुद्धावस्था की प्राप्ति, चिदानन्द चैतन्यरस का पान, परम सुख का अनुभव तथा रहस्य की उपलब्धि का भी परिपूर्ण ज्ञान इन विधाओं से झलकता है।

जैन साधकों की रहस्य-साधना में भक्ति, योग सहज भावना और प्रेमभावना का समन्वय हुआ है। इन सभी मार्गो का अवलम्बन लेकर साधक अपने परम लक्ष्य पर पहुंचा है और उसने परम सत्य के दर्शन किये हैं। उसके और परमात्मा के बीच बनी खाई पट गई है। दोनों मिलकर वैसे ही एकाकार और समरस हो गये जैसे जल और तरंग। यह एकाकारता भक्त साधक के सहज स्वरूप का परिणाम है जिससे उसका भावभीना हृदय सुख-सागर में लहराता रहता है और अनिर्वचनीय आनंद का उपभोग करता रहता है।

अष्टम परिवर्त

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

जैसा हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, रहस्यभावना अध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में एक ऐसा असीमित तत्त्व है जिसमें संसार से लेकर संसार से विनिर्मुक्त होने की स्थिति तक साधक अनुचिन्तन और अनुप्रेक्षण करता रहता है। प्रस्तुत अध्याय में हम रहस्यभावना के प्रमुख बाधक तत्त्वों से लेकर साधक तत्त्वों और रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में हमने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के जायसी कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि जैसे रहस्यवादी जैनेतर कवियों के विचार देखे हैं और उनके तथा जैन कवियों के विचारों में साम्य-वैषम्य खोजने का भी प्रयत्न किया है।

१. साधना मूलक रहस्यभावना

१. साधक बाधक तत्त्व - १. बाधक तत्त्व

१. संसार-चिन्तन

संसार की क्षणभंगुरता और अनित्यशीलता पर सभी आध्यात्मिक सन्तों ने चिन्तन किया है। संसार का अर्थ है संसरण अर्थात् जन्म-मरण। यह जन्म-मरण शुभाशुभ कर्मो के कारण होता है - 'एवं भवसंसारइ सुहासु होहिं कम्मेहिं।'[1] उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम आदि ग्रन्थों में एतत् सम्बन्धी अनेक उदाहरण मिलते हैं। आचार्यो ने शरीर और सांसारिक विषयों को मोह का कारण माना है

उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि जिस प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है उसी प्रकार सभी आत्मीय जन भी बिछुड़ जाते हैं। माता-पिता, पत्नी, पुत्र, भाई आदि सभी लोक मृत व्यक्ति को जलाकर रोते-चिल्लाते वापिस चले जाते हैं परन्तु उसके साथ जाता कोई नहीं।[२] जगजीवन ने इसलिए संसार को 'धन की छाया'[३] बताकर पुत्र, कलत्र, मित्र आदि को 'उदय पुद्गल जुरि आया' कहा है। कबीर ने उसे सेमर के फूल-सा[४] और दादू ने उसे सेमर के फूल तथा बकरी की भांति कहकर[५] खण्ड-खण्ड वांटी जाने वाली पांखरी[६] बताया है। जायसी ने संसार को स्वप्नवत्, मिथ्या और मायामय बतलाया है।[७] सूर ने इसी तथ्य को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया है :-

जा दिन मन पंछी उड़ि जै है ।
जिन लौगन सौ नेह करत हैं तेई देखि धिनै हैं ।
घर के कहत सकारे काठी भूत होई धरि खैहैं।[८]

नानक ने भी 'आध घड़ी कोऊ नहिं राखत धर तैं देत निकार'[९] कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है। जैन कवियों ने तो अनित्य भावना के माध्यम से इसे और भी अधिक तीव्र स्वर दिया है।[१०] पं. दौलतराम ने इस भौतिक पदार्थो के स्वभाव को 'सुरधनु चपला चपलाई कहा है।'[११]

तुलसीदास ने भी संसार की असारता को निम्न शब्दों में चित्रित किया है-

में तोहि अब जान्यौ, संसार ।
बांधि न सकहि मोंहि हरि के बल प्रगट कपट-आगार ।।
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए विचार ।
ज्यों बदली तरु मध्य निहारत कबहू न निकसत सार ।।

तेरे लिए जन्म अनेक में फिरत न पायों पार ।
महो मोह-मृग जल सरिता महं बोरयो हों बारहिं बार ।।[१२]

इसी प्रकार सूर ने भी संसार को सेंमल के समान निस्सार और जीव को उस पर मुग्ध होने वाले सुआ के समान कहा है -

रे मन मूरख जनम गंवायौं ।
करि अभिमान विषय रस गीध्यौ, स्याम सरन नहिं आयौ ।।[१३]
यह संसार सुआ सेमर ज्यौं, सुन्दर देखि लुभायी ।
चाखन लाग्यौ कई गई उड़ि, हाथ कछू नहिं आयौ ।।

द्यानतराय ने उसे 'झूठा सुपना यह संसार। दीसत है ञ्जिसत नहीं हो बार''[१४] कहा और भूधरदास ने उसे 'रैन का सपना' तथा 'वारि-बबूल' माना।[१५] जगजीवन ने धन 'धन की छाया' के साथ ही राग-द्वेष को 'वगु पंकति दीरध' कहा। बनारसीदास ने तो संसार के स्वभाव को नदी-नाव का संयोग जेसा चित्रित किया है -

चेतन तू तिंहुकाल अकेला ।
तदी नाव संयोग मिले ज्यों त्यों कुटुम्ब का मेला ।
यह संसार असार रूप सब ज्यों पटखेलन खेला ।
सुख सम्पत्ति शरीर जल बुद बुद विनसत नाही बेला ।।[१६]

इसी भाव से मिलता-जुलता सूर का पद भी दृष्टव्य है :-

हरि बिन अपनौ कौ संसार ।
माया लोभ मोह हैं छांडे काल नदी की धार ।
ज्यौं जन संगति होत नाव में रहिति न परलै पार ।
तैसैं धन-दारा-सुख सम्पत्ति, विछुरत लगै न बार ।
मानुष-जनम नाम नरहरि कौ, मिलै न बारम्बार ।।[१७]

एक अन्यत्र पद में सूरदास संसार और संसार की माया को मिथ्या मानते हैं -

'मिथ्या यह संसार और और मिथ्या यह माया
मिथ्या है यह देह कहौ क्यौं हरि विसराया'।[१८]

जैन कवि बनारसीदास जन्म गंवाने के कारणों को भी गिना देते हैं। उनके भावों में जो गहराई और अनुभूति झलकती है वह सूर के उक्त पद्य में नहीं दिखाई देती है -

वा दिन को कर सोच जिये मन में ।।
अनज किया व्यापारी तूने, टांडा लादा भारी रे ।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ।।....
झूठे नैना उलफत बांधी, किसका सोना किसकी चांदी।।
इक दिन पवन चलेगी आंधी किसकी बीबी किसकी बांदी।।
नाहक चित्त लगावे धन में।[१९]

२. शरीर से ममत्व

साधकों ने शरीर की विनश्वरता पर भी विचार किया है। वाल्यावस्था और युवावस्था यों ही निकल जाती है, युवावस्था में वह विषय वासना की ओर दौड़ता है और जब वृद्धावस्था आ जाती है तब वह पश्चात्ताप करता है कि क्यों वह अध्यात्म की ओर से विमुख रहा। कबीर ने वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है -

तरुनापन गइ बीत बुढ़ापा आनि तुलाने ।
कांपन लागे सीस चलत दोउ चरन पिराने ।
नैन नासिका चूवन लागे मुखतें आवत वास ।
कफ पित कठे घेरि लियो है छूटि गई घर की आस ।।[२०]

सूर ने भी इन्द्रियों की बढ़ती हुई कमजोरी का इसी प्रकार वर्णन किया है -

बालापन खेलत खोयो, जुआ विषय रस माते।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी, मो को, दुखित पुकारत तातें।
सुतन तज्यो त्रिय भ्रात तज्यो सब, तनतें तुचा भई न्यारी।
श्रवन न सुनत चरन गति थाकी, नैन बहे जलधारी।
पलित केस कण्ठ अब रुंध्यो कल न परै दिन राती।।[२१]

बनारसीदास ने जीवन को ग्यारह अवस्थाओं में विभाजित किया है और प्रत्येक अवस्था की अवधि दस वर्ष मानी है।[२२] भूधरदास ने वृद्धावस्था को जीर्णशीर्ण चरखे की उपमा देकर उसे और भी मार्मिक बना दिया- चरखा चलता नाही (रे) चरखा हुआ पुराना (वे)।[२३] दादू ने कबीर और सूर के समान श्रवण, नयन और केस की थकान की बात की पर उन्होंने शब्द-कंपन का विशेष वर्णन किया - 'मुख ते शबद निकल भइ वाणी''[२४] भूधरदास ने तो दादू के चित्रण को भी मात कर दिया जहाँ वे कहते हैं -

रसना तकली ने बल खाया, सो अब केसे खूटै ।
शबद सूत सुधा नहिं निकसै घड़ी घड़ी पल टूटै ।[२५]

एक अन्य चित्रण में उन्होंने शरीर की जीर्णावस्था का यथार्थ चित्रण देकर अन्त में 'यह गति है। जब तक पछतै है प्राणी' कहकर पश्चात्ताप की बात कही है।[२६] इसी प्रकार के पश्चात्ताप की बात दादू ने 'प्राण पुरिस पछितावण लगा। दादू औसर कहै न जागा''[२७] कहकर की और कबीर ने 'कहै एक राम भजन विन बूड़े बहुत बहुत संयान्त''[२८] लिखकर उसे व्यक्त किया। दौलतराम ने सुन्दरदास के समान ही शरीर की अपवित्रता का वर्णन किया है। उन्होंने उसे 'अस्थिनाल पलनसाजाल की लाल-लाल जल क्यारी'' बताया[२९] और सुन्दरदास ने ''हाथ पांव सोऊ सब हाड़न की नली है'' कहा।[३०]

शरीर की विनश्वरता के सन्दर्भ में सोचते-सोचते साधक संसार की क्षणभंगुरता पर चिन्तन करने लगता है। जैन-जैनेतर साधकों ने एक स्वर से जीवन को क्षणिक माना है। तुलसीदास ने जीवन की क्षणिकता को बड़े काव्यात्मक ढंग से 'कलिकाल कुदार लिये फिरता तनु नभ्र है, चोर झिली न झिली'' रूप में कहा।[३१] और भूधरदास ने उसे ''कालकुठार लिए सिर ठाड़ा क्या समझै मन फूला रे'' रूप से सम्बोधित किया।[३२] कबीर ने शरीर को कागज का पुतला कहा जो सहज में ही घुल जाता है -

मन रे तन कागद का पुतला ।
लागै बूंद विनसि जाइ छिन में, गरब करै क्या इतना ।
माटी खोदहिं भींत उसारै, अंध कहै घर मेरा ।
आवै तलव बाधि ले चालै, बहुरि न करिहे फेरा ।
खोट कपट करि यहु धन जोयौ, लै धरती में गाड्यौ ।।
रोक्यौ घटि सांस नहीं निकसै, ठौर-ठौर सब छाड़यौ ।।
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै ।
गये पषनियां उझरी बाजी, को काहू के आवै।।[३३]

इसी तथ्य को भगवतीदास ने 'घटै तेरी आव कछे त्राहिं को उपावरे' कहकर अभिव्यक्त किया है।[३४] कबीर ने संसार को 'कागद की पुड़िया' भी कहा है जो बूंद पड़े घुल जाती है।[३५] माता, पिता, परिवार जन सभी स्वार्थ के साथी हैं जो शरीर के नष्ट होने पर उसे जलाकर वापिस आ जाते हैं।

मन फूला-फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे ।
माता कहे यह पुत्र हमारा वहन कहे बिर मेरा ।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारी कहै नर मेरा ।
पेट पकरि के माता रोवै बांह पकरि के भाई ।

लपटि झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई ।
चार गजी चरगजी मंगाया चढ़ा काठ की घोड़ी ।
चारों कोने आग लगाया फूंक दियो जस होरी ।
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को केस जरै जस घासा।
सोना ऐसी काया जरि गई कोई न आयो पासा।।[३६]

कविवर द्यानतराय ने भी इन सांसारिक सम्बन्धों को इसी प्रकार मिथ्या और झूठा माना है। अज्ञानी जीव उनको मेरा-मेरा कहकर आत्मज्ञान से दूर रहता है -

मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार है अे।।
जो देही बह रस सों पोषै, सो नहि संग चलै अे,
औरन कों तौहि कौन भरोसौ, नाहक मोह करै अे।।
सुख की बातैं बूझै नाहीं, दुख कौं सुख लेखैं रे।
मूढौ मांही माता डोलै, साधौ नाल डरै अे।
झूठ कमाता झूठी खाता झूठी आप जपै अै।
सच्छा साई सूझै नाहीं, क्यों कर पार लगै अै।।
जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मैरे।
द्यानत स्यात सोई जाना, जो जप तप ध्यान धरै रै।।[३७]

३. मिथ्यात्व, मोह और माया

जब से दर्शन की उत्पत्ति हुई है तभी से मिथ्यात्व, मोह और माया का सम्बन्ध उसके साथ जुड़ा हुआ है। ऋग्वेद में 'माया' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से वेश बदलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३८] उपनिषद काल में इसने दर्शन का रूप ग्रहण किया और इसे परमात्मा की सृजन का प्रतीक कहा गया। संसारी आत्मा इसी माया से आबद्ध बनी रहती है।[३९] जैनधर्म इसे मिथ्यात्व, मोह और कर्म कहता है जिसके कारण जीव संसार भ्रमण करता रहता है।[४०] बौद्धों ने भी इसे इन्हीं शब्दों के

माध्यम से व्यक्त किया है। उन्होंने इसके अनेक रूप बताये हैं - स्वप्नवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद। इन्हीं को ऋषियों ने अध्यास, अनिर्वचनीय, ख्यातिवाद आदि के सहारे स्पष्ट किया है।[४१] अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा माया द्वारा ही सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है और उसके दूर होने से एक आत्मा अथवा ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[४२] इसके विपरीत तांत्रिकों का मायावाद है। जहाँ माया मिथ्या रूप नहीं बल्कि सद्रूप है।

आदि और मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने मिथ्यात्व, मोह और कर्म को अपने काव्य में प्रस्तुत किया है जिसे हम पंचम परिवर्त में देख चुके हैं। सगुण-निर्गुण हिन्दी के अन्य कवियों ने भी माया के इसी रूप का वर्णन किया है जायसी ने ब्रह्मविलास में माया और शैतान ये दो तत्त्व बाधक माने हैं। अलाउद्दीन और राघव को चेतन के शैतान के रूप में चित्रित किया है।[४३] रत्नसेन जैसा सिद्ध साधक उसकी अचिन्त्य शक्ति के सामने घुटने टेक देता है। माया को कवि ने नारी का प्रतिरूप माना है।[४४] माया अहंकार और जड़ता को भी व्यंजित करती है। अलाउद्दीन को अहंकार का अवतार बताया गया है। 'नागमती यह दुनियां धंधा' कहकर नागमती को भी माया का प्रतीक माना है। माया, छल, कपट, स्त्री आदि शब्द समानार्थक है। जायसी ने इसीलिए नारी (नागमती) के स्वभाव को प्रस्तुत कर मिथ्यात्व, माया और मोह को अभिव्यंजित किया है।

जो तिरियां के काज न जाना। परे धोख पीछे पछताना।।
नागमति नागिनि बुधि ताऊ। सुधा मयूर होइ नहिं काऊ।।[४५]

सूर ने बल्लभाचार्य का अनुकरण करते हुए माया को ईश्वर की ही शक्ति का प्रतीक माना है। वह सत्य और भ्रम दोनों रूप है। शंकराचार्य की दृष्टि में अविद्या के दूर होने पर जीव और जगत् का भी

नाश हो जाता है पर बल्लभाचार्य उसे नहीं मानते। वे केवल संसार का नाश मानते हैं माया तो उनकी दृष्टि में परमात्मा की ही शक्ति है।[४६] जिसके चक्कर से शंकर, ब्रह्म आदि जैसे महामानव भी नहीं बच सकें[४७] सूर ने माया को भुजंगिनी, नटिनी, मोहनी भी कहा। काम, क्रोध, तृष्णा आदि विकार भी मायाजन्य ही हैं। माया ही अविद्या अथवा मिथ्यात्व है जिसके कारण भौतिक संसार सत्यवत् प्रतीत होता है। यही संसार भ्रमण का कारण है।[४८]

मीरा पुनर्जन्म में विश्वास करती थी। पुनर्जन्म का कारण अविद्या, मोह अथवा कर्म है। संचित (अतीत), संचीयमान (भावी) और प्रारब्ध (वर्तमान) कर्मो में संचित कर्म ही पुनर्जन्म के कारण है। मीरा के विविध रूप उसके प्रतीक हैं। कर्म की शक्ति का वर्णन मीरा ने निम्नलिखित पद्य में स्पष्ट किया है -

करम गति टारा ना री टरां ।
सतवादी हरचन्द्रा राजा डोम घर नीरां भरां ।।
पांच पांडुरी रानी दुपदा हाड़ हिमालां गरां ।
जग्य किया बलि लेन इन्द्रासन जायां पताल परां ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर बिखरूं अमरित करां ।।[४९]

तुलसी किस दर्शन के अनुयायी थे यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है।[५०] मुझे ऐसा लगता है कि वे बल्लभाचार्य के विशेष अनुयायी रहे होंगे। बल्लभाचार्य के समान ही उन्होंने भी माया को राम की शक्ति माना है - 'मन माया सम्भव संसारा। जाव चराचर विविध प्रकारा' तथा 'अरु मोर तोर खैं माया। जेंहि बस कीन्हें जीव निकाया।' कवि के अन्य दोहे से भी यह स्पष्ट है -

माया जीव सुभाव गुन काल करम महदादि ।
ईस अंक ते बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि ।।[५१]

जैन साधकों और कबीर के माया सम्बन्धी विचार मिलते-जुलते से हैं। कबीर ने माया को छाया के समान माना है जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती। फिर भी जीव उसके पीछे दौड़ता है।[५२] बनारसीदास ने भी उसे छाया[५३] कहकर सुन्दर शय्या कहा है जिसपर मोही मोह-निद्रा से ग्रस्त हो जाता है।[५४] कबीर[५५] और भूधरदास दोनों ने माया को ठगिनी कहा है। कबीर ने इस माया के विभिन्न रूप और नाम बताये हैं और उसे कथनीय कहा है -

माया महा ठगिनी हम जानी ।
निरगुन फांस लिये कर डौले, बौले मधुरी वानी,
केशव के कमला हवै बैठी, शिव के भवन शिवानी ।
पंडा के मूरति हवै बैठी तीरथ में भई पानी,
जोगी के जोगिन हवै बैठी राजा के घर रानी ।।
काहू के हीरा हवै बैठी, काहू के कौड़ी कानी,
भगतन के भगतिन हवै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।
कहत कबीर सुनो हो संतो, यह सब अकथ कहानी ।[५६]

कबीर के समान ही भूधरदास ने माया को 'ठगनी' शब्द से सम्बोधित किया है और उसे बिजली की आत्मा के समान माना है जो अज्ञानी प्राणियों को ललचाती रहती है। इसका जरा भी विश्वास करने पर पछताना ही हाथ लगता हैं आगे भूधरदास जी 'केते कंथ किये ते कुलटा, तो भी मन न अधाया' कहकर उसके रहस्य को स्पष्ट कर देते हैं परन्तु कबीर उसे कथनीय कहकर ही रह जाते हैं।

सूनि ठगनी माया, तै सब जग ठग खाया ।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया ।।
आभा तनक दिखाय बिज्जु, ज्यों मूढ़मती ललचाया ।
करि मव अंध धर्म हर लीनों, अन्त नरक पहुंचाया ।।

केते कंथ किये तैं कुलटा, तो भी मन न अधाया ।
किस ही सौं नहिं प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया ।।
भूधर छलत फिरत यह सबकों, भौंदू करि जय पाया ।
जो इस ठगनी को ठब बैठे, मैं तिनको शिर नाया।।[५७]

अन्यत्र पदों में कबीर ने माया को सारे संसार को नागपाश में बांधने वाली चाण्डालिनि डोमिनि और सापित आदि कहा है। संत आनन्दघन भी माया को ऐसे ही रूप में मानते हैं और उससे सावधान रहने का उपदेश देते हैं।[५८] कबीर का भी इसी आशय से युक्त पद है -

अबधू ऐसो ज्ञान विचारी, ताथैं भाई पुरिष थैं नारी ।।
नां हूं पत्नी नां हूं क्वारी, पूत जन्यूं धौ क्वारी ।
काली मूण्ड कौ एक न छोडयौ अजहूं अकन कुवारी ।।
ब्रह्मन के बह्मनेरी कहियौ, जोगी के घर चेली ।
कलमा पढि पढ भई तुरकनी, अजहूं फिरौं अकेली ।।
पीहरि जाउं न रहूं सासुरै, पुरषहिं अंगि न लाऊं ।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौं, अंगहि अंग न धुवाऊं ।।[५९]

तुलसीदास ने माया को वमन की भांति त्याज्य बताया।[६०] मलूकदास ने उसे काली नागिन[६१] और दादू ने सर्पिणी[६२] कहा। जायसी[६३], सूर[६४] और तुलसी[६५] ने इस संसार को स्वप्नवत् कहा जिसमें संसारी निरर्थक ही मोही बना रहता है। भूधरदास ने भी संसार के तमाशे को स्वप्न के समान देखा है -

"देख्या बीच जहान के स्वपने का अजव तमाशा वे ।।
एकौंके घर मंगल गावैं पूगी मन की आसा ।
एक वियोग भरे बहु रौवैं, भरि भरि नेन निरासा ।।१।।
तेज तुरंगनिपै चढ़ि चलते पहरैं मलमल खासा ।।

रंग भये नागे अति डौलै, ना कोई देय दिलासा ।।
तरकैं राज तखत पर बैठा, था खुशवक्त खुलासा ।
ठीक दुपहरी मूदत आई, जंगल कीना वासा ।।३।।
तन धन अथिर निहायत जग में, पानी मांहि पतासा ।
भूधर इनका गरव करैं जे फिट तिनका जनमासा ।।४।।[६६]

मिथ्यात्व, मोह और माया के कारण ही जीव में क्रोध, लोभ राग, द्वेषादिक विकारों का जन्म होता है। तुलसी ने इनको अत्यन्त उपद्रव करने वाले मानसिक रोगों के रूप में चित्रित किया है।[६७] सूर ने इनको परिधान मानकर संसार का कारण माना है -

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।
कामक्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल ।
महामोह के नुपूर बाजत निंदा-शब्द रसाल ।
भ्रम-मायो मन भयो षखावज चलत असंगत चाल ।
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना विधि दे ताल ।
माया को कटि फेटा बांध्यों लोभ तिलक दियौ भउ ।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधिं नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल ।।[६८]

इसीलिए भैया भगवतीदास इन विकारों से दूर रहने की सलाह देते हैं।[६९] कर्म भी मिथ्यात्व का कारण है। तुलसी ने उन्हें सुख-दुःख का हेतु माना है - 'काहू न होऊ सुख दुःखकर दाता। निज कृत कर्म भोग सुख भ्राता।'[७०] नूर भी "जनम जनम बहु करम किए हैं तिनमें आपुम आप बधापे"[७१] कहकर यह बताया है कि उन्हें भोगे बिना कोई भी उनसे मुक्त नहीं हो सकता।[७२] भैया भगवतीदास ने "कर्मन के हाथ दे बिकाये जग जीव सवैं, कर्म जोई करे सोई इनके प्रभात है 'लिखकर

कर्म की महत्ता को प्रकट किया[७३] है। मीरा ने कर्मो की प्रबल शक्ति को इसी प्रकार प्रकट किया है।[७४] बुधजन भी इसी प्रकार कर्मो की अनिवार्य शक्ति का व्याख्यान कर उसे पुराणों से उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं -

कर्मन की रेखा न्यारी रे विधिना टारी नाँहिं टरै ।
रावण तीन खण्ड को राजा छिन में नरक पडै ।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के वन में जाय मरे ।।१।।
हनुमान की मात अन्जना बन वन रुदन करै ।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई कैसा शुद्ध करै ।।२।।
राम अरु लक्ष्मण दोनों भाई कैसासिय के संग वन मांहि फिरे ।
सीता महासती पतिव्रता जलती अगनि परे ।।३।।
पांडव महाबली से योद्धा तिनकी त्रिया को हरै ।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न जनमत देव हरै ।।४।।
को लग कथनी कीजैं इनकी लिखता ग्रन्थ भरे।
धर्म सहित ये करम कौन सा 'बुधजन' यों उचरे।।५।।[७५]

४. मन

साधना में मन की शक्ति अचिन्त्य है। वह संसार के बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण होता हैं मन को विषय वासनाओं की ओर से हटाकर जब उसे आत्मा में ही स्थिर कर लेते हैं तो वह योगयुक्त अवस्था कही जाती है।[७६] कठोपनिषद् में इसी को परमगति कहा गया है।[७७] मन, वचन और काय से युक्त जीव का वीर्य परिणाम रूप प्राणियोग कहलाता है।[७८] और यही योग मोक्ष का कारण है।[७९] इसलिए योगीन्दु ने उसे पंचेन्द्रियों का स्वामी बताया है और उसे वश में करना आवश्यक कहा है।[८०] गौड़पाद ने उसकी शक्ति को पहिचानकर संसार को मन का प्रपंच मात्र कहा है।[८१] कबीर ने माया और मन के सम्बन्ध को अविच्छिन्न कहकर उसे सर्वत्र दुःख और पीड़ा का कारण कहा

है।[८२] माया मन को उसी प्रकार बिगाड़ देती है जिस प्रकार कांजी दूध को बिगाड़ देती है।[८३] मन से मन की साधना भी की जाती है। मन द्वारा मन के समझाने पर चरम सत्य की उपलब्धि हो जाती है।[८४] चंचल चित्त को निश्चल करने पर ही राम-रसायन का पान किया जा सकता है -

यह काचा खेल न होई जन पटतर खेले कोई ।
चित्त चंचल निहचल कीजे, तब राम रसायन पीजै ।।[८५]

एक अन्यत्र पद में कबीर मन को संबोधित करते हुए कहते हैं - हे मन ! तू क्यों व्यर्थ भ्रमण करता फिरता है ? तू विषयानन्दों में संलिप्त है किन्तु फिर भी तुझे सन्तोष नहीं। तृष्णाओं के पीछे बावला बना हुआ फिरता है। मनुष्य जहां भी पग बढ़ाता है उसे माया-मोह का बन्धन जकड़ लेता है। आत्मा रूपी स्वच्छ स्वर्ण थाली को उसने पापों से कलुषित कर दिया है।[८६] ठीक इसी प्रकार की विचार-सरणी बनारसीदास[८७] और बुधजन[८८] जैसे जैन साधकों ने भी अभिव्यक्त की है। भैया भगवती दास ने कबीर के समान ही मन की शक्ति को पहिचाना और उसे शब्दों में इस प्रकार गूंथने का प्रयत्न किया -

मन बली न दूसरो, देख्यौ इहि संसार ।।
तीन लोक में फिरत ही, जातन लागे बार ।।८।।
मन दासन को दास है, मन भूपन को भूप ।।
मन सब बातनि योग्य है, मन की कथा अनूप ।।९।।
मन राजा की सेन सब, इन्द्रिन से उमराव ।।
रात दिना दौरत फिरै, करे अनेक अन्याव ।।१०।।
इन्द्रिय से उमराव जिंह, विषय देश विचरंत ।।
भैया तिह मन भूप को, को जीते विन संत ।।१।।
मन चंचल मन चपल अति, मन बहु कर्म कमाय ।।
मन जीते बिन आतमा, मुक्ति कहो किम थाम ।।१२।।

मन सो जोधा जगत में, और दूसरो नाहिं ।।
ताहि पछारै सो सुभट, जीत लहै जग माहिं ।।१३।।
मन इन्द्रिय को भूप है, ताहि करे जी जौ जेर ।।
सौ सुख पावे मुक्ति के, या में कछू न फेर ।।१४।।
जत तन मूंद्यो ध्यान में, इंद्रिय भई निराश ।।
तब इह आतम ब्रह्म ने, कीने निज परकाश ।।१५।।[८९]

कबीर के समान जगतराम भी मन की माया के वश मानते हैं और उसे अनर्थ का कारण कहते हैं।[९०] जैन कवि ब्रह्मदीप ने मन को करम संबोधन करके उसे भव-वन में विचरण न करने को कहा है क्योंकि वहां अनेक विष बेलें लगी हुई है जिनको खाने से बहुत कष्ट होगा -

मन करहा भव बनिमा चरइ, तदि विष बेल्लरी बहुत ।
तहूं चरंतहं बहु दुखु पाइयउ, तब जानहि गौ मीत ।।

५. बाह्याडम्बर

साधना के आन्तरिक और बाह्य स्वरूपों में से कभी कभी साधकों ने बाह्याडम्बरों की ओर विशेष ध्यान दिया। ऐसी स्थिति में ज्ञानाराधना की अपेक्षा क्रियाकाण्ड अथवा कर्मकाण्ड की लोकप्रियता अधिक हुई। परन्तु वह साधना का वास्तविक स्वरूप नहीं था। जिन साधकों ने उसके वास्तविक स्वरूप को समझा उन्होंने मुण्डन, तीर्थस्थान, यज्ञ, पूजा, आदि बाह्य क्रियाकाण्डों का घनघोर विरोध किया। यह क्रियाकांड साधारणतः वैदिक संस्कृति का अंग बन चुका था।

जैनाचार्य योगीन्दु ने ज्ञान के बिना तीर्थस्थान को बिल्कुल

निरर्थक बताया है।[११] मुनि रामसिंह ने भी उससे आभ्यंतर मल घुलना असंभव माना है।[१२] ये आचार्य कुन्दकुन्द से भलीभांति प्रभावित रहे हैं। सिद्ध सरहपाद ने भी तीर्थस्थान आदि बाह्याचार का खण्डन कर अचेलावस्था, पिच्छि, केशलुंचन आदि क्रियाओं की निम्न प्रकार से आलोचना की है -[१४]

यदि नंगाये होइ मुक्ति तो शुनक-श्रृगालहु ।
लोम उपाटे होइ सिद्धि तो युवति नितम्बहु ।।
पिच्छि गहे देखेउ जो मोक्ष तो मारेहु चरमहुं ।
उम्छ-भोजने होइ ज्ञान तो करिहुं तुरंगहु ।।
सरह मने क्षपण की मोक्ष, मोहि तनिक न भावइ ।
तत्त्व रहित काया न ताप, पर केवल साधइ ।।

कबीर ने भी धार्मिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों और बाह्याडम्बरों के विरोध में तीक्ष्ण व्यंग्योक्तियां कसी हैं। मात्र मूर्तिपूजा करने वालों[१५] और मूड़ मुड़ाने वालों[१६] के ऊपर कटु प्रहार किया है। कबीर का विचार है कि इनसे बाह्याचारों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो बनी रहती है परन्तु मन निर्विकार नहीं होता इसलिए हाथ की माला को त्यागकर कवि ने मन को वश में करने का आग्रह किया है।[१७] जोगी खंड में बाह्याचार विरोध की हल्की भावना जायसी में भी मिलती है जब रत्नसेन ज्योतिषी के कहने पर उत्तर देता है कि प्रेम मार्ग में दिन, घड़ी आदि बाह्याचार पर दृष्टि नहीं रखी जाती।[१८] अन्यत्र स्थलों पर भी उन्होंने झकझोर देने वाले करारे व्यंग्य किये हैं। नग्न रहने से ही यदि योग होता है तो मृग को भी मुक्ति मिल जाती और यदि मुण्डन करने से

स्वर्ग मिलता तो भेड़ भी स्वर्ग पहुंचती।[९९] सुन्दरदास[१००], जगजीवन[१०१], भीखा[१०२] आदि सन्तों ने भी इन बाह्याचारों का खण्डन किया है। तुलसी ने भी कहा कि, जप, तप, तीर्थस्थान आदि क्रियायें रामभक्ति के बिना वैसी ही हैं जैसे हाथी को बांधने के लिए धूल की रस्सी बनाना।[१०३] अनेक देवताओं की सेवा, श्मशान में तान्त्रिक साधना प्रयोग में शरीर त्याग आदि आचार अविद्याजन्य हैं।[१०४]

मध्यकालीन जैन सन्तों ने भी अपनी परम्परा के अनुसार बाह्याचारों का खण्डन किया है। जैनधर्म में बिना विशुद्धमन और ज्ञानपूर्वक किया गया आचार कर्मबन्ध का कारण माना गया है।[१०५] भैया भगवतीदास ने कबीरादि सन्तों के स्वर से मिलाकर बाह्य क्रियाओं में व्यस्त साधुओं की तीखी आलोचना की है।[१०६] वृक्ष के मूल में रहना, जटादि धारण करना, तीर्थस्नानादि करना ज्ञान के बिना बेकार हैं -

कोटि कोटि कष्ट सहे, कष्ट में शरीर दहे,
धूमपान कियो पै न पायौ भेद तन को ।
वृक्षन के मूल रहे जटान में झूलि रहै,
मान मध्य मूलि रहै किये कष्ट तन को ।।
तीरथ अनेक न्हाये, तिरत न कहूं भये,
कीरति के काज दियौ दानहू रतनको ।
ज्ञान बिना बैर-बैर क्रिया करी फैर-फैर,
कियौ कोऊ कारज न आतम जतन को ।।

जैन कवि भगवतीदास ने ऐसी बाह्य क्रियाओं का खण्डन किया है जिनमें सम्यक् ज्ञान और आचार का समन्वय न हो -

देह के पवित्र किये आत्मा पवित्र होय,
ऐसे मूढ़ भूल रहे मिथ्या के भरम में।

कुल के आचार को विचारै सोई जानै धर्म,
कंद मूल खाये पुण्य पप के करम में।।
मूंड के मुंडाये गति देहके दगाये गति,
रातन के खाये गीत मानत धरम में।
शस्त्र के धरैया देव शास्त्र कौ न जानै भेद,
ऐसे हैं अबेन अरु मानत परम में।[१०७]

जैनधर्म के अनुसार क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान विहीन क्रिया भी। नगर से आग लगने पर पंगु तो देखता-देवता जल गया और अंधा दौड़ता-दौड़ता।[१०८] पीताम्बर ने इसीलिए कहा है - भेषधार कहै भैया भेष ही में भगवान, भेष में न भगवान, भगवान न भाव में[१०९]। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ परिवर्त में बाह्याडम्बर के प्रकरण में संकलित और भी अनेक पद देखे जा सकते हैं जिसमें बाह्याचार की कटु आलोचना की गई है।

जैन साधकों एवं कवियों के साहित्य का विस्तृत परिचय न होने के कारण कुछ आलोचकों ने मात्र कबीर साहित्य[११०] को देखकर उनमें ही बाह्याडम्बर के खंडन की प्रवृत्ति को स्वीकारा है जबकि उनके ही समान बाह्याचार का खंडन और आलोचना जैन साधक[१११] बहुत पहले कर चुके थे अत: सन्दर्भ में कबीर के बारे में ही मिथ्या आरोप लगाना उपयुक्त नहीं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जैन और जैनेतर दोनों साधक कवियों ने बाह्याचार की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल दिया है। अन्तर इतना ही है कि जैनेतर साधक भक्त थे अत: उन्होंने भक्ति के नाम-स्मरण पर अधिक जोर दिया जबकि जैन साधकों ने आत्मा के ही परमात्मतत्त्व को अन्तर में धारण करने की बात कही है।

२. साधक तत्त्व

१. सद्गुरु और सत्संग

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सत्संग प्रेरणा का स्रोत रहता है। गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक शान्ति और आत्मशुद्धि करने वाला होता है।[११२] उसके लिए श्रमण और वैदिक साहित्य में श्रमण, आचार्यो, बुद्ध, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त, सद्गुरु, गुरु आदि शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैनाचार्यो ने अर्हन्त और सिद्ध को भी गुरु माना है और विविध प्रकार से गुरु भक्ति प्रदर्शित की हैं। इहलोक और परलोक में जीवों को जो कोई भी कल्याणकारी उपदेश प्राप्त होते हैं वे सब गुरुजनों की विनय से ही होते है।[११३] इसलिए उत्तराध्ययन में गुरु और शिष्यों के पारस्परित कर्तव्यों का विवचेन किया गया है।[११४] इसी सन्दर्भ में सुपात्र और कुपात्र के बीच जैन तथा वैदिक साहित्य भेदक रेखा भी खीची गई है।[११५]

जैन साधक मुनिरामसिंह[११६] और आनंदतिलक[११७] ने गुरु की महत्ता स्वीकार की है और कहा है कि गुरु की कृपा से ही व्यक्ति मिथ्यात्व रागादि के बंधन से मुक्त होकर भेदविज्ञान द्वारा अपनी आत्मा के मूलविशुद्ध रूप को जान पाता है। इसलिए उन्होंने गुरु की वन्दना की है। आनंदतिलक भी गुरु को जिनवर, सिद्ध, शिव और स्व-पर का भेद दर्शाने वाला मानते हैं। जैन साधकों के ही समान कबीर ने भी गुरु को ब्रह्म (गोविन्द) से भी श्रेष्ठ माना है। उसी की कृपा से गोविन्द के दर्शन संभव है।[११८] रागादिक विकारों को दूर कर आत्मा

ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरु की प्राप्ति हो जाती है।[११९] उनका उपदेश संशयहारक और पथप्रदर्शक रहता है।[१२०] गुरु के अनुग्रह एवं कृपा दृष्टि से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु स्वर्णकार की भांति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर से तप्त स्वर्ण की भांति खरा और निर्मल बना देता है।[१२१] सूफी कवि जायसी के मन में पीर (गुरु) के प्रति श्रद्धा दृष्टव्य है। वह उनका प्रेम का दीपक है।[१२२] हीरामन तोता स्वयं गुरु रूप है[१२३] और संसार को उसने शिष्य बना लिया है।[१२४] उनका विश्वास है कि गुरु साधक के हृदय में विरह की चिनगारी प्रक्षिप्त कर देता है और सच्चा साधक शिष्य गुरु की दी हुई उस वस्तु को सुलगा देता है।[१२५] जायसी के भावमूलक रहस्यवाद का प्राणभूततत्त्व प्रेम है और यह प्रेम पीर की महान देन है। पद्मावत के स्तुतिखंड में उन्होंने लिखा है -

"सैयद असरफ पीर पिराया। जेहि मोहि पंथ दीनह उंजियारा। लेसा हिए प्रेम कर दीया। उठी जौति भा निरमल हीया।[१२६]

सूर की गोपियां तो बिना गुरु के योग सीख ही नहीं सकीं। वे उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं जहां जाकर वे गुरु श्याम से योग का पाठ ग्रहण कर सकें।[१२७] भक्ति-धर्म में सूर ने गुरु की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है और उसका उच्च स्थान माना है। सद्गुरु का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिए क्योंकि वह सकल भ्रम का नाशक होता है - "सद्गुरु को उपदेश हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवारयौ।।[१२८]

सूर गुरु महिमा का प्रतिपादन करते हुए करते हैं कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप है और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु

के बिना सच्ची कृपा करने वाला कौन है ? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाला और सत्पथ का दीपक है।[१२९] सहजोबाई भी कबीर के समान गुरु को भगवान से भी बड़ा मानती है।[१३०] दादू लोकिक गुरु को उपलक्ष्य मात्र मानकर असली गुरु भगवान को मानते हैं।[१३१] नानक भी कबीर के समान गुरु की ही बलिहारी मानते हैं। जिसने ईश्वर को दिखा दिया अन्यथा गोविन्द का मिलना कठिन था।[१३२] सुन्दरदास भी ''गुरुदेव बिना नहीं मारग सूझय'' कहकर इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।[१३३] तुलसी ने भी मोह भ्रम दमर होने और राम के रहस्य को प्राप्त करने में गुरु को ही कारण माना है। रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही गुरु वन्दना करके उसे मनुष्य के रूप में करुणासिन्धु भगवान माना है गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यो के समान है -

बंदऊं गुरुपद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ।।[१३४]

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार को पार करने के लिए गुरु की स्थिति अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान व्यक्तित्त्व भी, गुरु के बिना संसार से मुक्त नहीं हो सकता।[१३५] सद्गुरु ही एक ऐसा दृढ़ कर्णधार है जो जीव के दुर्लभ कामों को भी सुलभ कर देता है -

करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।[१३६]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी गुरु को इससे कम महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने तो गुरु को वही स्थान दिया है जो अर्हन्त को

दिया है। पंच परमेष्ठियों में सिद्ध को देव माना और शेष चारों को गुरु रूप स्वीकारा है। ये सभी 'दुरित हरन दुखदारिद दोन'' के कारण हैं।[१३७] कबीरादि के समान कुशल लाभ ने शाश्वत सुख की उपलब्धि को गुरु का प्रसाद कहा है - ''श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे''।[१३८] रूपचन्द ने भी यही माना। बनारसीदास ने सद्गुरु के उपदेश को मेघ की उपमा दी है जो सब जीवों का हितकारी है।[१३९] मिथ्यात्वी और अज्ञानी उसे ग्रहण नहीं करते पर सम्यग्दृष्टि जीव उसका आश्रय लेकर भव से पार हो जाते हैं।[१४०] एक अन्यत्र स्थल पर बनारसीदास ने उसे ''संसार सागर तरन तारन गुरु जहाज विशेखिये'' कहा है।[१४१]

मीरा ने 'सगुरा' और 'निगुरा' के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि सगुरा को अमृत की प्राप्ति होती है और निगुरा को सहज जल भी पिपासा की तृप्ति के लिए उपलब्ध नहीं होता। सद्गुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।[१४२] रूपचन्द का कहना है कि सद्गुरु की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है इस लिए वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से अभ्यर्थना करते हैं।[१४३] द्यानतराय को ''जो तजै वियै की आसा, द्यानत पावै सिववासा। यह सद्गुरु सीख बताई, काँहूं विरलै के जिय जाई'' के रूप में अपने सद्गुरु से पथदर्शन मिला।[१४४]

सन्तों ने गुरु की महिमा को दो प्रकार से व्यक्त किया है - सामान्य गुरु का महत्त्व और किसी विशिष्ट व्यक्ति का महत्त्व। कबीर और नानक के साथ ही द्वितीय प्रकार को भी स्वीकार किया है। जैन सन्तों ने भी इन दोनों प्रकारों को अपनाया है। अर्हन्त आदि सद्गुरुओं का तो महत्त्वगान प्रायः सभी जैनाचार्यों ने किया है पर कुशल लाभ जैसे कुछ भक्तों ने अपने लौकिक गुरुओं की भी आराधना की है।[१४५]

गुरु के इस महत्व को समझकर ही साधक कवियों ने गुरु के सत्संग को प्राप्त करने की भावना व्यक्त की है। परमात्मा से साक्षात्कार कराने वाला ही सद्गुरु है।[१४६] सत्संग का प्रभाव ऐसा होता है कि वह मजीठ के समान दूसरों को अपने रंग में रंग लेता है।[१४७] काग भी हंस बन जाता है।[१४८] रैदास के जन्म-जन्म के पाश कट जाते हैं।[१४९] मीरा सत्संग पाकर ही हरि चर्चा करना चाहती है।[१५०] सत्संग से दुष्ट भी वैसे ही सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी स्वर्ण बन जाता है।[१५१] इसलिए सूर दुष्ट जनों की संगति से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं।[१५२]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी सत्संग का ऐसा ही महत्त्व दिखाया है। बनारसीदास ने तुलसी के समान सत्संगति के लाभ गिनाये हैं -

कुमति निकद होय महा मोह मंद होय,
जनमगै सुयश विवेक जगै हियसों ।
नीति को दिव्य होय विनैको बढाव होय,
उपजे उछाह ज्यों प्रधान पद लियेसों।।
धर्म को प्रकाश होय दुर्गति को नाश हाये,
बरते समाधि ज्यों पियूष रस-पिये सों ।
तोष परि पूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिं सह संगति के किये सौं ।।[१५३]

द्यानतराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गयी है।[१५४] भूधरमल सत्संगति को दुर्लभ मानकर नरभव को सफल बनाना चाहते हैं -

प्रभु गुन गाय रे, यह ओसर फेर न पाय रे ।।
मानुष भव जोग दुहेला, दुर्लभ सतसंगति मेला ।
सब बात भली बन आई, अरहन्त भजौ रे भाई ।।[१५५]

दरिया ने सत्संगति को मजीठ के समान बताया और नवल राम ने उसे चन्द्रकान्तमणि जैसा बताया है। कवि ने और भी दृष्टान्त देकर सत्संगति को दु:खदायी कहा है -

सत संगति जग में सुखदायी है ।।
देव रहित दूषण गुरु सांचौ, धर्म्म दया निश्चै चितलाई ।।
सुक मेना संगतिनर की करि, अति परवीन बचनता पाई ।
चन्द्र कांति मनि प्रकट उपल सौ, जल ससि देखि झरत सरसाई ।।
लट घट पलटि होत षट पद सी, जिन कौ साथ भ्रमर को थाई ।
विकसत कमल निरखि दिनकर कों, लोह कनक होय पारस छाई ।।
बोझ तिरै संजोग नाव कै, नाग दमनि लखि नाग न खोई ।
पावक तेज प्रचंड महाबल, जल मरता सीतल हो जाई ।।
संग प्रताप भुयंगम जै है, चंदन शीतल तरल पटाई ।
इत्यादिक ये बात धणेरी, कौलो ताहिं कहौ जु बढ़ाई ।।[१५६]

इसी प्रकार कविवर छत्रपति ने भी संगति का माहात्म्य दिखाते हुए उसके तीन भेद किये हैं - उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।[१५७]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन साधकों ने विभिन्न उपमेयों के आधार पर सद्गुरु और उनकी सत्संगति का सुन्दर चित्रण किया है। ये उपमेय एक दूसरे को प्रभावित करते हुए दिखाई देते हैं जो नि:सन्देह सत्संगति का प्रभाव है। यहां यह दृष्टव्य है कि जैनेतर कवियों ने सत्संगति के माध्यम से दर्शन की बात अधिक नहीं की जबकि जैन कवियों ने उसे दर्शन मिश्रित रूप में अभिव्यक्त किया है।

२. आत्म-परमात्म-निरूपण

आध्यात्मिक दार्शनिक क्षेत्र में आत्मतत्त्व सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है। वेदान्तसार, सूत्रकृतांग और दीघनिकाय में इन विवादों के विभिन्न उल्लेख मिलते हैं। कोई शरीर और आत्मा को एक मानते हैं और कोई मन को आत्मा मानते हैं।[१५८] कुछ अधिच्च-समुप्पन्निकवादी थे, कुछ अहेतुवादी थे, कुछ अक्रियावादी थे, कुछ क्रियावादी थे, कुछ अज्ञानवादी थे, कुछ ज्ञानवादी थे, कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ उच्छेदवादी थे। ये सभी सिद्धान्त ऐकान्तिकवादी हैं।[१५९] इनमें कोई भी सिद्धान्त आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर निष्पक्ष रूप से विचार करते हुए नहीं दिखाई देता। वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वप्रकाशक, नित्य, शुद्ध, सत्यस्वभावी और चैतन्ययुक्त है।[१६०] बौद्धदर्शन में आत्मा ने अव्याकृतवाद से लेकर अनात्मवाद तक की यात्रा की है।[१६१] जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानदर्शनोपयोगमयी, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिणामवान्, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और ऊर्ध्वस्वभावी है।

जीव है सुज्ञानमयी चेतना स्वभाव धरै,
जानिबौ जो देखिबौ अनादिनिधि पास है ।
अमूर्त्तिक सदा रहै और सौ न रूप गहै,
निश्चैनै प्रवान जाके आतम विलास है ।।
व्योहारनय कर्त्ता है देह के प्रमान मान,
भोक्ता सुख दुःखनि को जग में निवास है।
शुद्ध है विलौके सिद्ध करम कलंक बिना,
ऊद्धै को स्वभाव जाकौ लोक अग्रवास है।[१६२]

मध्यकालीन हिन्दी सन्त आत्मा के इन्हीं विभिन्न स्वरूपों पर

विचार करते रहे हैं। सूफी कवि जायसी के आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचार वेदान्त, योग, सूफी, इस्लाम और जैनधर्म के प्रभावित रहे हैं। उसमें इन सभी सिद्धान्तों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की भावना निहित थी। जायसी का ब्रह्मनिरूपण सूफियों से अधिक प्रभावित है।[१६३] सूफीमत में ब्रह्म की स्थिति हृदय में मानी गयी है और जगत् उसकी प्रतिच्छाया के रूप में दिखाई देता है। कवि का यह कथन दृष्टव्य है जहां वह कहता है - काया उदधि सदृश है। उसी में परमात्मा रूपी प्रियतम प्रतिष्ठित है। उसी को शाश्वत माना है।[१६४] आत्मा का साक्षात्कार अन्तर्मुखी साधना का फल है। यह आत्मा पिण्डस्थ मानी गई है। योग के अनुसार पिण्डस्थ आत्मा दो प्रकार की है - प्राप्तात्मा और प्राप्तव्यात्मा। सूफियों ने भी आत्मा के दो रूप स्वीकार किये हैं - नफस (संसारी) और रूह (विवेकी)। रूह आत्मा शरीर के पूर्व विद्यमान रहती है। परमात्मा ही उसे मनुष्य शरीर में भेजता है। इस उच्चतर आत्मा के भी तीन पक्ष हैं - कल्ब (दिल) रूह (जान) तथा सिरै अन्तःकरण। वहां सिरै ही अन्तरतम रूप है। इसी में पहुंचकर सूफी साधक आत्मा के दर्शन करते हैं। इस आत्मद्वयवाद को कवि ने सूर्य-चन्द्र के प्रतीकों से अनेक स्थानों पर व्यंजित किया है।[१६५] आत्मद्वय में एक शुद्धात्मा है और दूसरी निम्नात्मा। माया के नष्ट हो जाने पर दोनों का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। वेदान्त में माया (नफस) का हनन ज्ञान से होता है पर सुफीमत में ईश्वर प्रेम से साधक उससे मुक्त होता है। जायसी ने आत्मा की ज्ञानरूपता, स्व-पर प्रकाशकरूपता[१६६], नित्यशुद्ध, मुक्तरूपता, चैतन्य रूपता[१६७], परम प्रेमास्पद रूपता, आनन्द रूपता[१६८], सद्रूपता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपता स्वीकार की है।[१६९] जायसी के इस आत्मा के सिद्धान्त पर वेदान्त का प्रभाव अधिक बताया जाता है। पर मुझे जैनदर्शन का भी प्रभाव दिखाई देता है।

कबीर के अनुसार जीव और ब्रह्म पृथक् नहीं है। वह तो अपने आपको अविद्या के कारण ब्रह्म से पृथक् मानता है। अविद्या और माया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म अद्वैत हो जाते हैं - 'सब घटि अंतरि तू ही व्यापक घटै सरूपै सोई।[१७०] आत्मज्ञान शाश्वत सुख की प्राप्ति कराने वाला है।[१७१] सर्वव्यापक है।[१७२] अविनाशी है,[१७३] निराकार और निरंजन है।[१७४] सूक्ष्मातिसूक्ष्म[१७५] तथा ज्योतिस्वरूप है।[१७६] इसे आत्मा का परमार्थिक स्वरूप कहते हैं। उसका व्यावहारिक स्वरूप माया अुवा अविद्या से आवृत स्थिति में दिखाई देता है। वही संसार में जन्म-मरण का कारण है। सुन्दरदास का भी यही मन्तव्य है।[१७७]

सूर ने भी ब्रह्म और जीव में कोई अंतर नहीं माना। माया के[१७८] कारण ही जीव अपने स्वरूप को विस्मृत हो जाता है - 'आपुन-आपुन ही विसरयौ'। माया के दूर होने पर जीव अपनी विशुद्धावस्था प्राप्त कर लेता है।[१७९] तुलसी ने भी जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् नहीं माना। माया के वशीभूत होकर ही वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गया।[१८०] कवि का परमात्मा व्यापक है और वह कबीर आदि के समान केवल निर्गुण नहीं कहा, वह भी सगुण होकर भिन्न-भिन्न अवतार धारण करता है।[१८१] सगुण-निर्गुण राम की शक्ति का विवेचन इस कथ्य को पुष्ट करता है।[१८२]

जैन सन्तों ने भी कबीर आदि सन्तों के समान आत्मा के निश्चय और व्यवहार स्वरूप का वर्णन किया है। जैन दर्शन का आत्मा निश्चय नय से शुद्ध, बुद्ध और निराकार है पर व्यवहार नय से वह शरीर प्रमाण आकार ग्रहण करता है, कर्ता और भोक्ता है। आत्मा और शरीर

को भी वहां पृथक् माना गया है। सूफी साधकों ने आत्मा के परमात्मा तक पहुंचने में चार अवस्थाओं का वर्णन किया हैं - शरीयत (श्रुताभ्यास), तरीकत (नामस्मरण), हकीकत (आत्मज्ञान) और मारफत (परमात्मा में लीन)। जैनों ने आत्मा की इन्हीं अवस्थाओं को तीन अवस्थाओं में अन्तर्भूत कर दिया है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। इन सभी अवस्थाओं का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

योगीन्दु मुनि ने आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि आत्मा न गौर वर्ण का है, न कृष्ण वर्ण का, न सूक्ष्म है, न स्थूल है, न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य है, न शूद्र, न पुरुष है, न स्त्री, न नपुंसक है, न तरुण-वृद्ध आदि। वह तो इन सभी सीमाओं से परे है। उसका वास्तविक स्वरूप तो शील, तप दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप है -

अप्पा गौरउ किण्हु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुसु वि थूणु ण वि, णाणिउ जाणे जोइ ।।८६।।
अप्पा बंभणु वइसु ण वि, ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णाउंसउ इत्थ ण वि, ण णिउ मुणइ असेसु ।।८७।।
अप्पा वन्दउ खवणु ण वि, अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि, ण णिउ जाणइ जोइ।।८८।।
अप्पा पंडिउ मुक्खु ण वि, णवि ईसरु णवि णीसुं ।
तरुणउ बूढ़उ बालु णवि, अण्णु वि कम्म विसेसु ।।९१।।
अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय मोक्ख पउ, जाणंतउ अप्पाणु ।।९३।।[१८३]

मुनि रामसिंह ने भी आत्मा के इसी स्वरूप का वर्णन किया है।[१८४] कबीर ने भी यही कहा है - 'वरन विवरजित हवै रह्या नां सौ स्याम न सेत।'[१८५] कबीर का आत्मा अविनाशी, अविकार और निराकार है।[१८६] बनारसीदास ने भी आत्मा के इसी रूप को स्वीकार किया है -

अविनासी अविकार परमरस धाम है,
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम है ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है ।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त है ।[१८७]

कबीर की दृष्टि में मिथ्यात्व और माया के नष्ट होने पर आत्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता -

जल में कुम्भ-कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु जथ कथौ गियानी ।।
ज्यूं बिंब हिं प्रतिबिम्ब समाना उदक कुम्भ विगरान ।।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, वहि जीव समाना ।।[१८८]

बनारसीदास ने भी आत्मा और परमात्मा के रूप का ऐसा ही चित्रण किया है -

पिय मोरे घट, मै पियमाहिं । जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ।।
पिय मो करता मैं करतूति । पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति ।।
पिय सुखसागर मैं सुख सींव । पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव ।।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम।।
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलवानि।।[१८९]

सुन्दरदास ने आत्म-परमात्म तत्त्व की अद्वैतता, अखण्डता

तथा निर्गुणता का वर्णन इस प्रकार किया है -

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै ।।
ब्रह्म अखण्डित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै ।
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहां लगि ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै ।[१९०]

तुलसीदास ने राम के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें सगुण-निर्गुण रूप माना है। उन्होंने ब्रह्म को नित्य, निर्भय, सच्चिदानन्द, ज्ञानधन, विमल, व्यापक, सिद्ध आदि विशेषणों से अभिहित किया है -

नित्य निर्भय, नित्य मुक्त निर्मान हरि ज्ञानधन सच्चिदानंद मूलं ।
सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ाचि भक्तानुकूलं ।।
सिद्धि साधक साध्य, वाच्य वाचक रूप मंत्र-जापक-जाप्य, सृष्टि-सष्टा ।
परमकारन कंजनाभ, सगुन, निर्गुना सकल-दुश्य-दुष्टा ।।
व्योक व्यापक बिरज ब्रह्म बरदैस बैकुंठ वामन विमल ब्रह्मचारी ।
सिद्ध वृन्दास्कावृंद वंदित सदा खंड पाखंड निर्मूलकारी ।।
पूरनानंद संदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुनसन्निपातं ।
बचन मन कर्म गत सन तुलसीदास, त्रास पाथोधि इव कुंभजानं ।।[१९१]

सूर को सगुणवादी कहा जाता है पर उन्होंने निर्गुण रूप का भी भक्तिवशात् व्याख्यान किया है -

शोभा अमित अपार अखिण्डत आप आतमाराम ।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।
आदि सनातन एक अनुपम अविगत अल्प अहार ।
ओंकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार ।।[१९४]

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के प्रारम्भ में सूरदास ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत व्याख्या की है। अनेक ऐसे पद हैं जिनमें परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी विराट स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है।[१९५]

बनारसीदास ने भी परमात्मा के इन्हीं सगुण और निर्गुण स्वरूप की स्तुति की है - 'निर्गुण रूप निरंजनदेवा, सगुण स्वरूप करैं विधि सेवा।'[१९६] एक अन्यत्र स्थान पर कवि ने चैतन्य पदार्थ को एक रूप ही कहा है पर दर्शन गुण को निराकार चेतना और ज्ञानगुण को साकार चेतना माना है -

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ज्ञानगुनसार है ।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरव मांहि,
समान विशेष सत्ता ही को विस्तार है।।[१९७]

अंजन का अर्थ माया है और माया से विमुक्त आत्मा को निरंजन कहा गया है। बनारसीदास ने उपर्युक्त पद में निरंजन शब्द का प्रयोग किया है। कबीर ने भी निरंजन की निर्गुण और निराकार माना है -

गो पंदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया ।
तेरे रूप नांहि रेख नांही, मुद्रा नांही माया ।।[१९८]

सुन्दरदास ने भी इसे स्वीकार किया है - 'अंजन यह माया करी, आपु निरंजन राइ। सुन्दर उपजत देखिए, बहुरयो जाइ विलाइ।[१९९] आनन्दघन की दृष्टि में जो व्यक्ति समस्त आशाओं को दूर कर ध्यान द्वारा अजपा जाप को अपने अन्त:करण में संचित करता है वह निरंजन पद को प्राप्त करता है -

आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै ।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै ।।[२००]

निरंजन शब्द के इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि जैन और जैनेतर कवियों ने इसे परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सिद्ध सरहपाद[२०१] और गोरखनाथ[२०२] ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। निरंजन आत्मा की वह स्थति है जहाँ माया अथवा अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है और आत्मा की विशुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सभी सम्प्रदायों ने लगभग इसी रूप में स्वीकार किया है। अतएव यह कथन सत्य नहीं लगता कि निरंजन नामक कोई पृथक् सम्प्रदाय था[२०३] जिसका लगभग १२ वीं शताब्दी में उदय हुआ होगा।[२०४] डॉ. त्रिगुणायत ने निरंजन नामक संप्रदाय का संस्थापक कबीरपंथी हरीदास को बताया।[२०५] यह भ्रम मात्र है। निरंजन नाम का न तो कोई सम्प्रदाय ही था और न उसका संस्थापक हरिदास अथवा निरंजन नामक कोई सहजिया बौद्ध सिद्ध ही था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि निरंजन शब्द का प्रयोग आत्मा की उस परमोच्च अवस्था के लिए आगमकाल से होता रहा है जिसमें माया अथवा अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है।[२०६] योगीन्दु ने इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है। उनका समय लगभग ८ वीं शती है।[२०७] उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि निरंजन वह है जिसमें रागादिक विकारों में से एक भी दोष न हों -

जासुण वण्णु ण गंधु रसु ज सुण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणुण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरजणु माउ ।।[२०८]

बनारसीदास ने भी इसी परम्परा को स्वीकार किया है। उसी निरंजन की उन्होंने वंदना की है। वही परमगुरु और अपभंजक है।[२०९] भगवान का यही निर्गुण स्वरूप यथार्थ स्वरूप है। तुलसी का ब्रह्म भी मूलतः निर्गुणपरक ही हैं इसी को निष्कल ब्रह्म भी कहा जाता है। अल्लाह, करीम, रहीम आदि सुफी नामों के अतिरिक्त आत्मा गुरु, हंस, राम आदि शब्दों का भी प्रयोग निर्गुणी सन्तों ने ब्रह्म के अर्थ में किया है। जैनाचार्यो ने भी इनमें से अधिकांश शब्दों को स्वीकार किया है। यह जिनसहस्रनाम से स्पष्ट है। सगुण परम्परा का भी उन्होंने आधार लिया है। ब्रह्मत्व निरूपण में यहां एकत्ववाद की प्रतिष्ठा की गई है जिसमें अध्यात्म का सरस निर्मल जल सिंचित हुआ है। साकारविग्रह के वर्णन में ब्रह्म के विराट स्वरूप का दर्शन होता है। अद्वैतता और अखण्डता का भी प्रतिपादन किया गया है। इसी को अनिर्वचनीय और अगोचर भी कहा गया है। ये सभी तत्त्व सगुण-निर्गुण भक्त कवियों के साहित्य में हीनाधिक भाव से मिलते हैं। जैन कवियों की भक्ति भी सगुणा और निर्गुणा रही है। अतः उनका आत्मा और ब्रह्म भी उपर्युक्त विशेषणों से मुक्त नहीं हो सका -

निसानी कहा बताउं रे रो वचन अगोचर रूप ।
रूपी कहूं तो कछु नाहीं रे, कैसे बंधै अरूप ।।
रूपा रूपी जो कहूं प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप ।
सिद्ध सरूपी जो कहूं प्यारे, बन्धन मोक्ष विचार ।।
सिद्ध सनातन जो कहूं रे, उपजै विणसै कोण ।
उपजै विणसै जो कहूं प्यारे, नित्य अवाधित गौन ।।[२१०]

३. प्रपत्त - भावना

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' में रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित बतलायी है - आस्तिकता, प्रेम

और भावना, गुरु की प्रधानता और मार्ग। ये चारों तत्त्व प्राचीन भारतीय साहित्य की आध्यात्मिक और दार्शनिक परम्परा से जुड़े हुये हैं। 'आस्तिकता' का तात्पर्य है आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करना। 'प्रेम और भावना' का सम्बन्ध अपने आराध्य के प्रति व्यक्त आध्यात्मिक प्रेम से है। इस प्रेम के अन्तर्गत प्रपत्ति मूलक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति की जाती है। 'गुरु' परमसत्य का साक्षात्कार करने वाला होता है और 'मार्ग' में साक्षात्कार करने का पथ निर्दिष्ट किया जाता है।

उपर्युक्त तत्त्वों में से हम आस्तिकता और गुरु पर पीछे विचार कर चुके हैं। प्रेम को हम दूसरे शब्दों में भक्ति-प्रपत्ति कह सकते हैं। प्रपत्ति का तात्पर्य है अपने इष्टदेव के शरण में जाना। साधक की भक्ति उसे इस प्रपत्ति की ओर ले जाती है। अनुकूल का संकल्प अथवा व्यवहार करना, प्रातिकूल्य का छोड़ना, भगवान रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास होना, भगद्गुणों का वर्णन, आत्म निक्षेप और दीनता इन छः अंगों के माध्यम से भक्त अपने आराध्य की शरण में जाता है।[२११] मध्यकालीन हिन्दी सन्तों में प्रपन्न भक्तों के लगभग सभी गुण उपलब्ध होते हैं।

"अनुकूल्यस्य संकल्प" का तात्पर्य है भगवान के अनुकूल आचरण करना, ऐसे सत्कार्य करना जो भगवद्भक्ति के लिए आवश्यक हों। कबीर का चिन्तन है कि आत्मा की विशुद्ध परिणिति हरि का दर्शन किये बिना नहीं हो सकती - 'हरि न मिले बिन हिरदै सूध।'[२१२] उसके बिना तो वह जल में से घृत निकालने के समान असम्भव है - 'हृदय कपट मुख ग्यांनी, झूठे कहा विलोवसि पानी।'[२१३] तुलसी पश्चात्ताप करते हुए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि अभी तक तो उन्होंने अपना समय व्यर्थ गंवाया पर अब चिन्तामणि मिल गया है। उसे यों ही व्यर्थ नहीं जाने देंगे।

अब लों नसानी, अब न नसैहों ।
राम कृपा भाव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसै कों।
पायेऊ नाम चारु चिन्तामनि, उरकर ते न ससैहों ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित्त कंपनहि कसैहों ।
परबस जानि हंस्यो इन इन्द्रिन बस है न हसैहों ।
मन मधुकर पन कैं तुलसी पद कमल वसैहों ।[२१४]

इस प्रकार रूपचन्द भगवान् के शरण में जाकर यह कहते हुए दिखाई देते हैं - 'अभी तक उन्होंने स्वयं को नहीं पहिचाना। मन वासना में लीन रहा, इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती रहीं। पर अब तुम्हारी शरण मिलने से एक मार्ग मिल गया है जो भव दुःख को दूर कर देगा-

प्रभु तेरे पद कमल निज न जानै ।।
मन मधुकर रस रसि कुवसि, कुमयौ अब अनत न रति मानै ।
अब लगि लीन रह्यो कुवासना, कुविसन कुसुम सुहानै।
भीज्यो भगति वासना रस वस अवस वर सयाहि भुलानै।
श्री निवास संताप निवारन निरूपम रूप अरूप बखाने।
मुनि जन राजहंस जु सेवित, सुर नर सिर सरमाने।।
भव दुख तपनि तपत जन पाए, अंग-अंग सहताने।
रूपचन्द चित भयो अनन्दसु नाहि नै बनतु बखाने।।[२१५]

भैया भगवतीदास **'हो चेतन तो मति कौन हरी और कुमुदचन्द' चेतन चेतत किउ बावरे''** कहकर यही भाव व्यक्त करते हैं। कबीर बाह्य क्रियाओं को व्यर्थ कहते हैं और तुलसीदास इन्द्रिय वासना की बात करते हैं पर भगवतीदास राग और लोभ के प्रभाव से आयी हुई मिथ्यामति को ही दूर करने का संकल्प लिए हुए बैठे हैं।[२१६]

'प्रातिकूलस्य वर्जनम्' का तात्पर्य है भगवद् भक्ति में उपस्थित प्रतिकूल भावों का त्याग करना। 'हिरदै कपअ हरि नहिंसांची, कहा भयो जे अनहद नाच्यौ' जैसे उद्धरणों में कबीर ने माया, कपट क्रोध लोभ आदि दूषित भावों को त्यागने का संकेत किया है।[२१७] मीरा भी मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई 'कहकर भक्ति में विघ्न डालने वाले परिवार के लोगों को त्याग देती हैं[२१८] तुलसी ने भी' जीके प्रिय न राम वैदेही। सो छांड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही' कहकर प्रतिकूल स्थिति को छोड़ा है।[२१९] वख्तराम साह ने 'इन कर्मो तै मेरा जीव डरता हो।' कहकर कर्मो को दूर करने के लिए कहा है और दौलतराम ने छांड़ि दे या बुधि मोरी, वृथा तन से रति जोरी' मानकर शरीरादि से मोह नष्ट करने के लिए आवश्यक माना है।[२२०]

''रक्षिष्यतीति विश्वासः'' का अर्थ है - भक्त को यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान हमारी रक्षा करेंगे। कबीर को भगवान में दृढ़ विश्वास है -''अब मोही राम भरोसो तेरा, और कौन का करौ निहारा।''[२२१] तुलसी को भी पूरा विश्वास है -''भरोसो जाहि दूसरो सो करो। मोको तो राम को नाम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो।''[२२२] सूर ने भी 'को को न तरयो हरि नाम लिये' कहकर विश्वास व्यक्त किया है।[२२३] मीरा को विश्वास है कि हे प्रभु, मैं तो आपके शरण हूं, आप किसी न किसी तरह तारेंगे ही। एक अन्यत्र पद में मीरा विश्वास के साथ कहती है - हरि मोरे जीवन प्रान अधार और आसिरो नाहीं तुम बिन तीनूं लोक मंझार।[२२४]

नवलराम को भी विश्वास है कि वीतराग की शरण में रहने से सभी पाप दूर हो जायेंगे और मुक्ति प्राप्त कर लेंगे।[२२५] द्यानतराय को भी तीनों भवनों में जिनदेव समान अन्य कोई सामर्थ्यवान देव नहीं मिला। केवल जिनेन्द्र ही भव जीवनि को तारने में समर्थ हैं।[२२६] कबीर तुलसी के

समान द्यानतराय को भगवान में पूर्ण विश्वास है - अब हम नेमि जी की शरण और ठोर मन लगत है छांडि प्रभु के शरन।[२२७]

''गोप्तृत्व वरण'' का तात्पर्य है - एकान्त में भवसागर से पार होने के लिए भगवद्गुणों का चिंतन करना। कबीर ने 'निरमल राम गुण गावे, सो भगतां मेरे मन भावै' के माध्यम से इसका वर्णन किया है।[२२८] तुलसी ने **'कृपा सोधौ कहां विसारी राम। जेहि करुना मुनि श्रवन दीन-दुःख धवत हो तहज धाम'** लिखकर राम के गुणों का स्मरण किया है।[२२९] मीरा में शरण अब तिहारी जी मोहि राखो कृपानिधान कहकर प्रभु के गुणों का वर्णन किया है।[२३०]

इसी प्रकार वख्तराम साह अपने प्रभु के अतिरिक्त इस जग में दूसरों को दानी नहीं समझते हैं। उसी की कृपा से उनके हृदय में अनन्त सुख उपजा है -

तुम दरसन तैं देव सकल अध मिटि है मेरे ।।
कृपा तिहारी तैं करुणा निधि, उपज्यो सुख अछेव।
अब लौ निहारे चरन कमल की करी न कवहूं सेव।।
अवहूं सरनै आयो सबतै छूट गयो अहमेव।।
तुम से दानी और न जग में, जांचत हो तजि भेव।
वख्तराम के हिये रहौ तुम भक्ति करन की टेव।।[२३१]

''आत्मनिक्षेप'' का अर्थ है। भक्त स्वयं को भगवान के अधीन कर दे। कबीर ने 'जो पै पतिव्रता है नारी कैसे ही रहौसी पयिहि प्यारी।' तन मन जीवन सोपि सरीरा। ताटि सुहागिन कहै कबीरा' से आत्मनिक्षेप की शर्त मान ली।[२३२] तुलसीदास ने भी 'मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाउं। निलज नीच निरधन निरगुन कहं जग दूसरो न

ठाकुर लाउ'' कहकर स्वयं को प्रभु के लिए समर्पित कर दिया है।[२३३] मीरा भी ''मैं तो थारी सरण परी रे रामा ज्यूं तारे त्यूं तारा। मीरा दासी ''राम भरोसे जम का फंदा निवार' कहकर पूर्णतया भगवान के अधीन है उसे तारना हो वैसे तारो।[२३४] जैन कवि भी स्वयं को भगवान के अधीन कर उनसे भाव विह्वल हो मुक्ति की कामना करते दृष्टिगोचर होते हैं। वख्तराम साह - 'तुम विन नहि तारै कोइ। दीन जानि बाबा वख्ता कै, करो उचित है सोई[२३५] कहकर, द्यानतराय'' - अब हम नेमि जी की शरन। दास द्यानत दयानिधि प्रभु, क्यों तजेंगे मरन'[२३६] और 'अब मोहे तार लेहु महावीर'[२३७] कहकर और दौलतराम 'जाऊ' कहां तज शरन तिहारी[२३८] कहकर इसी भाव की अभिव्यंजना की है।

कार्पण्य - भक्ति के इस अंग में साधक अपनी दीनता व्यक्त करता है। कबीर ने 'जिहि घटि राम रहै भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि'[२३९] तथा 'कबीरा कूता राम का मुतिया मेरा नाऊं' जेसे उद्धरणों में अपनी दीनता और विनय का प्रदर्शन किया है। तुलसी ने 'जाऊं कहां तजि चरन तुम्हारे। काको नाम पतित पावन ? केहि अति दीन पियारे?'[२४०] मीरा भी 'अब मैं सरण तिहारी मोहि राखो कृपानिधान' कहकर अपनी अकिंचनता व्यक्त करती है। जैन कवियों ने भी भक्ति के इस अंग को उसी रूप में स्वीकार किया है। जगतराम को प्रभु के बिना और दूसरा कोई सहायक नहीं दिखता और दूसरे तो स्वार्थी हैं पर प्रभु उन्हें परमार्थी लगते हैं -

प्रभु बिन कोन हमारी सहाई।।
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई।।
याते चरन सरन आये है, मन परतीत उपाई।।[२४१]

भूधरदास ने भी भगवान जिनेन्द्र को अरज सुनाई है कि तुम

दीनदयालु हो और मैं संसारी दुखिया हूं।[२४२] इसी प्रकार की दीनता सूरदास के विनय के पदों में भी विखरी दिखाई पड़ती है -

अब लौं कहो, कौन दर जाऊं ?
तुम जगपाल, चतुर चिन्तामनि, दीनबन्धु सुनि नाउं।।[२४३]

दीनता के साथ सभी भक्तों ने अपने दोषों और पश्चात्तापों का भी वर्णन किया है। भगवान दयालु है वह अपने भक्तों को दोष देते हुए भी भव समुद्र से पार लगा देंगे। तुलसीदास ने विनय पत्रिका में 'माधव मो समान जग नाहीं। सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं।[२४४] कहकर अपनी दीनता व्यक्त की है इसी प्रकार भैया भगवतीदास ने चेतन के दोषों को गिनाकर, उसे भगवान का भजन करने की बात कही है।[२४५]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन सन्तों में प्रपत्ति भावना के सभी अंग उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन, चिंतवन, सेवन, वन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता, दास्यभाव, सख्यभाव आदि नवधाभक्ति तत्त्व भी मिलते हैं। इन तत्त्वों की एक प्राचीन लम्बी परम्परा है। वेदों, स्मृतियों सूत्रों, आगमों और पिटकों में इनका पर्याप्त विवेचन किया गया है।[२४६] मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य उनसे नि:सन्देह प्रभावित दिखाई देते हैं। इन तत्त्वों में नामस्मरण विशेष उल्लेखनीय है। संसार सागर से पार होने के लिए साधकों ने इसका विशेष आश्रय लिया है। सूफियों का मार्फत और वैष्णवों का आत्म निवेदन दोनों एक ही मार्ग पर चलते हैं। श्रवण-कीर्त्तन आदि प्रकार भी सूफियों से शरीयत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि जैसे तत्त्वों में नामान्तरित हुए हैं। सूफियों, वैष्णवों और जैनों ने आत्मसमर्पण को समान स्तर पर स्वीकारा है, सूफी साधना में इसी को जिक्र और फिक्र संज्ञा से अभिहित किया गया है। जायसी का विचार है

कि प्रकट में तो साधक सांसारिक कार्य करता रहे पर मन ही मन आराध्य का ध्यान करते रहना चाहिए - 'परगट लोक चार कहु बाता, गुपुत लाउ मन जासो राता।'[२४७] सुर के अनुसार महान् से महान् पापी भी हरि के नामस्मरण से भवसागर को पार कर लेता है - कौ कौ न तारयौ लीला हरि नाक लिये[२४८]। ''हरि-गुण श्रवण से ही शाश्वत् सुख मिलता है, जो यह लीला सुने सुनावै सौ हरि भक्ति पाइ सुख पावै''।[२४९] दरिया ने नाम बिना भावकर्म का नष्ट होना असंभव सा कहा है।[२५०] तुलसी ने भी नाम स्मरण की श्रेष्ठता दिग्दर्शित की है।[२५१] बनारसीदास ने जिन सहस्रनाम में और द्यानतराय ने द्यानत पद संग्रह में इसकी विशेषता का वर्णन किया है।

पादसेवन, वन्दन और अर्चन को भी इन कवियों ने अपने भावों में गूंथा है। कबीर ने सेवा को ही हरिभक्ति मानी है- जो सेवक सेवा करें, ता संगि रे मुरारि[२५२] सूरसागर का तो प्रथम पद ही चरण कमलों की वन्दना से प्रारम्भ किया गया है।[२५३] मीरा ने भी "भाई म्हारो गोविन्द गुन गास्या"[२५४] कहकर 'भज मन चरण कमल अविनाशी' लिखा है।[२५५] आनन्दघन प्रभु के चरणों में वैसे ही मन लगाना चाहते हैं जैसे गायों का मन सब जगह घूते हुए भी उनके बछडों में लगा रहता है।[२५६] अन्य कवि रूपचंद, छत्रपति, बुधजन आदि ने अपने पदों में इन्हीं भावों को व्यक्त किया है।[२५७]

इस प्रकार प्रपत्त भावना मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। उपालम्भ, पश्चात्ताप, लघुता समता और एकता जैसे तत्त्व भावभक्ति में यथावत् उपलब्ध होते हैं। इन कवियों के पदों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दूसरे से किसी सीमा तक प्रभावित रहे हैं।

४. सहज-योग साधना और समरसता

योग साधना आध्यात्मिक रहस्य की उपलब्धि के लिए एक सापेक्ष अंग है। सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त योगी की मूर्तियां उसकी प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं। ऋग्वेद (१ १०.६;) और यजुर्वेद (१२.१८) में योग का विवरण मिलता है। योगसूत्र में योग के आठ अंग बताये गये हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। जैन-बौद्ध धर्म में भी योग का विवेचन मिलता है।[२५८] साधारणतः योग का तात्पर्य है - योगश्चित्तवृत्ति निरोधः अर्थात् मन-वचन काय को एकाग्र करना।[२५९] उसका विशेष अर्थ है - पिंडस्थ आत्मा का परमात्मा में अन्तर्भाव।[२६०] उपर्युक्त अष्टांग योग को व्यवहारतः चार अंगों में विभक्त किया गया है - मन्त्र योग, लययोग, हठयोग और राजयोग।[२६१] बाद में सुरति योग और सहजयोग की भी स्थापना हुई।

मध्यकालीन हिन्दी जैन-जैनेतर काव्य में भी योगसाधना का चित्रण किया गया है। जायसी ने अष्टांग योग को स्वीकार किया है। यम-नियमों का पालन करना योग है। यम पांच हैं - अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जायसी को इन पर पूर्ण आस्था थी। 'निठुर कोई जिउ बधसि परावा, हत्या केर न तोहि उस आवा'[२६२] तथा 'राजै' कहा सत्य कह सुआ, बिनु सन जस सेंवर कर भूआ'[२६३] आदि जैसे उद्धरणों से यह स्पष्ट है। नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को रखा गया है। जायसी ने इन नियमों को भी यथास्थान स्वीकार किया है। जीव तत्त्व को ब्रह्मतत्त्व में मिला देना अथवा आत्मा को परमात्मा से साक्षात्कार करा देना योग का मुख्य उद्देश्य है। इन दोनों तत्त्वों को साधकों और आचार्यो ने भिन्न-भिन्न

नाम दिये हैं। जायसी ने सूर्य और चन्द्र को प्रतीक माना है। कुछ योगियों वे इडा-पिंगला को इन्द्र-सूर्य रूप में व्यंजित किया है। नाड़ी साधना में भी जायसी की आस्था रही है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नास, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनन्जय ये दस वायुएं नाड़ियों में होकर सूर्य तत्त्व को ऊर्ध्वमुखी ओर चन्द्रतत्त्व को अधोमुखी कर दोनों का मिलन कराती है। यही अजपा जाप है। जायसी अजपाजाप से सम्भवतः परिचित नहीं थे पर जप के महत्त्व को अवश्य जानते थे 'आसन लेइ रहा होइ तपा, पद्मावती जपा'।[२६४] नाड़ियों में पाच नाड़ियां प्रमुख हैं जिनका योग साधना में अधिक महत्त्व है - इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, चित्रा और ब्रह्म। कुण्डलिनी साधना के सन्दर्भ में महामुद्रा महार्ध निवरीत करणी आदि मुद्रायें अधिक उपयोगी हैं। हठयोगी कुण्डलिनी का उपस्थापन करता हुआ षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार) का भेदन करता हैं। कुछ ग्रन्थों में ताल, निर्वाण और आकाशचन्द्र को भी जोड़ दिया गया है। जायसी ने 'नवों खण्ड नव पौरी और तहं वज्र किवारै' कहकर इन चक्रों पर विश्वास व्यक्त किया है। उन्होंने योगी-योगनियों के स्वरूप पर भी चर्चा की है। जायसी आदि सूफी कवियों ने योग की शुष्कता और जटिलता को तीन प्रकार से अभिव्यक्त किया है। डॉ. त्रिगुणायत ने 'जायसी का पद्मावत' काव्य और दर्शन में जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद के तीन रूपों को स्पष्ट किया है -१। भावना या प्रेमभाव के आवरण में आवृत्त[२६५], २. प्रकृति के आवरण में आवृत्त[२६६], ३. जटिल अभिव्यक्ति के आवरण में आवृत्त।[२६७] कुण्डलिनी के उद्बुद्ध और प्राणवायु के स्थिर हो जाने पर साधक शून्यपथ से अनहदनाद को सुनता है। इसके लिए काम, क्रोध, मद और लोभ आदि विकारों को दूर करना आवश्यक है।

कबीर ने भी योग साधना की है। उन्होंने ''न मैं जोग चित्त लाया, बिन बैराग न छूटसि काया'' कहकर योग का मूल्यांकन किया है।[२६८] कबीर ने हठयोगी साधना भी की। उन्होंने षट्कर्म आसन, मुद्रा, प्राणायाम और कुण्डलिनी उत्थापन की भी क्रियायें की। हठयोगी क्रियाओं से मन उचट जाने पर कबीर ने मन को केन्द्रित करने के लिए लययोग की साधना प्रारम्भ की जिसे कबीर पंथ में 'शब्द-सुरति-योग' कहा जाता है। शब्द को नित्य और व्यापक माना गया है। इसलिए शब्द-ब्रह्म की उपासना की गई है -''अनहद शबद उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार।'[२६९] इसकी सिद्धि के लिए ज्ञान के महत्त्व को भी स्पष्ट किया गया है।[२७०] कबीर ने ध्यान के लिए अजपा जाप और नामजप को भी स्वीकार किया है। उन्होंने बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर उलटी चाल से ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है -'उलटी चाल मिले पार ब्रह्म कौं, सौ सतगुरु हमारा।'[२७१] इसी माध्यम से उन्होंने सहज साधना की है और उसे कबीर ने तलवार की धार पर चलने के समान कहा है।[२७२] इसमें षट्चक्रों मुद्राओं आदि की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज भाव के साथ की जाती है। राजयोग, उन्मनि अथवा सहजावस्था समानार्थक है। सहजावस्था वह स्थिति है जहां साधक को ब्रह्मात्मैक्य प्राप्त हो जाता है।[२७३] कबीर ने यमनियमों की भी चर्चा की है। उनमें बाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध किया गया है और मन को माया से विमुक्त रखने का निर्देश दिया गया है। उन्होंने सहज समाधि को ही सर्वोपरि स्वीकार किया है -[२७४]

सन्तो सहज समाधि भली।
सांई तै मिलन भयौ जा दिन त, सुरतन अंत चली।।
आंख न मूंदूं कान न रूंधूं, काया कष्ट न धारुं।।
खुलै नैन मैं हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं।।

कहूं सुनाम सुनुं सौ सुमरन, जो कुछ करूं सौ पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूं, और मिटाउं, दूजा।।
जहं-जहं जाऊंसोइ परिकरमा, जो कुछ करूं सो सेवा।
जब सोऊ तब करूं दंडवत, पूंजू और न देवा।।
कहै कबीर यहु उनमनि रहनी, सो परगट करिगाई।
सुख दुःख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।।[२७५]

सहजावस्था ऐसी अवस्था है जहां न तो वर्षा है न सागर, न प्रलय, न धूप, न छाया, न उत्पत्ति और न जीवन और मृत्यु है, वहां न तो दुःख का अनुभव होता है और न सुख का। वहां शून्य को जागृति और समाधि की निद्रा नहीं है। न तो उसे तौला जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है। न वह हल्की है, न भारी। उसमें ऊपर नीचे की कोई भावना नहीं है। वहां रात और दिवस की स्थिति भी नहीं है। वहां न जल है, न पवन और न ही अग्नि। वहा सत्गुरु का साम्राज्य है। वह जगह इन्द्रियातीत है। उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से ही हो सकती है -

सहज की आप कथा है जिरारी।
तुलि नहीं बैठ जाइ न मुकाती हलकु लगै न माटी।
अरध ऊरध दोऊ नाहीं राति दिनसु तह नाहीं।
जलु नहीं पवनु-पवकु फुनि नाहीं सतिगुरु तहा स साही।
अगम अगोचर रहै निरन्तर गुर किरपा ते लहिये।
कहु कबीर चलि जाऊ गुर अपुने संत संगति मिलिं रहिये।[२७६]

सहज साधना की ओर वस्तुतः ध्यान सहजयान के आचार्यो ने दिया। सहजयान की स्थापना में बौद्ध धर्म का पाखण्डपूर्ण जीवन मूल

कारण था। इसके प्रवर्तक सरहपाद माने जाते हैं जिन्होंने नैसर्गिक जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया है। उसमें हठयोग का कोई स्थान नहीं। चित्त ही सभी कर्मो का बीज है उसी को सहज स्वभाव की स्थिति कहा गया है जिसमें चित्त और अचित्त दोनों का शमन हो जाता है। कण्हपा ने इसी को परम तत्त्व भी कहा है।[२७७] इसमें प्रज्ञा और उपाय अद्वैत अवस्था में आ जाते हैं। कौलमार्गियों में इन्हीं तत्त्वों का शक्ति और शिव कहा जाता है। नाथों का यही परम तत्त्व, परम ज्ञान, परम स्वभाव और सहज समाधि रूप है।

बौद्धों के सहजयान से प्रभावित होकर एक वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय भी खड़ा हुआ जिसमें श्रीकृष्ण को परम तत्त्व और राधा को उनकी नैसर्गिक आल्हादिनी शक्ति माना गया है। दोनों की रहस्यमयी केलि की सहजानुभूति कर इस सम्प्रदाय के साधक प्रेम-लीलाओं का उपभोग करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष और स्त्री में एक आध्यात्मिक तत्त्व रहता है जिसे हम क्रमशः स्वरूप और रूप कहते हैं जो श्री कृष्ण और राधा के प्रतीक हैं। साधक को आत्म विस्मृतिपूर्वक इनको प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध और सात्विक व्यक्ति को ही इसमें सहजिया मानुष कहा गया है। नाथ सम्प्रदाय का लक्ष्य विविध सिद्धियों को प्राप्त करना रहा है पर सहजिया सम्प्रदाय उसे मात्र चमत्कार प्रदर्शन मानकर गर्हित मानते हैं और सहजानंद के साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते।

सन्तों ने सहज के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया। 'सन्त कवियों तक आतेआते सहज की मिथुन परक व्याख्या का लोप होने लगता है और युग के स्वाधीनचेता कबीर सहज को समस्त मतवादों

की सीमाओं से परे परम तत्त्व के रूप में मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति मानते है जिसकी प्राप्ति एक सहज सन्तुलित जीवनचर्या द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए साधक को किसी भी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता, वरन् सारी साधना स्वयमेव सम्पन्न होती चतली है - सहजे होय सौ क्येय'।[२७८] सहज साधक अथक विश्वास और एकान्तनिष्ठा के साथ सहज साधना करता है और 'सबद' को समझकर ही आत्म तत्त्व को प्राप्त करने में ही समर्थ होता है -

सन्तों देखत जग बौराना।
सांच कहौं तो मारन धावै, झूठहिं जग पतियाना।
नेमिदेखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पषानहिं पूजहिं करहिं असनाना।
आतम मारि पषानहिं पूजहिं उनिमह किछउ न ज्ञाना।।
हिन्दू कहहिं मोहि राम पियारा, तुरुक कहहिं रहिमाना।
आपस में दोउ लरि मुये, मरम न कोई जाना।।
कहहि कबीर सुनहु हो सनतो, ई सम भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानैं, सहजै सहज समाना।।[२७९]

नानक ने सहज स्वभाव को स्वीकार कर उसे एक सहज हाट की कल्पना दी है जिसमें मन सहजभाव से स्थिर रहता है।[२८०] दादू ने यम-नियमों के माध्यम से मन की द्वैतता दूर होने पर सम स्वभाव की प्राप्ति बताई है।[२८१] यही समरसता है और इसी से पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[२८२] यम नियमों की साधना अन्य निर्गुणी सन्तों ने भी की है। सुन्दरदास और मूलकदास इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।[२८३] सूर और तुलसी जैसे सगुण भक्तों में यह परम्परा दिखाई नहीं देती। मीरा के

निम्नलिखित उद्धरण से यह अवश्य लगता है कि उन्होंने प्रारंभ में किसी योग साधना का अवलम्बन लिया होगा। प्रेम साधना की ओर लग जाने पर उनको योग से विरक्ति हो जाना स्वाभाविक था -

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान करी को लगाओ।।
गल विच सैली हाथ हाजरियों अंग भभूत रमायो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सौ ही पायो।।[२८४]

एक अन्य स्थान पर भी मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं - 'जिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।'[२८५]

जैनधर्म में योग की एक लम्बी परम्परा है। पंचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर विजय' का विशेष महत्त्व है। उसे ही 'सत्यब्रह्म' का दर्शन माना गया है - 'अन्तर विजय सूरतासांची, सत्यब्रह्म दर्शन निरवांची।'[२८६] ऐसा ही योगी अभयपद प्राप्त करता है - 'ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भव में आवै'।[२८७] यही निर्विकल्प अवस्था है जिसे आत्मा की परमोच्च अवस्था कह सकते हैं। यहीं साधक समरस में रंग जाता है - 'समरस आवै रंगिया, अव्या देखई सोई।'[२८८] द्यानतराय ने उसे कबीर के समान[२८९], गूंगे का गुड़' माना है[२९०] और दौलतराम ने 'शिवपुर की उगर समरस सौं भरी' कहा है।[२९१]

आनन्दतिलक पर हठयोग का प्रभाव दिखाई देता है जो अन्य जैनाचार्यो पर नहीं है। 'अवधू' शब्द का प्रयोग भी उन्होंने अधिक किया है।[२९२] पीताम्बर ने सहज समाधिको अगम और अकथ्य कहा है।[२९३] द्यानतराय ने 'अनहद' शब्द को भी सुना है।[२९४] समरसता मध्यकाल की एक सामान्य विशेषता है अवश्य पर उसे नाथ सम्प्रदाय की देन नहीं कही जा सकती। उसे तो समान स्वर से सभी योगियों ने

स्वीकारा है। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि योगी समरसी होकर परमानन्द का अनुभव करता है।[२९५] योगीन्दु ने भी इसी ब्रह्मैक्य की बात कही है।[२९६] रामसिंह ने इस समरसता के बाद किसी भी पूजा या समाधि की आवश्यकता नहीं बताई है।।[२९७]

इस प्रकार मध्यकाल में हिन्दी जैन-जैनेतर कवियों ने योगा और सहज साधना का अवलम्बन अपने साध्य की प्राप्ति के लिए किया है। ब्रह्मत्व या निरंजन की अनुभूति के बाद साधक समरसता के रंग में रंग जाता है। रहस्य भावना का यह अन्यतम उद्देश्य है।

२. भावमूलक रहस्य भावना

१. अनुभव

आध्यात्मिक साधना किंवा रहस्य की प्राप्ति के लिए स्वानुभूति एक अपरिहार्य तत्त्व हैं। इसे जैन-जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वीकार किया है। तर्क प्रतिष्ठानात्[२९८] जैसे वाक्यों से एक तथ्य सामने आता है कि आत्मानुभूति में तर्क और वादविवाद का कोई स्थान नहीं हैं 'न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा',[२९९] और 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्त मनसा सहं'[३००] भी यही मत व्यक्त करते हैं। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, जैनधर्म में भेदविज्ञान, स्वपर विवेक, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार आदि से उत्पन्न होने वाले अनुभव को चिदानन्द चैतन्य रस, अनिर्वचनीय आनन्द आदि जैसे शब्दों से प्रगट किया गया है। बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार के साक्षात्कार की अनेक घटनाओं और कथनों का उल्लेख मिलता है।

कबीर ने 'राम रतन पाया रे करम विचारा' नैना बैन

अगनेचरी,[३०१] 'आप पिछानै आपै आप'[३०२] जैसे उद्धरणों के माध्यम से अनुभव की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। उन्होंने अद्वैतवाद का सहारा लेकर तत्त्व का अनुभव किया। इस अनुभव में तर्क का कोई उपयोग नहीं। तर्क से अद्वैतवाद की स्थापना भी नहीं होती बल्कि अनेकत्व का सृजन होता है इसलिए कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र में तर्क को प्रतिष्ठित करने वालों के लिए 'मोही मन वाला' कहा है।[३०३] और 'खुले नैन पहिचानौ हंसि-हंसि सुन्दर रूप निहारौ'[३०४] की प्रेरणा दी है। दादू ने भी इसी प्रकार से 'सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज सरूप' के रूप में अनुभव किया।[३०५] यह आत्मानुभव वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने पर ही हो पाता है।[३०६] इससे एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है -

आपहि आप विचारिये तव केता होय आनन्द रे।[३०७]

बनारसीदास ने कबीर और अन्य सन्तों के समान आत्मानुभव को शान्ति और आनन्द का कारण बताया है।[३०८] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर से दमकती हुई सन्तापदायक भावों को चीरकर प्रगट होती है और सहज शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[३०९]

कबीर आदि सन्तों ने आत्मानुभव से मोहादि दूर करने की बात उतनी अधिक स्पष्ट नहीं की जितनी हिन्दी जैन कवियों ने की। जैन कवि रूपचन्द का तो विश्वास है कि आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अन्धेरा नष्ट हो जाता है। अनेकान्त की चिर नूतन किरणों का स्वच्छ प्रकाश फैल जाता है, सत्तारूप अनुपम अद्भुत ज्ञेयाकर विकसित हो जाता है, आनन्द कन्द अमन्द अमूर्त आत्मा में मन बस जाता है तथा उस सुख के सामने अन्य सुख वासे-से प्रतीत होने लगते

हैं। इसलिए वे अनादिकालीन अविद्या को सर्वप्रथम दूर करना चाहते हैं ताकि चेतना का अनुभव घट-घट में अभिव्यक्त हो सके।[३१०] द्यानतराय ने भी आत्मानुभव को अद्वैतावस्था की प्राप्ति और भववाधा दूर करने का उत्तम साधन माना है। स्व-पर विवेक तथा समता की प्राप्ति इसी से होती है।[३११] बनारसीदास आदि कवियों ने भेदविज्ञान की बात कही है पर सन्तों ने से आत्मसाक्षात्कार की भाषा दी है - 'प्राण परीचै छाण'[३१२] आपहुं आपहि जाने'।[३१३] भेदविज्ञान होने पर ही वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं - 'वस्तु विचारत ध्यावतै मन पावै विश्राम'।[३१४] दादू ने इसी को 'ब्रह्मदृष्टि परिचय भया तब दादू बैठा राखि'[३१५] कहा और सुन्दरदास ने 'साक्षात्कार याही साधन करने होई, सुन्दर कहत द्वैत बुद्धि कू निवारिये' माना है।[३१६] इससे स्पष्ट है कि भवमूलक रहस्यभावना में साधक की स्वानुभूति को सभी आध्यात्मिक सन्तों ने स्वीकार किया है।

भावमूलक रहस्यभावना का सम्बन्ध ऐसी साधना से है जिसका मूल उद्देश्य आध्यात्मिक चिरन्तन सत्य और तज्जन्य अनुभूति को प्राप्त करना रहा है। इसकी प्राप्ति के लिए साधक यम-नियमों का तो पालन करता ही है पर उसका प्रमुख साधन प्रेम या उपासना रहता है। उसी के माध्यम से वह परम पुरुष, प्रियतम, परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उससे भावात्मक ऐक्यानुभूति की क्षमता पैदा करता है। इस साधना में साधक के लिए गुरु का विशेष सहारा मिलता है जो उसकी प्रसुप्त प्रेम भावना को जाग्रत करता है। प्रेम अथवा रहस्य भावना जाग्रत हो जाने पर साधक दाम्पत्यमूलक विरह से संतप्त हो उठता है और फिर उसकी प्राप्ति के लिए वह विविध प्रकर की सहज योगसाधनाओं का अवलम्बन लेता है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की रहस्य-भावना हम विशेष रूप से सूफी, कबीर और मीरा की साधना में पाते हैं।

२. सूफी रहस्य भावना

भारतीय सूफी कवियों ने सूफीमत में प्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों को अन्तर्भुक्त किया है और उन पर भारतीय परम्पराओं का आवरण डाला है। उसकी परमसत्ता अलख, अरूप एवं अगोचर है, फिर भी वहां समस्त जगत के कण-कण में व्याप्त है -अलख रूप अकबर सो कर्ता। वह सबसौं, सब ओहिसौं भर्ता।'' वह सृष्टि का कारक, धारक और हारक है।[३१७] वह महान् शक्तिशाली, करुणाशील और सौन्दर्यशील है। कर्तव्य और करुण उसके आधार स्तम्भ हैं जिस प्रकार सरोवर में पड़ा प्रतिबिम्ब समीपस्थ होते हुए भी अग्राह्य है। उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा का भी पाना सरल नहीं है।[३१८] उस परमात्मा के मूर्त और अमूर्त दोनों स्वरूपों का वर्णन सूफी कवियों ने किया है। आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति को भी उन्होंने स्वीकार किया है। जो भी अन्तर है पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक ह। उसका व्यावहारिक स्वरूप मायागर्भित होता है।

सूफी साधना में साधक की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है -

१) शरीअत अर्थात् आचार या कर्मकाण्ड का पालन

२) तरीकत अर्थात् बाह्य क्रियाकाण्ड को छोड़कर आन्तरिक शुद्धि पूर्वक परमात्मा का ध्यान करना।

३) हकीकत अर्थात् परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होना, और

४) मार्फत् अर्थात् सम्यक् साधना द्वारा आत्मा को परमात्मा में विलीन होने की क्षमता प्राप्त होना।

साधक इन चारों अवस्थाओं को पार करने में परमात्मा के गुणों का चिन्तन (जिक्र) करता है, राग, अहंकार आदि मानसिक वृत्तियों को दूर करता है (फिक्र), अपने धर्म ग्रंथ (कुरान-शरीफ) का अभ्यास (तिलवत) करता है और तदनुसार नामस्मरण, व्रत, उपवास दानादिक क्रियायें करता है।

सूफी सन्तों ने आध्यात्मिक सत्ता को प्रियतम के रूप में देखा है और उसके दर्शन की तडफन में अपने को डुबोया है। इसी में वे समरस हुए हैं।

'सूफियों का प्रेम 'प्रच्छन्न' के प्रति है। सूफी अपनी प्रेम व्यंजना साधरण नायक-नायिका के रूप में करते हैं। प्रसंग सामान्य प्रेम का ही रहता है किन्तु उसका संकेत 'परम प्रेम' का होता है। बीच में आने वाले रहस्यात्मक स्थल इस सारे संसार में उसी की स्थिति को सूचित करते हैं साथ ही सारी सृष्टि को उस एक से मिलने के लिए चित्रित करते हैं। लौकिक एवं अलौकिक प्रेम दोनों साथ-साथ चलते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत की योजना होती है। वैष्णव भक्तों की भांति इनकी प्रेम व्यंजना के पात्र अलौकिक नहीं होते। लौकिक पात्रों के मध्य लौकिक प्रेम की व्यंजना करते हुए भी अलौकिक की स्थापना करने का दुरूह प्रयास इन सूफी प्रबन्ध काव्यों में सफल हुआ है।'[३१९]

प्रेम के विविध रूप मिलते हैं। एक प्रेम तो वह है जिसका प्रस्फुटन विवाह के बाद होता है। दूसरा प्रेम वह है जिसमें प्रेमियों का आधार एवं आदर्श दोनों ही विरह हैं। तीसरे प्रेम में नारी की अपेक्षा नर में विरहाकुलता दिखाई देती है और चौथे प्रेम में प्रेम का स्फुरण चित्रदर्शन, साक्षात् दर्शन आदि से होता है। 'प्रेम के इस अन्तिम स्वरूप, जिसका आरम्भ गुण श्रवण, चित्रदर्शन, साक्षात् दर्शन आदि से होता है, इसका परिचय सूफी प्रेमाख्यानों में मिलता है। लगभग

सभी नायक नायिका का, जो परमात्मा का स्वरूप है, रूप गुण वर्णन सुनकर अथवा स्वप्न में या साक्षात् देखकर उसके विरह में व्याकुल होकर घरबार छोडकर योगी बन जाते हैं। गुणश्रवण के द्वारा प्रेम भावना जाग्रत होने वाली कथाओं के अन्तर्गत 'पद्मावत', 'हंसजाहर', 'अनुरागवांसुरी', 'पुहुपावती' आदि कथायें आती हैं। 'छीता' प्रेमाख्यान में गुणश्रवण से आकर्षण एवं पश्चात् साक्षात् दर्शन से प्रेम जाग्रत होता है। चित्रदर्शन से प्रेमोद्भूत होने वाली कथाओं में चित्रित होने वाली कथाओं में 'चित्रावली' 'रतनावली' आदि कथायें आती हैं। स्वप्न दर्शन के क्षण प्रेम जाग्रत होने वाली कथायें अधिक हैं। 'कनकावती', 'कामलता', 'इन्द्रावती', 'युसूफ जुलेखा', 'प्रेमदर्पण' आदि प्रेमाख्यान इसके अन्तर्गत आते हैं। साक्षात् दर्शन के द्वारा जागृति का वर्णन मधुमालत, मधकरमालति एवं भाषा प्रेमरस आदि में मिलता है।'[३२०]

सूफी कवियों में जायसी विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अन्योक्ति और समासोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत वस्तु से अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत कर आध्यात्मिक तथ्यों की ओर संकेत किया है। सूर्यचन्द्र साधना के प्रकाश में डॉ. त्रिगुणायत ने पद्मावत की कथा की अन्योक्तियों को इस प्रकार समझाया है -[३२१]

१) सिंहल दीप - सहस्रार कमल
२) मानसरोवर - ब्रह्मरन्ध्र
३) तोता - गुरु
४) रतनसेन - योगी साधक
५) नागमति - माया
६) पद्मावती - शुद्ध ज्योति स्वरूपी जीवात्मा जिसमें शिव शक्ति प्रतिष्ठित रहती है।

७) सात समुद्र - षट्चक्र और सतवां सहस्रार।

८) मंडप - ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा परमात्मा का मिलन

यहां रतनसेन एक साधक की आत्मा को व्यंजित करने वाला तत्त्व है जिसमें स्वयं की अनन्त शक्ति भरी हुई है। वह मन का प्रतीक है जो नागमति रूपिणी माया में आसक्त है। तोता रूप गुरु के मिल जाने पर उसकी ज्ञान बुद्धि जाग्रत हो जाती है और वह पद्मावत रूपी शुद्ध-बुद्ध शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साध्य के दर्शन में साधक के लिए भूख-प्यास की भी बाधा प्रतीत नहीं होती। उसका दर्शन दीपक के समान है जहां वह पतंग के समान भिखारी बन जाता है।[३२२] प्रियतम का दर्शन मात्र ही साधक का अज्ञान दूर करने में पर्याप्त होता है। तोते रूपी गुरु के मुख से पद्मावती रूपी साध्य पुरुष का रूप वर्णन सुनकर रतनसेन रूपी साधक मूर्छित हो गया। उह उसके प्रेम से तड़पने लगा। संसार के मायाजाल में फंसे रहने के कारण साधक साध्य का दर्शन नहीं कर पाता और यही उसके विरह का कारण होता है। अन्ततोगत्वा रतनसेन (साधक) 'दुनिया का धन्धा' रूपिणी नागमती को छोड़कर पद्मावती रूपी परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। फिर भी उसका मन पूर्णतः परिष्कृत न होने से पतित हो जाता है और भव-सागर में डूबता उतरता रहता है। साधक को जब इस तथ्य का अनुभव होता है तब वह पश्चात्ताप करता है कि मैने तो 'मोर-मोर' कहकर अहंकार और माया सब कुछ गंवा दिया। पर परमात्मा (पद्मावती) का साक्षात्कार नहीं हुआ। वह परमात्मा रूप पद्मावती कहां है ?[३२३] वह विरह ही रहस्यवादी साधक का प्राण है। वही उसकी जिजीविषा है। इस विरह को जायसी ने 'प्रेम-घाव' के रूप में चित्रित

किया।[३२४] वह सारे शरीर को कांटा बना देता है। साधक साध्य की विरहाग्नि में जलता रहता है पर दूसरे को जलने नहीं देता। प्रेम की चिनगारी से आकाश और पृथ्वी, दोनों भयवीत हो जाते हैं।[३२५]

पद्मावती के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन भक्त कवि ने किया है। मान-सरोवर ने पद्मावती को पाकर कैसा हर्ष व्यक्त किया यह पद्मावत में देखा जा सकता है।[३२६] उसके दिव्य रूप को जायसी ने 'देवता हाथ-हाथ पगु लेही। जहं पगु धरै सीस तहं दही' के रूप में चित्रित किया है।[३२७] उनका परमात्मा प्रेम भी अनुपम है। आकाश जैसा असीम है, ध्रुवनक्षेत्र से भी ऊंचा है। उसका दर्शन वहीं कर सकता है जो शिर के बल पर वहां तक पहुंचना चाहता है।[३२८] परमात्मा की यह प्राप्ति सदाचार के पालन, अहं के विनाश, हृदय की शुद्धता एवं स्वयंकृत पापों का प्रतिक्रमण (तोबा) करने से होती है।[३२९]

इस आध्यात्मिक विरह से प्रताडित होकर रतनसेन पद्मावती से मिलन करने के लिए प्रयत्न करता है। उसकी साधना द्विमुखी होती है - अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी साधना में साधक अपने हृदयस्थ प्रियतम की खोज करता है और बहिर्मुखी साधना में वह उसे सारे विश्व में खोजता है। अन्तर्मुखी रहस्यवाद शुद्धभावमूलक और योगमूलक दोनों प्रकार का होता है। बहिर्मुखी रहस्यवाद में प्रकृतिमूलक, अभिव्यक्तिमूलक आदि भेद आते हैं। इस प्रकार जायसी का भावमूलक रहस्यवाद अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी उभय प्रकार का है।[३३०]

जायसी अन्तर्मुखी प्रक्रिया के विशेष धनी हैं। उन्होंने सिंहल गढ़ को हृदय का प्रतीक बनाकर उसमें परमात्मा का निवास बताया है। माया आदि जैसे तत्त्वों के कारण प्रियतम के उसे दर्शन ही नहीं हो

पाते। रतनसेन दर्शन के लिए इतना तड़प उठता है कि सात पाताल खोजकर और सात स्वर्गो में दौड़कर पद्मावती को खोजने कि बात करता है।[३३१] साधक घनघोर तप और साधना करता है। तब कहीं प्रियतम के देश में पहुंच पाता है। जायसी ने उस देश का वर्णन किया है। जहां न दिन होता है न रात, न पवन है न पानी।[३३२] उस देश में पहुंचकर प्रियतम से भेंट की आतुरता बढ़ जाती है। पर वह अपरिचित है और फिर इधर दुष्टों का घेरा है जिसे किसी तरह से साधक साध्य का साक्षात्कार करता है और उसके बाद आध्यात्मिक विवाह की अवस्था होती है जिसका महत्व रहस्यवाद में बहुत अधिक है। रतनसेन और पद्मावती का विवाह ऐसे ही विवाह का प्रतीक माना गया है। इस विवाह का वर्णन यद्यपि भौतिक जैसा लगता है पर वह वस्तुतः है आध्यात्मिक ही है। वर-वधु की गांठ इतनी दृढ़ता से जुड़ जाती है कि वह आगे के भावों में भी नहीं छूट पाती। मंगालाचार होते हैं मन्त्र-पाठ पढ़ा जाता है और चांद-सूर्य का मिलन होता है।[३३३]

आध्यात्मिक विवाह के उपरान्त साधक साध्य के प्रति पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर देता हैं दोनों तन्मय हो जाते हैं। साधक-साध्य का मिलन भी आध्यात्मिक मिलन है जिसे मानसरोवर खण्ड में चित्रित किया गया है। मिलन होते ही रतनसेन पद्मावती के चरण स्पर्श करता है। चरण स्पर्श करते ही वह ब्रह्म रूप हो जाती है।[३३४] यही अवस्था रहस्यानुभूति की चरम अवस्था है। जायसी ने इसका वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से किया है। रतनसेन अपने आप को पद्मावती के लिए सौंप देता है। उसका शरीर मात्र उसके साथ है। जीव पद्मावती में मिल गया। इसलिए दुःख-सुख जो भी होगा, वह शरीर को नहीं, जीव को होगा, रतनसेन के जीव को नहीं। पद्मावती ने रतनसेन को

आश्वासन दिया कि जीवित रहेंगे तो साथ रहेंगे और मरेंगे तो साथ रहेंगे।[३३५] यह तादात्म्य अवस्था का बहुत सुन्दर चित्रण है।

तादात्म्य होने पर साधक को आराध्य के अतिरिक्त और कोई नहीं दिखाई देता। रतनसेन को पद्मावती के अतिरिक्त सुन्दरी अप्सरा आदि का रूप नहीं दिखाई देता। उसी के स्मरण में उसे परमानन्द को अनुभूति होती है[३३६]। धीरे-धीरे अद्वैत स्थिति आती है और दोनों एक दूसरे में ऐसे रम जाते हैं कि उन्हें सारा विश्व प्रकाशित दिखाई देने लगता है। वे ससीमता से हटकर असीमता में पहुंच जाते हैं, रतनसेन और पद्मावती इस प्रकार से एक हुए जैसे दो वस्तुएँ औंट कर एक हो जाती हैं।[३३७]

सूफी कवियों में मिलन की पांच अवस्थाओं का वर्णन मिलता है - फना, फक्द, सुक्र, वज्द और शह। फना में साधक साध्य के व्यक्तित्त्व के साथ बिलकुल घुल-मिल जाता है। वह अपने अहं के अस्तित्व को भूल जाता है।[३३८] फक्द अवस्था में वह उसके नाम और रूप में रम जाता है।[३३९] सुप्त अवस्था में साधक साध्य के रूप का पानकर उन्मत्त हो जाता है, आनन्द विभोर हो जाता है।[३४०] वज्द अवस्था में साधक को परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है और शह में उसे पूर्ण शान्ति मिल जाती है।[३४१] जायसी में पांचों अवस्थायें उपलब्ध होती हैं।

जायसी ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए प्रकृति को भी एक साधन बनाया है। सृष्टि का मूल तत्त्व अद्वैत था। अविद्या आदि कारणों से उसमें द्वैत तत्त्व आया जो भ्रान्ति मूलक था। भ्रान्ति के दूर होते ही साधक स्वयं में और साध्य में तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस सन्दर्भ में रहस्यवादी कवि का प्रकृति वर्णन शुद्ध भौतिक न होकर

काल्पनिक, दिव्य और रहस्यवादी होता है। कभी-कभी अपनी प्रणय भावना को भी वह प्रकृति के माध्यम से व्यंजित करता है।

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार की संकेतात्मक, प्रतीकात्मक, व्यंजनापरक एवं आलंकारिक शैलियों में की जाती है। इन शैलियों में अन्योक्ति शैली, समासोक्तिशैली, संवृत्ति वक्रतामूलक शैली, रूपक शैली, प्रतीकात्मकशैली विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन शैलियों में जायसी ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इसे उनका आध्यात्मिक रहस्यवाद कह सकते हैं।[३४२]

सूफी काव्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम और रूप का अजस्र सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि वे रूप को खुदा की प्रतिच्छवि मानते हैं।[३४३] जीवात्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम को उन्होंने कई प्रतीकों द्वारा व्यंजित किया है जिनमें कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक एवं पतंग, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हिरण प्रमुख हैं। इन प्रतीकों से कवि स्पष्ट ही साधक और साध्य के बीच के व्यवधान की ओर संकेत करता है अवश्य पर उनमें विद्यमान आनन्द, एकनिष्ठता और त्याग सराहनीय हैं[३४४] हर सूफी साधक जगत को एक दर्पण मानता है जिसमें ब्रह्म अथवा ईश्वर प्रतिबिम्बित होता है। मानसरोवर रूपी दर्पण में पद्मावती रूपी विराट ब्रह्म के रूप से सारा संसार अवभासित होता है। अद्वैतवाद को स्पष्ट करने का यह सरलतम मार्ग सूफी साधकों ने खोज निकाला। परमात्मा रूप प्रियतम के विरह ने इसमें संवेदनशीलता की गहरी अनुभूति जोड़ दी जिसे साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में हम एक विशेष योगदान कह सकते हैं।

३. निर्गुण भक्तों की रहस्य भावना

मध्यकालीन हिन्दी सन्तों ने भी सूफी सन्तों के समान अपनी रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त किया है। उनकी रहस्यभावना को सूफी, वैदिक, जैन और बौद्ध रहस्यभावनाओं का संमिश्रित रूप कहा जा सकता है। माया आदि के आवरण से दूर प्रेम की प्रकर्षता यहां सर्वत्र देखी जा सकती है। माया के कारण ब्रह्ममिलन न होने पर विरह की वह दशा जाग्रत होती है जो साधक को परम सत्य की खोज में लगाये रखती है।

सन्तों का ब्रह्म (राम) निर्गुण और निराकार है - निर्गुण राम जयहु रे भाई।[३४५] वह अनुपम और अरूपी है।[३४६] उसके वियोग में कबीर की आत्मा तड़पती हुई इधर-उधर भटकती है। पर उसका प्रियतम तो निर्गुण है। 'अबला के पिऊ-पिउ' वाले आर्तस्वर से भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[३४७] पिया मिलन की आस लेकर आखिर वह कब तक खड़ी रहे - 'पिया मिलन की आस, रही कब ली खरी'। पिया के प्रेम रस में कबीर ने अपने आपको भुला दिया। एक म्यान में दो तलवारें भला कैसे रह सकती हैं ? उन्होंने प्रेम का प्याला खूब पिया। फलतः उनके रोम-रोम में वही प्रेम बस गया। कबीर ने गुरु-रस का भी पान किया है, छाछ भी नहीं बची। वह संसार-सागर से पार हो गया है। पके घड़े को कुम्हार के चाक पर पुनः चढ़ाने को क्या अवश्यकता ?

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान।
कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय।
कबिरा हम गुरु रस पिया बाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढसि चाक।[३४८]

सन्तों ने वात्सल्य भाव से भगवान को कभी माता रूप में माना तो कभी पिता रूप में।[३४९] परन्तु माधुर्य भाव के उदाहरण सर्वोपरि हैं। उन्होंने स्वयं को प्रियतम और भगवान् को प्रियतम की कल्पना कर भक्ति के सरस प्रवाह में मनचाहा अवगाहन किया है - हरि मेरो पीउ मैं हरि की बहुरिया।[३५०] दादू, सहजोबाई, चरनदास आदि सन्तों ने भी इसी कल्पना का सहारा लिया है। उनके प्रियतम ने प्रिया के लिए एक विचित्र चूनरी संवार दी है जिसे विरला ही पा सकता है। वह आठ प्रहर रूपी आठ हाथों की बनी है और पंचतत्त्व रूपी रंगों से रंगी है। सूर्यचन्द्र उसके आंचल में लगे हैं जिनसे सारा संसार प्रकाशित होता है। इस चूनरी की विशेषता यह है कि इसे किसी ने ताने-बाने पर नहीं बुना। यह तो उसे प्रियतम ने भेंट की है -

चुनरिया हमरी पिया ने संवारी, कोई पहिरै पिया की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया, पंचरंग पटिया पारी।।
चांद सुरज जामैं आंचल लागे, जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी।।[३५१]

कबीर के प्रियतम की छवि विश्व व्यापिनी है। स्वयं कबीर भी उसमें तन्मय होकर 'लाल' हो जाते हैं।[३५२] उसके विरह से विरहिणी क्रौंच पक्षी के समान रात भर रोती रहती है वियोग से सन्तप्त होकर वह पथिकों से पूछती है - प्रियतम का एक शब्द भी सुनने कहां मिलेगा ? उसकी व्यथा हिंचकारियों के माध्यम से फूट पड़ती है -

आइ न सकों तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ।।
अंघड़िया झाई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि।।
इन तन के दीवा कसैं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचो तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव।।[३५३]

निम्न पंक्तियों में प्रियतम के विरह का और भी संवेदन दृष्टव्य है -

चकबी विछुरी रेणिकी, आइ मिली परमाति।
जे जन विछुरे राम से, ते दिन मिले न राति।।
बासरि सुख न रेंण सुख, नां सुख सपुनै मांहि।
कबीर विछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छांह।।
विरहिन ऊभी पंथसिरि, पंथी बूम्दै धाइ।
एक सबद कहि पीवका, कबरै मिलैंगे आइ।।[३५४]

आत्मसमर्पण के लिए कवियों ने आध्यात्मिक विवाह का सृजन किया है। पत्नी की तन्मयता पति में बिना विवाह के पूरी नहीं हो पाती। पीहर में रहते हुए भी उसका मन पति में लगा रहता है। पति से भेंट न होने पर भी पत्नी को उसमें सुख का अनुभव होता है। करुण आन्दन में ही उसके प्रिय का वास है। प्रिय का मिलन हंसी मार्ग से नहीं मिलता। उसके लिए तो अश्रु प्रवाह की एक सरल मार्ग है -

अंखड़ियां झांई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड्या राम पुकारि पुकारि।।२२।।
नैना नीझर लाइया, रहट वसै निस-जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबस मिलहुगे राम।।२४।।
अंखड़ि प्रेम कसाइयां, लोग जाणै दुःखड़ियां।
साई अपणैं कारणैं, रोई रोई रत्तड़ियां।।२५।।
हंसि हंसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ।
जो हंसि हंसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ।।[३५५]

प्रियतम रूप परमात्मा का प्रेम वैसा ही होता है जैसा कि मीन को नीर से, शिशु को क्षीर से, पीड़ित को औषधि से, चातक को स्वाति से, चकोर को चन्द से, सर्प को चन्दन से, निर्धन को धन से, और

कामिनी को कन्त से होता है।[३५६] प्रेम से व्यथित होकर प्रेमी अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रिय का ही दर्शन करता है -

कबीर रेख सिन्दूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमइया रमि रहया, दूजा कहां समाई।।
नैना अन्तरि भाव तूं ज्यूं हीं नैन झंपेउ।
नां हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं।।[३५७]

प्रियतम के ध्यान से कबीर की द्विविधा का भेद खुल जाता है और मन मैल धुल जाता है - दुविधा के भेद खोल बहुरिया मनकै धोवाइ।' उनकी चूनरी को भी साहब ने रंग दिया। उसमें पहले स्याही का रंग लगा था। उसे छुटाकर मजीठा का रंग लगा दिया जो धोने से छूटता नहीं बल्कि स्वच्छ-सा दिखता है। उस चूनरी को पहनकर कबीर की प्रिया समरस हो जाती है-

साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग।
धोय से छूटे नहीं रे दिन-दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल में पगेम रंग देइ बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर।।
साहिब ने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर बार दूं, रे तल मन धन और प्रान।।
कहें कबीर रंगरेज प्यारे मुझपर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढि के रे भइ हैं मगन निहाल।।[३५८]

प्रियतम से प्रेम स्थापित करने के लिए संसार से वैराग्य लेने की

आवश्यकता होती है। संसार से विरक्त होकर प्रिया प्रियतम में अपने को रमा लेती है।[३५९] और उसके विरह में मन के विकारों को जला देती है।[३६०] मिलन होने पर वह प्रिय के साथ होरी खेलना चाहती थी पर प्रिय बिछुड़ ही गया।[३६१] मिलन अथवा विवाह रचाने का उद्देश्य परमपद की प्राप्ति थी।[३६२] कबीर ने इस आध्यात्मिक विवाह का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है -

दुलहिन गावो मंगलाचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करि हूं पंच तत्त्व वराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं जीवन मदमाती।।
सरीर सरोवर वेदी करि हूं ब्रह्मा वेद उचारै।
रामदेव संग भवंरि लेहूं धनि-धनि भाग हमारै।।
सुर तेतिस कोटिक आये मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चते पुरुष एक अविनाशी।।[३६३]

अविनाशी पुरुष से विवाह करने के बाद कबीर का पीतम बहुत दिनों में घर आता है - ''बहुत दिनन में प्रीतम आए।'' कवि की प्रिया उसे प्रभात मानती है।[३६४] बाद में तादात्म्य की सही अनुभूति मधुर मिलन और सुहागरात में होती है। वहीं कबीर की प्रिया अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती है -

अविगत अकल अनूपम देखा, कहता कही न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई।।

इसी अवस्था में साधक और साध्य जल में जल के समान मिलकर अद्वैत हो जाते हैं-

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कह्यो गियानी।।

अद्वैत स्थिति में प्रिया और प्रियतम के बीच यह भावना प्रस्थापित हो जाती है - हरि मरि हैं तो हमहु मरि हैं।

हरि न मरें तो हम काहे को मरैं।।

इस प्रकार निर्गुणिया सन्त आध्यात्मिकता, अद्वैत और पवित्रता की सीमा में घिरे रहते हैं। उनकी साधना में विचार और प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है तथा ब्रह्मजिज्ञासा से वह अनुप्राणित है। अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवादियों का निर्गुण उपास्य प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य सजीव और वैयक्तिक होता है। ये विशेषतायें सन्तों के रहस्यवादी प्रियतम में संनिविष्ट मिलती हैं। प्रेम, गुरु, विरह, रामरस ये रहस्यवाद के प्रमुख तत्त्व हैं। अण्डरहिल के अनुसार प्रेम मूलक रहस्यवाद की पांच अवस्थायें होती हैं - जागरण, परिष्करण, अंशानुभूति, विघ्न और मिलन। सन्तों के रहस्यवाद में ये सभी अवस्थायें उपलब्ध होती हैं। उनकी रहस्यभावना की प्रमुख विशेषतायें हैं - सर्वव्यापकता, सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति प्रवृत्यात्मकता, कथनी-करनी में एकता, कर्म-भक्ति-प्रेम-ज्ञान में समन्वयवादिता, अद्वैतानुभूति और जन्मान्तरवादिता।[३६५]

४. सगुण भक्तों की रहस्यभावना

सगुण साधकों में मीरा, सूर और तुलसी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मीरा का प्रेम नारी सुलभ समर्पण की कोमल भावना गर्भित 'माधुर्य भाव' का है जिसमें अपने इष्टदेव की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है। उनका कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं, वे तो मात्र भक्ति की साकार भावना की प्रतीक हैं जिसमें चिरन्तन प्रियतम के पाने के लिए मधुर प्रणय का मार्मिक स्पन्दन हुआ है। 'म्हारो तो गिरधर गौतम और दूसरा न कोई' अथवा 'गिरधर से नवल ठाकुर मीरां

सी दासी' जेसे उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने गिरधर कृष्ण को ही अपना परम साध्य और प्रियतम स्वीकार किया है। सूर, नन्ददास आदि के समान उन्हें किसी राधा की आवश्यकता नहीं हुई। वे स्वयं राधा बनकर आत्मसमर्पण करती हुई दिखाई देती हैं। इसलिए मीरा की प्रेमा भक्ति परा भक्ति है जहां सारी इच्छायें मात्र प्रियतम गिरधर में केन्द्रित हैं। सख्य भाव को छोड़कर नवधा भक्ति के सभी अंग भी उनके काव्य में मिलते हैं। एकादश आसक्तियों में से कान्तासक्ति, रूपासक्ति और तन्मयासक्ति विशेष दृष्टव्य हैं। प्रपत्त भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। उनकी आत्मा दीपक की उस लौ के समान है जो अनन्त प्रकाश में मिलने के लिए जल रही है।

सूफी कवियों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा के रूप में की है। उनके अद्वैत में निजी सत्ता को परमसत्ता में मिला देने की भावना गर्भित है। कबीर ने परमातमा की उपासना प्रियतम के रूप में की पर उसमें वह भाव व्यंजना नहीं दिखाई देती जो मीरा के स्वर में निहित है। मीरा के रग-रग में पिया का प्रेम भरा हुआ है जबकि कबीर समाज सुधार की ओर अधिक अग्रसर हुए हैं।

मीरा की भावुकता चीरहरण और रास की लीलाओं में देखी जा सकती है जहाँ वे 'आज अनारी ले गयी सारी, बैठी कदम की डारी, म्हारे गेल पड्यो गिरधारी' कहती हैं। प्रियतम का मिलन हो जाने पर मीरा के मन की ताप मिट जाती है और सारा शरीर रोमांचित हो उठता है-

म्हांरी ओलगिया घर आया जी।।

तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।

धन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूं आणन्द आया जी।
मगन भई मिली प्रभु अपणासूं, भो का दरद मिटाया जी।।
चन्द को देखि कमोदणि फूलै हरिख भया मेरी काया जी।
रग-रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी।
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु में पाया जी।
मीरा विरहणि सीतल होई, दुख दुन्द नसाया जी।

मीरा की तन्मयता और एकीकरण के दर्शन 'लगी मोहि राम खुमारी हो' में मिलते हैं जहां वह 'सदा लीन आनन्द में' रहकर ब्रह्मरस का पान करती है। उनका ज्ञान और अज्ञान, आनन्द और विषाद 'एक' में ही लीन हो जाता है। इसी के लिए तो उन्होंने पचरंगी चोला पहिनकर झिरमिट में आंख मिचौनी खेली है। और मनमोहन से सोने में सुहाग-सी प्रीति लगायी है। बड़े भाग से मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मीरा पर रीझे हैं।

इसी माधुर्य भाव में मीरा की चुनरिया प्रेमरस की बूंदों से भींगती रही और आरती सजाकर सुहागिन प्रिय को खोजके निकल पड़ी।[३६६] उसे वर्षात् और बिजली भी नहीं रोक सकी। प्रिय को खोने में उसकी नींद भी हराम हो गई, अंग-अंग व्याकुल हो गये पर प्रिय की वाणी की स्मृति से 'अन्तर-वेदन विरह की वह पीड़ा न जानी' गई। जैसे चातक धन के बिना और मछली पानी के बिना व्याकुल रहती है वैसे ही मीरा 'व्याकुल विरहणी सुध बुध विसरानी' बन गई। उसकी पिया सूनी सेज भयावन लगने लगी, विरह से जलने लगी। यह निर्गुण की सेज ऊंची अटारी पर लगी है, उसमें लाल किवाड़ लगे हैं, पंचरंगी झालर लगी है, माँग में सिन्दूर भरकर सुमिरण का थाल हाथ में लेकर प्रिया प्रियतम के मिलन की बाट जोह रही है -

ऊंची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहे फूलत फूल कली।।
बाजूबन्द कड़ूला सो हैं मांग सेंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भरी।।
सेज सुखमणां मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी।।[३६७]

जिनका प्रियतम परदेश में रहता है उन्हें पत्रादि के माध्यम की आवश्यकता होती। पर मीरा का प्रिय तो उनके अन्तःकरण में ही वसता है, उसे पत्रादि लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। सूर्य, चन्द्र आदि सब कुछ बिनाशीक है। यदि कुछ अविनाशी है तो वह है प्रिय परमात्मा। सुरति और निरति के दीपक में मन की वाती और प्रेम-हटी के तेल से उत्पन्न होने वाली ज्योति अक्षुण्ण रहेगी -

जिनका पिया परदेश वसत है लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीयवत है ना कहूं आती जाती।।
चन्दा जायगा सूरज जायगा जायगा धरणि अकासी।
पवन पानी दोनों हूं जांयेगे अटल रहै अविनाशी।।
सुरत निरत का दिवला संजीले मनसा की करले वाती।
प्रेम हटी का तेल मंगाले जग रहया दिन ते राती।
सतगुरु मिलिया संसा भग्या सेन बताई सांची।।
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासी।।[३६८]

डॉ. प्रभात ने मीरा की रहस्य भावना के सन्दर्भ में डॉ. शर्मा और डॉ. द्विवेदी के कथनों का उल्लेख करते हुए अपना निष्कर्ष दिया है। निर्गुण भक्त बिना बाती, बिना तेल के दीप के प्रकाश में पारब्रह्म के जिस खेल की चर्चा करता है, यह मूलतः सगुण भक्तों की 'हरिलीला' से विशेष भिन्न नहीं है। डॉ. मुंशीराम शर्मा ने वेद, पुराण, तन्त्र और

आधुनिक विज्ञान के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि 'हरिलीला आत्मशक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं का चित्रण हैं[३६९] राधा, कृष्ण, गोपी आदि सब अन्तःशक्तियों के प्रतीक है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का निष्कर्ष है कि 'रहस्यवादी कविता का केन्द्रबिन्दु वह वस्तु है जिसे भक्ति साहित्य में 'लीला' कहते हैं। यद्यपि रहस्यवादी भक्तों की भांति पद-पद पर भगवान का नाम लेकर भाव-विह्वल नहीं हो पाता किन्तु वह मूलतः है भक्त ही। ये भगवान अगम अगोचर तो हैं ही, वाणी और मन के भी अतीत है, फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रतिदिन प्रतिक्षण देखता रहता है - संसार में जो कुछ घट रहा है और घटना सम्भव है, वह सब उस प्रेममय की लीला है - भगवान के साथ यह निरन्तर चलने वाली प्रेम केलि ही रहस्यवादी कविता का केन्द्र बिन्दु है।[३७०] अतः मीरा की प्रेम-भावना में 'लीला' के इस निर्गुणत्व-निराकारत्व तक और कदाचित् उससे परे भी प्रसारित सरस रूप का स्फुटन होना अस्वाभाविक नहीं है। आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करने वाले की दृष्टि से यह यथार्थ है, सत्य है। पश्चिम के विद्वानों के अनुकरण पर इसे 'मिस्टिसिज्म' या रहस्यवाद कहना अनुचित है। यह केवल रहस (आनन्दमयी लीला) है और मीरा की भक्ति-भावना में इसी 'रहस' का स्वर है।[३७१]

सूर और तुलसी, दोनों सगुणोपासक हैं पर अन्तर यह है कि सूर की भक्ति सख्यभाव की है और तुलसी की भक्ति दास्यभाव की है। इसी तरह मीरा की भक्ति भी सूर और तुलसी, दोनों से पृथक् हैं। मीरा ने कान्ताभाव को अपनाया है। इन सभी कवियों की अपेक्षा रहस्यभावना की जो व्यापकता और अनूभुति परकता जायसी में है वह अन्यत्र नहीं मिलती। कबीर को निर्गुण अथवा सगुण के घेरे में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने यद्यपि निर्गुणोपासना अधिक की है पर

सगुणोपासना की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। उनका उद्देश्य परिपूर्ण ज्योतिरूप सत्पुरुष को प्राप्त करना रहा है।[३७२]

सूर की मधुर भक्ति के सम्बन्ध में डॉ. हरवंशलाल शर्मा के विचार दृष्टव्य हैं - "हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्रीभाव को तो प्रधानता दी है परन्तु परकीया की अपेक्षा स्वकीया भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिए उनकी प्रीति को कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियां करती हैं।" वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक-रूप है। आत्म समर्पण और अनन्य-भाव मधुरभक्ति के लिए आवश्यक है जो सूरसागर की दानलीला चीर हरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं।[३७३]

सगुणोपासना में रहस्यात्मक तत्त्वों की अभिव्यक्ति इष्ट के साकार होने के कारण उतनी स्पष्ट नहीं हो पाती। कहीं कहीं रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन अवश्य मिल जाते हैं। सूर ने प्रेम की व्यंजना के लिए प्रतीक रूप में प्रकृति का वर्णन रहस्यात्मक ढंग से किया है जो उल्लेखनीय है -

चलि सखि तिहिं सरोवर जोहि।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना विकसाहिं।।
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुवि चुनि खाहि।।[३७४]

सूर की अन्योक्तियों में कहीं-कहीं रहस्यात्मक अनूभुति के दर्शन होते हैं -

चकई री चल चरन सरोवर, जहां न मिलन विछोह।

एक अन्यत्र स्थान पर भी सूर ने सूरसागर की भूमिका में अपने इष्टदेव के साकार होते हुए उसका निराकार ब्रह्म जैसा वर्णन किया है -

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठै फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोप उपजावे।।
मन वानी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन द्यावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन पद पावै।।[३७५]

सूर के गोपाल पूर्ण ब्रह्म है। मूल रूप में वे निर्गुण है पर सूर ने उन्हें सगुण के रूप में ही प्रस्तुत किया यद्यपि है सगुण और निर्गुण, दोनों का आभास हो जाता है।

तुलसी भी सुगणोपासक है पर सूर के समान उन्होंने भी निर्गुण रूप को महत्त्व दिया है। उनको भी केशव का रूप अकथनीय लगता है -

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे।।
रविकर-नीर बसे अति दारुन मकर रूप तेहि माही।
वदन-हीन सो ग्रसे चराचर, पान करन जे जाहीं।।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ माने।
तुलसिदास परिहरे तीत भ्रम, सौं आपन पहिचानै।।[३७६]

तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी अपने आराध्य को किसी निर्गुणोपासक रहस्यवादी साधक से कम रहस्यमय नहीं बतलाते। रामचरितमानस में उन्होंने लिखा है -

"आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम जस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।।"

इस प्रकार सगुणोपासक कवियों में मीरा को छोड़कर प्राय: अन्य कवियों में रहस्यात्मक तत्त्वों की उतनी गहरी अनुभूति नहीं दिखाई देती। इसका कारण स्पष्ट है कि दाम्पत्यभाव में प्रेम की जो प्रकर्षता देखी जा सकती है वह दास्यभाव अथवा सख्य भाव में सम्भव कहां। इसके बावजूद उनमें किसी न किसी तरह साध्य की प्राप्ति में उनकी भक्ति सक्षम हुई है और उन्होंने परम ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का अनुभव किया है।

५. सूफी और जैन रहस्यभावना

मध्यकालीन सूफी हिन्दी जैन साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सूफी कवियों ने भारतीय साहित्य और दर्शन से जो कुछ ग्रहण किया है उसमें जैन दर्शन की भी पर्याप्त मात्रा रही है। जायसी ब्रह्म को सर्वव्यापक, शाश्वत, अलख और अरूपी मानते हैं।[३७७] जैनदर्शन में भी आत्मा को अरस, अरूपी और चेतना गुण से युक्त मानते हैं।[३७८] सूफियों ने मूलत: आत्मा के दो भेद किये हैं - नफस और रूह । नफस संसार में भटकनेवाला आत्मा है और रूह विवेक सम्पन्न है।[३७९] जैन दर्शन में भी आत्मा के दो स्वरूपों का चित्रण किया गया है -

परमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि में आत्मा शाश्वत है और व्यावहारिक दृष्टि से वह संसार में भटकता रहता है। सूफी दर्शन में रूह को विवेक सम्पन्न माना गया है। जैनों ने आत्मा का गुण अनन्तज्ञान-दर्शन रूप माना है। सूफी दर्शन में रूह (उच्चतर) के तीन भेद माने गये हैं - कल्व (दिल), रूह (जान), सिरै (अन्तःकरण)। जैनों ने भी आत्मा के तीन भेद माने हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। सूफियों के आत्मा का सिरै रूप जैनों का अन्तरात्मा कहा जा सकता है। यहीं से परमात्मा पद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। संसार की सृष्टि का हर कोना सूफी दर्शन के अनुसार ब्रह्म का ही अंश है।[३८०] पर जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि की समरचना में परमात्मा का कोई हाथ नहीं रहता। जैन दर्शन का आत्मा ही विशुद्ध होकर परमात्मा बनता है अर्थात् उसकी आत्मा में ही परमात्मा का वास रहता है पर अज्ञान के आवरण के कारण वह प्रकट नहीं हो पाता। जायसी ने भी गुरु रूपी परमात्मा को अपने हृदय में पाया है।[३८१] जायसी का ब्रह्म सारे संसार में व्याप्त है और उसी के रूप से सारा संसार ज्योतिर्मान है।[३८२] जैनों का आत्मा भी सर्वव्यापक है और उसके विशुद्ध स्वरूप में संसार का हर पदार्थ दर्पणवत् प्रतिभाषित होता है।[३८३]

जायसी ने ब्रह्म के साथ अद्वैतावस्था पाने में माया (अलाउद्दीन), और शैतान (राधवदूत) को बाधक तत्त्व माने हैं।[३८४] वासनात्मक आसिक्त ही माया है। शैतान प्रेम-साधना की परीक्षा लेने वाला तत्त्व है। पद्मावत में नागमती को दुनियां अंधा, अलाउद्दीन को माया एवं राघव चेतन को शैतान के रूप में इसीलिए चित्रित किया गया है। जायसी ने लिखा है - मैनें जब तक आत्मा स्वरूपी गुरु को नहीं पहिचाना, तब तक करोड़ों पर्दे बीच में थे, किन्तु ज्ञानोदय हो जाने पर

माया के सब आवरण नष्ट हो गये, आत्मा और जीवगत भेद नष्ट हो गया। जीव जब अपने आत्मभाव को पहिचान लेता है तो फिर यह अनुभव हो जाता है कि तन, मन जीवन सब कुछ वहां एक आत्मदेव है। लोग अहंकार के वशीभूत होकर द्वैत भाव में फंसे रहते हैं, किन्तु ज्यों ही अहंकार नष्ट हो जाता है।[३८५] अद्वैत स्थिति आ जाती है। माया की अपरिमित शक्ति है। उसने रतनसेन जैसे सिद्ध साधक को पदच्युत कर दिया। अलाउद्दीन रूपी माया सदैव स्त्रियों में आसक्त रहती है। छल-कपट भी उसकी अन्यतम विशेषता है। दशवें द्वार में स्थित आत्मतत्त्व को अन्तर्मुखी दृष्टि से ही देखा जा सकता है पर माया इस आत्मदर्शन में बाधा डालती है। माया को इसीलिए ठग, बटमार आदि जैसी उपमायें भी दी गई हैं। संसार मिथ्या-माया का प्रतीक है। यह सब असार है।

जैन दर्शन में माया-मोह अथवा कर्म को साध्य प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक कारण माना गया है। इसमें आसक्त व्यक्ति ऐन्द्रित सुख को ही यथार्थ सुख मानता है। यहां माया शैतान जैसे पृथक् दो तत्त्व नहीं माने गये। सारा संसार माया और मिथ्यात्व जन्य ही है। मिथ्यात्व के कारण ही इस क्षणिक संसार को जीव अपना मानता है। जायसी ने जिसे अन्तरपट अथवा अन्तरदर्शन कहा है, जैनधर्म उसे आत्मज्ञान अथवा भेदविज्ञान कहता है।[३८६] जब तक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक मिथ्यात्व, माया, कर्म अथवा अहंकार आदि दूर नहीं होते। जायसी के समान यहां जीव और आत्मा दो पृथक् तत्त्व नहीं है। जीव ही आत्मा है। उसे माया रूपी ठगिनी जब ठग लेती है तो वह संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाती रहती है।[३८७] वासना को यहां भी संसार का प्रमुख कारण माना गया है। मिथ्यात्व को दुःखदायी और आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है।[३८८]

जैन योगसाधना के समान सूफी योग साधना भी है। अष्टांगयोग और यम-नियम लगभग समान हैं। जायसी का योग प्रेम से सम्बलित है पर जैन योग में वह नहीं। जायसी ने राजयोग माना है, हठयोग नहीं। जैन भी हठयोग को मुक्ति का साधन नहीं मानते। सूफियों में जीवनमुक्ति और जीवनोत्तर मुक्ति दोनों मुक्तियों का वर्णन मिलता है। जीवन मुक्ति दिलाने वाली वह भावना है जो फना और बका को एक कर देती है। फना में जीव की सारी सांसारिक आकांक्षायें, मोह, मिथ्यात्व आदि नष्ट हो जाते हैं। जैनधर्म में इसी अवस्था को वीतराग अवस्था कहा गया है। इसी को अद्वैतावस्था भी कह सकते हैं जहां आत्मा अपनी परमोच्च अवस्था में लीन हो जाती है। यही निर्वाण है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से प्राप्त होता है।[३८] जायसी ने भी जैनों के समान तोता रूप सद्गुरु को महत्त्व दिया है। यहीं पद्मावती रूपी साध्य का दर्शन करता है।

जायसी ने विरह को प्रेम से भी अधिक महत्त्व दिया है। इसीलिए जायसी का विरह वर्णन साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में एक अनुपम योगदान है। उत्तरकालीन जैन भक्त साधक भी इस विरह की ज्वाला में जले हैं। बनारसीदास और आनन्दघन को इस दृष्टि से नहीं भुलाया जा सकता। जायसी के समान ही हिन्दी जैन कवियों ने भी आध्यात्मिक विवाह और मिलन रचाये हैं। जायसी ने परमात्मा को पति रूप माना है पर वह है स्त्री-पद्मावती। यद्यपि जैन साधकों-भक्तों ने परमात्मा को पति रूप में स्वीकार किया है पर उसका रूप स्त्री नहीं, पुरुष रहा है। बनारसीदास का नाम दाम्पत्यमूलक जैन साधकों में अग्रणीय है।

जायसी और हिन्दी जैन कवियों की वर्णन शैली में अवश्य अन्तर है। जायसी ने भारतीय लोककथा का आधार लेकर एक सरस रूपक खड़ा किया है और उसी के माध्यम से सूफी दर्शन को स्पष्ट किया है। परन्तु जैन साहित्य के कवियों ने लोक कथाओं का आश्रय भले ही लिया हो पर उनमें वह रहस्यानुभूति नहीं जो जायसी में दिखाई देती है। जैनों ने अपने तीर्थंकर नेमिनाथ के विवाह का खूब वर्णन किया और उनके विरह में राजुल रूप साधक की आत्मा को तड़फाया भी है परन्तु मिलन के माध्यम से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति के प्रस्फुटन को भूल गये, जिस जायसी ने अपने जादू भरे कमल से उसे प्राप्त कराया है, वहां पद्मावती रूपी परमात्मा भी रत्नसेन रूपी प्रियतम साधक के विरह से आकुल-व्याकुल हुई है। जैनों का परमात्मा साधक के लिए इतना तड़फता हुआ दिखाई नहीं देता वह तड़फे भी क्यों ? वह तो बेचारा वीतरागी है, रागी आत्मा भले ही तड़पती रहे।

इस प्रकार सूफी और जैन रहस्यभावना के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि सूफी कवि जैन साधना से बहुत कुछ प्रभावित रहे हैं। उन्होंने अपनी साहित्यिक सक्षमता से इस प्रभाव को भलीभांति अन्तर्भूत किया है। उनकी कथायें जहां एक तरफ लौकिक दिखाई देती हैं वहां रूपक के माध्यम से वही पारलौकिक दिखती है जबकि जैन कवि प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी इस शैली को नहीं अपना सके। उनका विशेष उद्देश्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निरूपण करना रहा। जायसी का आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं जो अन्तर्मुखी वृत्तियों के माध्यम से अद्वैत अवस्था में पहुंचे हैं जब कि जैनों का परमात्मा आत्मा की ही विशुद्धतम स्थिति है। वहां दो पृथक्-

पृथक् तत्त्व नहीं इसलिए मिलन या ब्रह्मसाक्षात्कार की समान तीव्रता होते हुए भी दिशा में अलग-अलग रही।

६. निर्गुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना

निर्गुण का तात्पर्य है-पूर्णवीतराग अवस्था। कबीर आदि निर्गुणी सन्तों का ब्रह्म इसी प्रकार का निर्गुण और निराकार माना जाता है। कबीर ने निर्गुण के साथ ही सगुण ब्रह्म का भी वर्णन किया है।[३९०] इसका अर्थ यह है कि कबीर का ब्रह्म निराकार और साकार, द्वैत और अद्वैत तथा भावरूप और अभावरूप है। जैसे जैनों के अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी हैं। कबीर पर जाने-अनजाने एक ऐसी परम्परा का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था, जो अपने में पूर्ण थी और स्पष्टतः कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसे स्वीकार किया। उन्होंने अनुभूति के माध्यम से उसे पहिचाना।[३९१] जैन परम्परा में भी आत्मा के दो रूप मिलते हैं - निकल और सकल।[३९२] इसे ही हम क्रमशः निर्गुण और सगुण कह सकते हैं। रामसिंह ने निर्गुण को ही निःसंग कहा है।[३९३] उसे ही निरंजन भी कहा जाता है।[३९४] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पंचपरमेष्ठियों में अर्हन्त और सिद्ध क्रमशः सगुण और निर्गुण ब्रह्म हैं जिसे कबीर ने स्वीकार किया है। बनारसीदास ने इसी निर्गुण को शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी और शिव संज्ञाओं से अभिहित किया है।[३९५]

कबीर की माया, भ्रम, मिथ्याज्ञान, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, आसक्ति आदि मनोविकार मन के परिधान हैं जिन्होंने त्रिलोक को अपने वश में किया है।[३९६] यह माया ब्रह्म की लीला की शक्ति है।[३९७] इसी के कारण मुनष्य दिग्भ्रमित होता है। इसलिए इसे

ठगौरी, ठगिनी, छलनी, नागनि आदि कहा गया है।[३९८] कबीर ने व्यावहारिक दृष्टि से माया के तीन भेद माने हैं - मोटी माया, झीनी माया और विद्यारूपिणी। मोटी माया को कर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत वन, सम्पदा, कनक कामिनी आदि आते हैं। पूजा-पाठ आदि बाह्याडम्बर मे उलझना भी ऐसे कर्म हैं जिनसे व्यक्ति परमपद की प्राप्ति नहीं कर पाता। झीनी माया के अन्तर्गत आशा, तृष्णा, मान आदि मनोविकार आते हैं। विद्यारूपिणी माया के माध्यम से सन्त साध्य तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। यह आत्मा का व्यावहारिक स्वरूप है।

जैनों का मिथ्यात्व अथवा कर्म कबीर की माया के सिद्धान्त के समानार्थक है। कबीर के समान जैन कवियों ने भी माया की ठगिनी कहा है। कबीर की मोटी माया जैनों का कर्म है जिसके कारण जीव में मोहासक्ति बनी रहती है । जैसा हम देख चुके हैं, जैन कवि भी कबीर के समान बाह्याडम्बर के पक्ष में बिलकुल नहीं हैं । वे तो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए विशुद्ध साधन को ही अपनाने की बात करते हैं। विद्यारूपिणी माया का सम्बन्ध मुनियों के चारित्र से जोड़ा जा सकता है। कबीर और जैनों की माया में मूलभूत अन्तर यही है कि कबीर माया को ब्रह्म की लीला शक्ति मानते हैं पर जैन उसे एक मनोविकारजन्य कर्म का भेद स्वीकार करते हैं।

माया अथवा मनोविकारों से मुक्त होना ही मुक्ति को प्राप्त करना है। उसके बिना संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता।[३९८] इसलिए 'आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरवाण' कहकर कबीर ने मुक्ति-मार्ग को निर्दिष्ट किया है। जैन कवियों ने इसे

ही भेदविज्ञान कहा है और वही मोक्ष का कारण माना गया है।[३९९] कबीर[४००] और जैन, दोनों संसार को दु:खमय, क्षणिक और अनित्य मानते हैं। नरभव दुर्लभता को भी दोनों ने स्वीकार किया है। दोनों ने ही दुविधा भाव को अन्तकर मुक्तावस्था प्राप्त करने की बात कही है। कबीर की जीवन्मुक्त और विदेह अवस्था जैनों की केवली और सिद्ध अवस्था कही जा सकती है।

स्वानुभूति को जैनों के समान निर्गुणी सन्तों ने भी महत्त्व दिया है। कबीर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत् माना है और कहा है कि ब्रह्म स्वयं ज्ञान रूप है, सर्वत्र व्यापक है और प्रकाशित है -' अविगत अपरपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठाम। जैनों का आत्मा भी चेतन गुणरूप है और ज्ञान-दर्शन शक्ति से समन्वित है। इसी ज्ञान शक्ति से मिथ्याज्ञान का विनाश होता है। कबर की 'आतमदृष्टि' जैनों का भेद विज्ञान अथवा आत्मज्ञान है। बनारसीदास, द्यानतराय आदि हिन्दी जैन कवियों ने सहजभाव को भी कबीर के समान अपने ढंग से लिया है। अष्टांग योगों का भी लगभग समान वर्णन हुआ है। शुष्क हठयोग को जैनों ने अवश्य स्वीकार नहीं किया है।

कबीर के समान जैन कवि भी समरसी हुए हैं और प्रेम के खूब प्याले पिये हैं। तभी तो उनका दुविधा भाव जा सका। कबीर ने लिखा है -

पाणी ही तें हिम भया, हिम है गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहया न जाई।।[४०१]

बनारसीदास ने भी ऐसा ही कहा है - पिय मोरे घट में पिय मांहि, जलतरंग ज्यौं दुविधा नाहिं।।[४०२]

इस समरसता को प्राप्त करने के लिए कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' मानकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। पिया के प्रेमरस में भी कबीर ने खूब नहाया है। बनारसीदास और आनन्दघन ने भी इसी प्रकार दाम्पत्यमूलक प्रेम को अपनाया है। कबीर के समान ही छीहल भी अपने प्रियतम के विरह से पीड़ित है। आनन्दघन की आत्मा तो कबीर से भी अधिक प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है।[४०३] कबीर की चुनरिया को उसके प्रितम ने संवारा[४०४] और भगवतीदास ने अपनी चुनरिया को इष्टदेव के रंग में रंगा।[४०५] कबीर और बनारसीदास, दोनों का प्रेम अहेतुक है। दोनों की पत्नियां अपने प्रियतम के वियोग में जल के बिना मछली के समान तड़फी है। आध्यात्मिक विवाह रचाकर भी वियोग की सर्जना हुई है। ब्रह्म मिलन के लिए निर्गुणी सन्तों और जैन कवियों ने खूब रंगरेलियां भी खेली है।

इस प्रकार निर्गुणियां सन्तों और मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने थोड़ी बहुत असमानताओं के साथ-साथ समान रूप से गुरु की प्रेरणा पाकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। इसके लिए उन्होंने भक्ति अथवा प्रपत्ति की सारी विधाओं का आश्रय लिया है। जैन साधकों ने अपने इष्ट देव की वीतरागता को जानते हुए भी श्रद्धावशात् उनकी साधना की है।

७. सगुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना

जैसा हम पीछे देख चुके हैं, सगुण भक्तों ने भी ब्रह्म को प्रियतम मानकर उसकी साधना की है। जैन भक्तों ने भी सकल परमात्मा का वर्णन किया है जो सगुण ब्रह्म का समानार्थक कहा जा सकता है। मीरा में सूर और तुलसी की अपेक्षा रहस्यानुभूति अधिक

मिलती है। इसका कारण है कि सूर और तुलसी का साध्य प्रत्यक्ष और साकार रहा। मीरा का भी, परन्तु सगुण भक्तों में कान्ताभाव मीरा में ही देखा जाता है इसलिए प्रेम की दिवानी मीरा में जो मादकता है वह न तो सूर में है और न तुलसी में और न जैन कवियों में। यह अवश्य है कि जैन कवियों ने अपने परमात्मा की निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की विरह वेदना को सहा है। एक यह बात भी है कि मध्यकालीन जैनेतर कवियों के समान हिन्दी जैन कवियों के बीच निर्गुण अथवा सगुण भक्ति शाखा की सीमा-रेखा नहीं खिंची। वे दोनों अवस्थाओं के पुजारी रहे हैं क्योंकि ये दोनों अवस्थायें एक ही आत्मा की मानी गई है। उन्हें ही जैन पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध और अर्हन्त कहा गया है।

मीरा की तन्मयता और एकाकारता बनारसीदास और आनन्दघन में अच्छी तरह से देखी जाती है। रहस्य साधना के बाधक तत्त्वों में माया, मोह आदि को दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकार किया है। साधक तत्त्वों में इन भक्तों से भक्ति तत्त्व की प्रधानता अधिक रही है। भक्ति के द्वारा ही उन्होंने अपने आराध्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। यही उनकी मुक्ति का साधन रहा है।

साधक की साधना का पथ सुगम बनाने और सुलभ कराने के सन्दर्भ में जैन एवं जैनेतर सभी सन्तों और भक्तों ने गुरु की महिमा का गान किया है। मीरा के हृदय में कृष्ण प्रेम की चिनगारी बचपन से ही विद्यमान थी। उसको प्रज्वलित करने का श्रेय उनके भावुक गुरु रेदास को है जो एक भावुक भक्त एवं सन्त थे। मीरा के गुरु रैदास के होने में कुछ समालोचक सन्देह व्यक्त करते हैं। जो भी हो, मीरा के कुछ पदों में जोगी का उल्लेख मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोंई।[४०६] जैन साधकों ने भी मीरा के समान गुरु (सद्गुरु) की महत्ता को

साधना का मार्ग प्रशस्त बनाने के सन्दर्भ में अभिव्यंजित किया है। अन्तर मात्र चिनगारी प्रज्वलित करने की मात्रा का है।[४०७] मीरा प्रेम माधुर्यभाव का है जिसमें भगवान कृष्ण की उपासना प्रियतम के रूप में की है। इससे अधिक सुन्दर-सुन्दर सम्बन्ध की कल्पना हो भी नहीं सकती। विरह और मिलन की जो अनुभूति और अभिव्यक्ति इस माधुर्यभाव में खिली है वह सख्य और दास्यभाव में कहां ! इसलिए मीरा के समान ही जैन कवियों ने दाम्यत्यमूलक भाव को ही अपनाया है। मीरा प्रियतम के प्रेमरस में भीगी चुनरिया को ओढ़कर साज श्रृंगार करके प्रियतम को ढूढ़ने जाती है उसके विरह में तड़पती है। इस सन्दर्भ में बारहमासे का चित्रण भी किया है सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज-सजा रही है परन्तु मीरा को प्रियतम का वियोग खल रहा है। आखिर प्रियतम से मिलन होता है। वह तो उसके हृदय में ही वसा हुआ है । वह क्यों यहां-वहां भटके। यह दृढ़ विश्वास हो जाता है। उस आगम देश का भी मीरा ने मोहक वर्णन किया है।

जैन साधकों की आत्मा भी मीरा के समान अपने प्रियतम के विरह में तड़पती है ।[४०८] भूधरदास की राजुल रूप आत्मा अपने प्रियतम नेमीश्वर के विरह में मीरा के समान ही तड़पती है।[४०९] इसी सन्दर्भ में मीरा के समान बारहमासों की भी सर्जना हुई है।[४१०] प्रियतम से मिलन होता है और उस आनन्दोपलब्धि की व्यंजना मीरा से कहीं अधिक सरस बन पड़ी है।[४११] सूर और तुलसी यद्यपि मूलतः रहस्यवादी कवि नहीं हैं फिर भी उनके कुछ पदों में रहस्यभावनात्मक अनुभूति झलकती है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

इस प्रकार सूफी, निर्गुण और सगुण शाखाओं की रहस्यभावना

जैनधर्म की रहस्य भावना से बहुत मिलती-जुलती है, जो अन्तर भी है, वह दार्शनिक पक्ष की पृष्ठभूमि पर आधारित है। साधारणत: मुक्ति के साधकऔर बाधक तत्त्वों को समान रूप से सभी ने स्वीकार किया है। संसार की असारता और मानव जन्म की दुर्लभता से भी किसी को इन्कार नहीं। प्रपत्तिभावना गर्भित दाम्पत्य मूलक प्रेम को भी सभी कवियों ने हीनाधिक रूप से अपनाया है। परन्तु जैन कवियों का दृष्टिकोण सिद्धान्तों के निरूपण के साथ ही भक्तिभाव को प्रदर्शित करता रहा है। इसलिए जैनेतर कवियों की तुलना में उनमें भावुकता के दर्शन उतने अधिक नहीं हो पाते। फिर भी रहस्य भावना के सभी तत्त्व उनके काव्य में दिखाई देते हैं। तथ्य तो यह है कि दर्शन और अध्यात्म की रहस्य-भावना का जितना सुन्दर समन्वय मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों के काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। साहित्य क्षेत्र के लिए भी उनकी यह एक अनुपम देन मानी जानी चाहिए।

८. मध्यकालीन जैन रहस्यभावना और आधुनिक रहस्यवाद

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के अन्तदर्शन से यह स्पष्ट है कि उसमें निहित रहस्यभावना और आधुनिक काव्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना में साम्य कम और वैषम्य अधिक दिखाई देता है।

१) जैन रहस्यभ़ावना शान्ता भक्ति प्रधान है। उसमें वीतरागता, नि:संगता और निराकुलता के भावों पर साधकों की भगवद्भक्ति अवलम्बित रही है। बनारसी दास ने तो नवरसों में शान्त रस को ही प्रधान माना है - नवमो सान्त रसनिको नायक।'[४१२] बात सही भी है। जब तक कर्मो का उपशमन नहीं होगा, रहस्यभावना की चरमोत्कर्ष अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है ? शम ही शान्त रस का

स्थायीभाव माना गया है। जैन ग्रन्थों का अन्तिम मंगलाचरण प्रायः शान्ति की याचना में ही समाप्त होता है - देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवज्जिनेन्द्रः।[४१३] जैन मंत्र भी शान्तिपरक हैं। उनमें सात्विक भक्ति निहित है, राग-द्वेषादि विकार भावों से विरक्त होकर चरम शान्ति की याचना गर्भित है। इसलिए शान्त रस को बनारसीदास ने 'आत्मिक रस' कहा है।[४१४] भैया भगवतीदास ने भी जैन मत को शान्तरस का मत माना है।[४१५] वस्तुतः समूचा जैन साहित्य शान्ति रस से आप्लावित है।[४१६]

१) आधुनिक साहित्य में अभिव्यक्त रहस्यवाद प्रस्तुत रहस्यवाद से भिन्न है। उसमें कर्मोपशमनजन्य शान्ति का कोई स्थान नहीं। आधुनिक रहस्यवाद में प्राचीन जैन रहस्यवाद की अपेक्षा आध्यात्मिकता के दर्शन बहुत कम होते हैं। धार्मिक दृष्टि का लगभग अभाव-सा है। उसकी मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है।

२) मध्यकालीन हिन्दी जैन रहस्यभावना के सन्दर्भ में साधकों का प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का भाव बहुत कम है जबकि आधुनिक रहस्यवाद विराट प्रकृति की रमणीयता में ही अधिक पला-पुसा है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी आदि कवियों का रहस्यवाद प्राकृतिक रहस्यानुभूति के मधुर स्वर से आपूरित है। रहस्यमयी सत्ता का आभास देने में उनकी प्रवृत्ति ही सहायक होती है। लगता है, प्राचीन जैन कवि प्रकृति को ब्रह्म साक्षात्कार में बाधक तत्त्व मानते रहे हैं। पर आधुनिक कवियों ने प्रकृति को बाधक न मानकर उसे साधक माना है।

३) शब्दों का सीमित बन्धन रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में

समर्थ नहीं। अतः उसकी गुह्यता को स्वर देने के लिए जैन साधक कवियों ने निर्झर, हंस, तुरंग, मिट्टी आदि उपकरणों को चुना। आधुनिक रहस्यवाद में भी इन उपकरणों का उपयोग किया गया है परन्तु साथ ही उसमें कुछ अभारतीय प्रतीकों का भी समावेश हो गया है।

४) आधुनिक रहस्यवाद धार्मिक दृष्टिकोण के अभाव में मात्र एक कल्पना प्रधान काव्य शैली बनकर सामने आया है, परन्तु प्राचीन रहस्यवाद में उसका अनुभूति पक्ष कहीं अधिक प्रबल दिखाई देता है।

५) प्राचीन रहस्यसाधना में दाम्पत्यमूलक प्रेम को साध्य की प्राप्ति में एक विशिष्ट साधन माना गया है। निर्गुण रहस्यवादी भी इस प्रेम से नहीं बच सके। सगुणवादियों का ब्रह्म भी अविगत और अगोचर हो गया। परन्तु आधुनिक कवि इतने अधिक साधक नहीं बन सके। उनकी साधना सूखे फूल की मुर्झायी पंखुड़ियों के समान प्रतीत होती है। उसमें साधना की सुगन्धि नहीं। वह तो प्रेम और वासना की बू से प्रतीकों की मात्र कहानी है।

६) प्राचीन जैन रहस्यवादियों के काव्य में दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष की सुन्दर समन्वित भूमिका मिलती है पर आधुनिक रहस्यवाद में दार्शनिक पक्ष गौण हो गया है। व दाम्पत्यमूलक सूत्र के साथ रागात्मक सम्बन्ध के विशिष्ट योग में ब्रह्म मिलन की आतुरता छिपी हुई है।

७) मध्यकालीन जैन रहस्यवाद में संसारी आत्मा ही अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए तड़पती है और उसके वियोग में

जलती है वही उसका प्रियतम ब्रह्म है। आधुनिक रहस्यवाद में भी इस वेदना के दर्शन होते हैं। पर विरह की तीव्र अनुभूति प्राचीन काव्य में अधिक अभिव्यक्ति हुई है। वहां आत्मसमर्पण की भावना, चिन्तन-मनन गर्भित है। अद्वैतवाद की स्थिति दोनों में अवश्य है पर उसकी प्राप्ति के मार्गो में किंचित् अन्तर है। एक में आचार की प्रधानता है तो दूसरे का सम्बन्ध भावों से अधिक है। रागात्मक आकर्षण आधुनिक रहस्यवाद में कहीं अधिक है।

८) जैन रहस्यभावना में सर्वात्मवाद का दर्शन होता है पर वह जैन सिद्धान्तों के अनुरूप है। आधुनिक रहस्यवाद का सर्वात्मवादी दर्शन क्षणभंगुर संसार को ईश्वरीय सत्ता में अन्तर्भूत करता है। यह स्थिति उसी प्रकार अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों में वर्डस्वर्थ व ब्लेक की है जो आध्यात्मिक सत्ता पर विश्वास करती है और शैली अनीश्वरवादी है। फिर भी दोनों सर्वात्मवादी तत्त्व को सहज स्वीकार करते हैं।[४१७] जैनधर्म आत्मा को ज्ञान-दर्शन मय मानकर सर्वात्मवाद की कल्पना करता है।

९) प्राचीन रहस्यवाद में साधक संसार, शरीर आदि नश्वर पदार्थो को जन्म-मरण का कारण मानकर उसे त्याज्य मानता है। पर आधुनिक रहस्यवाद में उसके प्रति सौन्दर्यमयी दृष्टिकोण है।

१०) प्राचीन रहस्यभावना में वैयक्तिक स्वर अधिक है पर आधुनिक रहस्यवाद सार्वभौमिकता को लिए हुए है।

११) प्राचीन रहस्यवादी साधना साम्प्रदायिक आधार पर अधिक होती रही पर आधुनिक रहस्यवाद में साम्प्रदायिकता का पुट अपेक्षाकृत बहुत कम है।

१२) प्राचीन जैन किंवा जैनेतर रहस्यवादी साधक भारतीय साधना-प्रकार से सम्बद्ध थे पर आधुनिक रहस्यवादी कवियों पर हीगल वर्डस्वर्थ, ब्लेक, बर्नार्डशा, क्रोचे आदि का प्रभाव माना जाता है।[४१८]

इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद में सम्बन्ध अवश्य है पर साधकों के दृष्टिकोण निश्चित ही भिन्न-भिन्न रहे हैं। प्राचीन साधकों के समान, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि आधुनिक रहस्यवादी कवियों पर भी दर्शन विशेष की छाप दिखाई देती है।[४१९] पर वे प्राचीन कवियों के समान साम्प्रदायिकता के रंग में उतने अधिक रंगे नहीं। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों युगों के साधक अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित रहे हैं। इसलिए रहस्य भावना को सही अर्थ में समझने के लिए हमें उसके विकासात्मक स्वरूप को समझतना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न उसे साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता के घेरे में बांधकर अनावश्यक कहा जा सकता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि रहस्यभावना के विकास में आदिकालीन और मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों का विशेष योगदान रहा है। आदिकाल में इस सहस्यभावना की अभिव्यक्ति उतनी गहरी नहीं दिखाई देती है जितनी वह मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों के काव्य में समरस हुई है। मध्यकाल में वह चर्मोत्कर्ष अवस्था में पहुंच चुकी थी।

संदर्भ अनुक्रमणिका

प्रथम परिवर्त

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, सं, २०४८, काल विभाग, पृ. ३

२. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग २, अनुवचन, पृष्ठ ५,

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ. ११

४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्र.भा. काशी पृ. ३४७

५. ''कविता की प्रायः भाषा सब जगह एक सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की ब्रजभाषा थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी ''पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।'

६. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ. ३६; हिन्दी काव्यधारा, पृ. ३८, ५०

७. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास, १९५३, पृ. १६-१७

८. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, परिशिष्ट १, पृ. ४९९

९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल एवं मूल्यांकन अनेकान्त, ३४ किरण, ४ दिस. १९८१, पृ. ६-८

१०. Kroeber A.L. And clyde kluckhohn: culture, P. 952

११. कबीर की विचारधारा, पृ. ७१-७२

१२. विशेष देखिए, जैन दर्शन एवं संस्कृति का इतिहास - डॉ. भागचन्द्र भास्कर, पृ. ३२३-३३७

१३. कबीर की विचारधारा, पृ. ७४-८४

तृतीय परिवर्त

१. प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा-अगरचंद नाहटा, भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर १९६२।
२. पार्श्वपुराण, ८.२३. पृ. ६५।
३. नाटक समयसार, संवरद्वार, पृ. १०
४. विनयचन्द्र की चूनड़ी, पहला ध्रुवक।
५. परमहंस रास, खंडेलवाल दि० जैन मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित है।
६. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १०९
७. बनारसी विलास, अध्यातम फाग, १०-११, पृ. १५५।
८. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि पृ. ८७
९. नेमि-राजुल बारहमासा, पृ. १४
१०. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, १३३-१३४
११. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ. २३९
१२. वही।

चतुर्थ परिवर्त

१. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादिसूत्र-चतुर्थपाद)।
२. तत्र भवः दिगादिभ्यो यत् (पाणिनि सूत्र, ४.३.५३.५४)।
३. विविक्त विजनः छन्ननिहः शलाकास्तथा रहः। रहस्योपांशु चालिडे रहस्यम् तद्भवे त्रिषु।। अमरकोश २.८.२२-२३। अविधान चिन्तामणि कोश, ७४१,
४. गुह्ये रहस्यम्...अभिधान चिन्तामणिकोश, ७४२.
५. सूय, १.४.१८; भगवती, २.२४, ३७.३८; ९.१३७; १५.५६, १५७; १८.४०; नाया, १.१ १६,४४; १.५.९०; १.७.६.४२; १.८ १३९; १.१४.७०; उवासक, १.१३ ५७.५९; पण्हा, ६०२; देखिए, आगम शब्दकोश, पृ. ६०९।
6. Bonquet, A., C., Comparative Religion, Pelican Series 1953, P. 286.

7. The Concise Oxford Dictionary, P. 782 (sq. Mystic), Oxford, 1960
८. देखिये, आनन्देल का हिन्दी शब्द कोश।
9. Estern Religion and Western Thoughts, P. 61
10. Mysticism Bhagawad Gita, Calcutta, 1944 P. 1. Preface,
11. Mysticism : Theory and Art, P. 12.
12. Studies in Vedanta, Bombay. PP, 150-160
13. Mysticism in Maharashtra, PP. 1-12.
१४. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, आ० रामचन्द्र शुक्ल
१५. काव्य, कला तथा तन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद
१६. कबीर का रहस्यवाद, पृ. ६
१७. रहस्यवाद, पृ. २५
१८. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य,
१९. कबीर की विचारधारा, डॉ. त्रिगुणायत,
२०. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ४७६
२१. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २० (प्रस्तावना)
२२. भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. ३४९
23. Mystical Phenomena, London, 1926 P. 3
24. Mysticism in Religion by Dr. M.R. Inge, New York, P. 25
25. The Teachings of the Mystics, Newyork, 1960, P. 238
26. Mysticism in Religion by Dr. Dean Inge, P. 25
27. Mysticism appears in connection with the endeavour of human-mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest. The first is the philosophical side of mysticism. The Second is the religious side. God ceases to be an object and becomes an experience. Mysticism in Religion by Inge, P. 25.
28. Mysticism is a religion in the most concentrated and exclusive form. It is that aptitude of mind in which all other relations are swallowed up in the relation of the soul of God." Ibid. P, 25

29. The Verities of Religious Experience, a study in human nature, Longmans, 1929, P. 429
३०. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. १२ पर उद्धृत
31. Mysticism is seen to be a highly specialized form of that search for reality for heightened and completed life, which we have found to be a constant characteristic of human consciousness. Mysticism in Newyork, 1955, P. 93 (Practical Mysticism by Under Hill.)
32. Practical Mysticism by Under Hill, P. 3, भक्तिकाव्य में रहस्यवाद से उद्धृत, पृ- १३
33. Mysticism Dictionaries by Frank Gaynor; भक्तिकाव्य में रहस्यवाद से उद्धृत, पृ- १३
34. Mysticism is a way of dealing with God. New Haven, 1912, P. 355; रहस्यवाद-परशुराम से उद्घृत, पृ-२०
३५. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ५
३६. बनारसी विलास, ज्ञानवावनी, पृ. ६
३७. वही परमार्थ हिन्डोलना, पृ. ५
३८. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३-३७
३९. वही, पृ. १११
४०. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ९८
४१. वही, १०१।
४२. वही, पुण्य पापजगमूल पच्चीसी, पृ. १८
४३. वही, परमात्म शतक, पृ. २९
४४. जैन शतक, पृ. ९१
४५. अध्यात्म पदावलि, पृ. ३५९
४६. ज्ञानदर्पण, ४,४५, १२८-१३० आदि
४७. Heart of Hindustan (भारत की अन्तरात्मा) अनुवादक-विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, १९५३, पृ. ६५
४८. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृष्ठ. ९

४९. ऋग्वेद १०.१२९. १-२; भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. २४
५०. वही, १०.९०.१
५१. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रज्ञान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।। श्वेताश्वेतर, ६.२२
५२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेध्या बहुना श्रुतेन। यभैवैष वृषुते तेन लम्भस्तस्यैष आत्मा विषृणुते तनूं स्वाम्।। कठोप, १.२.२३,
५३. वही, १.२.९
५४. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.२३, छान्दोग्नोपनिषद् ७.१.३
५५. कठोपनिषद् १.३.१४
५६. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापट्टानिः क्षीणैः क्लेशै र्जन्ममृत्यु प्रहाणिः। तस्याभिध्यानावृतीयं देहमेदे विश्वैश्वर्य केवलं आप्तकामः।।श्वे, पृ. १.११।
५७. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, पृ. ८३-९२
५८. नाटक समयसार, १७
५९. वही, १८-१९।।
६०. अध्यात्मसवैया, पृ. १
६१. बनारसी विलास, ज्ञानवाणी, पृ. ८
६२. वही, पृ. २१०
६३. बनारसी विलास : ज्ञानवानी, पृ. २९
६४. वही, पृ. १३
६५. वही, पृ. ३८
६६. वही, पृ. ४५
६७. बनारसी विलास : अध्यात्म फाग, पृ. १-१८
६८. वाद-विवाद काहू सो नहीं मांहि, जगत थे न्यारा, दादूदयाल की वानी, भाग २, पृ. २९
६९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३६-३७
७०. अनुभव बिना नहिं जन सके निरसन्ध निरन्तर नूर है रे । उपमा उसकी अब कौन कहै नहिं सुन्दर चन्दन सूर है रे ।। सन्त सुधासागर, पृ, ५८६
७१. सन्त चरनदास की वानी, भाग २, पृ. ४५

७२. सुन्दर विलास, पृ. १६४
७३. कबीर ग्रन्थावली, पृ. ३१८
७४. सुन्दर विलास, पृ. १५९
७५. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ. ९८
७६. नाटक समयसार, उत्थानिका, १९,पृ. १४
७७. बनारसी विलास, ज्ञानवावनी
७८. डॉ. रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृ. ७७
७९. ध्वनेः स्वरूपं सकल-सत्कवि काव्योपनिषद् भूतम्- ध्वन्यालोक, १.१
८०. वैयाकरण भूषणसार, १०६
८१. काव्य प्रकाश, तृतीय उल्लास, रसनिष्पत्ति,
८२. काव्य में रहस्यवाद, डॉ. बच्चूलाल अवस्थी, ग्रन्थम्, कानपुर १९६५.
८३. जो जिण सो हउं, सो जि हउं, एहउ भाउ णिभन्तु जोइया, उण्णु णतन्तु णमन्तु मोक्खहो कारणि-परमात्म प्रकाश।

पंचम परिवर्त

१. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ५५,
२. वही, पृ. ५७,
३. बनारसी विलास, तेरह काठिया, पृ. १५७,
४. वही, प्रस्ताविक फुटकर कविता, पृ. ८-१६
५. वही, पृ. १२
६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ७७
७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १०२
८. वही, पृ. १३०, १३३
९. जिया जग धोखे की टाटी... वही, पृ. २११
१०. ब्रह्मविलास, सुपथकुपथपचीसिका, १०, पृ. १८१
११. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५४।

१२. वही, पृ. १५७
१३. जैनशतक, भूधरदास, ३२-३३, छहढाला-बुधजन प्रथमढाल,
१४. मनमोदनपंचशती, २१६, हिन्दी पद संग्रह, पृ. २३९, पृ. १९४, पृ. २५२ पृ. २११
१५. पाण्डे रूपचन्द, गीतपरमार्थी, परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
१६. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १२८
१७. वही, पृ. १६३, मंदिर ठोलियान, जयपुर का गुटका नं. ११०, पृ. १२० पद्य ५ वां।
१८. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २९५
१९. ब्रह्मविलास, मधुबिन्दुक चौपाई; छीहल का पन्थी गीत भी देखिये जो जयपुर के दीवान बधीचन्द्रजी के मंदिर में, गुटका नं. २७, वेष्टन नं. ९७३ में सुरक्षित है।
२०. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १००
२१. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५२, भूधर पद संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता।
२२. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १०५ उदरगीत, दीवान बधीचन्द्रजी का मंदिर, जयपुर गुटका नं. २७, वैष्टन नं. ९७३।
२३. हिन्दी पद संग्रह पृ, १५८, बनारसीविलास, प्रास्ताविक फुटकर कविता, १२
२४. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, ४६, पृ. १८
२५. जैनशतक, २०, पृ. ९
२६. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. ११ पद १७ वां
२७. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, १०३
२८. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति १।
२९. दौलत जैन पद संग्रह, १७
३०. अध्यात्म पदावली, पद ४, पृ. ३४०
३१. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २९४

३२. सन्मति तर्क प्रकरण, ३-५३
३३. बनारसीविलास, अध्यातम बत्तीसी, ११-१३
३४. बनारसी विलास, अध्यातम बत्तीसी ९-१०
३५. वही, पृ. १४
३६. स्थानांग ४१८, समवायांग ५
३७. बनारसी विलास कर्म प्रकृति विधान आदि
३८. बनारसी विलास, मोक्ष पैठी, पृ. १८
३९. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ९९
४०. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६५
४१. ब्रह्मविलास, पुण्य पचीसिका, १७, पृ. ५, नाटक पचीसी २ पृ. २३
४२. ब्रह्मविलास, अनित्यपचीसिका, १६ पृ. १७५
४३. बुधजन विलास पद ७३
४४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २४१ कर्मन की रेखा न्यारी से विधना टारी नाहि टरै।
४५. बनारसी विलास-पृ. २४०
४६. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, १२ रूपचन्द "लसुन के पात्र कि वास कपूर की कूपर के पात्र कि लसुन को होइ" कहकर कर्म प्रकृति को स्पष्ट करते हैं।
४७. परमार्थी दोहाशतक, जैनहितेषी, भाग ६, अंक ५-६; जैन सिद्धान्त भवन आरा में एक हस्तलिखित प्रति है।
४८. कर्मघटावलि, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर, गुटका नं. १०८
४९. विशेष देखिए, डॉ. भागचन्द्र जैन, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, प्रथम अध्याय
५०. बनारसी विलास, ज्ञानवावनी, ५, नाटक समयसार, उत्थानिका, ९ भूधर विलास, पद ९
५१. बनारसी विलास, मोक्ष पैठी ९
५२. वही, कर्म छत्तीसी
५३. बनारसी विलास, कर्मछत्तीसी, १-३७
५४. ब्रह्मविलास, अनादि बत्तीसिका, पृ. २२०
५५. नाटक समयसार, पृ. ९६
५६. नाटक समयसार, निर्जराद्वार १४, पृ. १३८,

५७. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, ५, पृ. २२४
५८. रागीविरागी के विचार में बडोई भेद, जैसे 'भटा पचकाहूं काहू को बयारे है।' जैन शतक, १८
५९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६६
६०. वही, पृ. १६६
६१. ब्रह्मविलास, शत अष्टोतरी,
६२. ब्रह्मविलास, मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी, ७-१२
६३. ब्रह्मविलास, उपदेशपचीसिका, २०
६४. "खाय चल्यौ गांठ की कमाई कोड़ी एक नाहीं। तो सौ मूढ दूसरो न ढूढयो कहूं पायो है।। ब्रह्मविलास, अनित्यपचीसिका, ११
६५. वही, सुपथ-कुपथ पचीसिका, ५-२२
६६. वही, मोह भ्रमाष्टक
६७. वही, रागादि निर्णयाष्टक, २
६८. हिन्दी पद संग्रह, बधजन, पृ. १९६
६९. बुधजनविलास, २९
७०. वही, ७१
७१. अध्यात्म पदावली, पृ. ३६०
७२. अध्यात्म पदावली, पृ. ३४४
७३. छहढाला, दौलतराम, द्वितीय ढाल; मनमोदक पंचशती, १०६-८
७४. बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, ६ पृ. २०
७५. वही, ७२, पृ. ५४
७६. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ३२-३३
७७. ब्रह्मविलास, ३९-४४, हिन्दी पद संग्रह, पृ. ४३
७८. वही, ७९-८१
७९. बनारसीविलास, भाषासूक्तावली, ७३-७६
८०. जो सुजन चित्त विकार कारन, मनहु मदिरा पान। जो भरम भय चिन्ता बढावत, असित सर्प समान।। जो जन्तु जीवन हरन विष तरु, तनदहनदवदान। सो कोपरांश बिनाशि भविजन, पहहु शिव सुखथान।। वही भाषासूक्तावली, ४५।

८१. वही, ५१

८२. छांड़ि दे अभिमान जियरे छांडि दे अभिमान।। काको तू अरु कौन तेरे, सब ही है महिमान। देख राजा रंक कोऊँ, थिर नहीं यह थान।।१।। ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, १२, पृ. ११३

८३. वही, फुटकर कविता, १५, पृ. २७६

८४. कुशल जननकौ बांझ, सत्य रविहरन साँझ थिति। कुगति युवती उरमाल, मोह कुंजर निवास छिति।। शम वारिज हिमराशि, पाप सन्ताप सहायनि। अयश खानि जान, तजहु माया दुःखदायनि।। बनारसीविलास, भाषासूक्तावली, ५३-५६

८५. माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिनमांहि। इनकी संगति जे लगै, तिनहिं कहीं सुख नाहिं।।१६।। वही पृ. २०५।

८६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५४

८७. आनन्दघन बहोत्तरी, पद ९८

८८. बनरसीविलास, भाषा सूक्तावली, ५८

८९. वही, १९, पृ. २०५, ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, ११ पृ. ४

९०. हिन्दी पद संग्रह,पृ. १९७

९१. बुधजनविलास, २९

९२. जैनशतक, ७६

९३. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २३५

९४. हिन्दी पद संग्रह, पं. रूपचन्द्र, पृ. ३१

९५. वही, पृ. ३३ स्वपर विवेक विना भ्रम भूल्यौ, मैं मैं करत रह्यौ, पद ४१।

९६. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ. ३८

९७. वही, पृ. ४१ तोहि अपनपौ भूल्यौ रे भाई, पद ५५

९८. वही, पृ. ५०

९९. बनारसीविलास, ज्ञानपच्चीसी ५-६

१००. वही, नामनिर्णय विधान, ७. पृ. १७२

१०१. वही, अध्यात्मपद पंक्ति, २-४

१०२. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, ६१

१०३. कहां परदेशी कौ पतवारो, मनमाने तब चलै पंथ को, सांज गिनै न सकारो। सब कुटुम्ब छांड इतही पुनि, त्याग चलै तर प्यारो।।१।।वही,पृ. १०।

१०४. वही, परमार्थपद पंक्ति १५, माझा, बधीचन्द मंदिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति।

१०५. वही, २५।

१०६. ब्रह्मविलास, मोह भ्रमाष्टक।

१०७. वही, पुण्यपापजगमलू पच्चीसी, ४पृ. १९५।

१०८. वही, जिन धर्म पचीसिका।

१०९. ब्रह्मविलास, स्वप्नबत्तीसी

११०. वही, फुटकर कविता २

१११. ''जीव तु आदि ही तैं भूल्यौ शिव गेलवा,'' हि. पद. सं. पृ. २२१

११२. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २३३

११३. वही,पृ. २३१

११४. परमार्थ दोहाशतक, ४-११ (रूपचन्द्र), लूणकर मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति।

११५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २४५

११६. ''देषो चतुराई मोह करम की जगतें, प्रानी सब राषे भ्रम सानिकै।'' मनराम विलास, मनराम, ६३, ठोलियों का दि. जैन मंदिर जयपुर, वेष्टन नं० ३९५

११७. यह पद लूणकरजी पाण्डा मंदिर, जयपुर के गुटका नं. ११४,पत्र १७२ १७३ पर अंकित है।

११८. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धद्वार, ९६-९७।

११९. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ४३. पृ. ८७।

१२०. जोग अडम्बर तै किया, कर अम्बर मल्ला। अंग विभूति लगायके, लीनी मृग छल्ला। है वनवासी तै तजा, घरबार महल्ला। अप्पापर न बिछाणियांसब झूठी गल्ला।। वही, मोक्षपैडी, ८, पृ. १३२।

१२१. शुद्धि ते मीनपियें पयबालक, रासभ अंग विभूति लगाये। राम कहे शुक ध्यान गहे वक, भेड़ तिरै पुनि मूंड मुड़ाये।। वस्त्र विना पशु व्योम चलै खग, व्याल तिरें नित पौन के खाये। एतो सबै जड़ रीत विचक्षन ! मोक्ष नहीं विन तत्त्व के पाये।। (ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ११, पृ. १०)

१२२. ब्रह्मविलास, सुपंथ कुपंथ पचीसिका, ११, पृ. १८२

१२३. नरदेह पाये कहा पंडित कहाये कहा, तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहे रे। लच्छि के कमाये कहा अच्छ के अघाये कहा, छत्र के धराये कहा छीनतान ऐहै रे। केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा, जोबन के आये कहा जराहू न खैहै रे। भ्रम को विलास कहा दुर्जन में वास कहा, आत्म प्रकाश विन पीछे पछितै हे रे ।।'' वही, अनित्य पचीसिका, ९. पृ. १७४।

१२४. वही, सुबुद्धि चौबीसी, १०, पृ. १५९।

१२५. जोगी हुवा कान फडाया झोरी मुद्रा डारी है। गोरखक है त्रसना नहीं मारी, धरि धरि तुमची न्यारी है।।२।। जती हुवा इन्द्री नहीं जीती, पंचभूत नहिं मार्‌या है। जीव अजीव के समझा नाहीं, भेष लेइ करि हास्या है।।४।। वेद पढ़ै अरु बामन कहावै, ब्रह्म दसा नहीं पाया है। आत्म तत्त्व का अरथ न समज्या, पोथी का जनम गुमाया है।।५।। जंगल जावै भस्म चढ़ावै, जटा व धारी केसा है। परभव की आसा ही मारी, फिर जैसा का तैसा है।।६।। रूपचन्द, स्फुटपद् २-६, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. १८४, अभय जैन ग्रन्थालय वीकानेर की हस्तलिखित प्रति।

१२६. उपदेशदोहा शतक, ५-१८ दीवान बधीचन्द मंदिर जयपुर, गुटका नं. १७, वेष्टन नं ६३६।

१२७. जसराज बावनी, ५६, जैन गुर्जर कविओ, भाग २,पृ. ११६।

१२८. सिद्धान्त शिरोमणि, ५७-५८, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. १६८

१२९. हिन्दी पद संग्रह,पृ. १४५।

१३०. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ३३२।

१३१. अध्यात्म पदावली, पृ. ३४२।

१३२. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ४९।

१३३. बनारसीविलास, पृ. १५२, ५३।

१३४. रे. मन ! कर सदा सन्तोष, जातें मिटत सब दु:ख दोष। बनारसीविलास, पृ. २२८।

१३५. वही, अध्यातम पंक्ति, १३, पृ. २३१।

१३६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ८२।

१३७. वही, पृ. ९५।

१३८. हिन्दी, पद संग्रह ६५।
१३९. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ४७।
१४०. वही, ८१।
१४१. वही, चेतन कर्म चरित्र, २३४-२४६।
१४२. वही, परमार्थ पद पंक्ति, शिक्षा छंद, पृ. १०८।
१४३. वही, पंचेन्द्रिय संवाद, ११२-१२४।
१४४. वही, मनवत्तीसी, भावन ही तै बन्ध है, भावन ही तै मुक्ति।। जौ जानै गति भव की, सो जानै यह युक्ति।।२६।। वही, फुटकर कविता, ९।
१४५. जैनशतक, ६७, पृ. २६।
१४६. अध्यात्म पदावली, पद १, पृ. ३३९।
१४७. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. १७७।
१४८. बह्मविलास, पृ. २६२।

षष्ठ परिवर्त

१. बनारसीविलास, पंचपदविधान।
२. हिन्दी पद संग्रह, रूपचन्द, पृ. ४८
३. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ११७
४. बनारसीविलास, पृ. २४।
५. हिन्दी पद संग्रह, रूपचन्द, पृ. ४८।
६. बनारसीविलास, भाषा मुक्तावली, पृ. २०, पृ. २७।
७. वही, ज्ञानपच्चीसी, १३, पृ. १४८।
८. वही, शिवच्चीसी, ६, पृ. १५०।
९. वही, शारदाष्टक, ३, पृ. १६६।
१०. नाटक समयसार, जीवद्वार, ३।
११. त्यौं वरषै वरष समै, मेघ अखंडित धार। त्यौं सद्गुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार।। वही, सत्यसाधक द्वार, ६, पृ. ३३८।
१२. नाटक समयसार, १६ पृ. ३८।

१३. जिनराजसूरी गीत, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, २, ७, पृ. १७४-१७६।

१४. तेरहपंथी मंदिर जयपुर, पद संग्रह, ९४६, पत्र ६३-६४।

१५. ता जोगी चित लावों मोरे बाला।। संजम डोरी शील लंगोटी घुलघुल, गाठ लगाले मोरे बाला। ग्यान गुदडिया गल विच डाले, आसन दृढ़ जमावे।।१।। क्षमा की सौति गलै लगावै, करुणा नाद बजावे मोरे बाला। ज्ञान गुफा में दीपक जो के चेतन अलख जगावै मोरे बाला।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. ९९।

१६. गीत परमार्थी, परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, बम्बई।

१७. गुरु पूजा ६, वृहज्जिनवाणी संग्रह, मदानगंज, किशनगढ़, सितम्बर, १९५५, पृ. २०१।

१८. ज्ञानचिन्तामणि, ३५, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति।

१९. सुगुरु सीष, दीवान बधीचन्द मंदिर, जयपुर, गुटका नं, १६१।

२०. गुरु बिन भेद न पाइय, को परु को निज वस्तु। गुरु बिन भवसागर विषइ, परत गहइ को हस्त।। अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. ९७।

२१. मनकरहारास, आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति

२२. आनदंघन बहोत्तरी, ९७।

२३. मधुविन्दुक की चौपाई; ५८, ब्रह्मविलास, पृ. १३०।

२४. ब्रह्मविलास, पृ. २७०।

२५. गीत परमार्थी, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १७१।

२६. गुरु समान दाता नहिं कोई। भानु प्रकाश न नासत जाको, सो अंधियारा डारे खोई।।१।। मेघ समान सबन पै बरसै, कछु इच्छा जाके नहिं होई। नरक पशुगति आगमांहितै सुरग मुकत सुख थापै सोई।।२।। तीन लोक मंदिर में जानौ, दीपकसम परकाशक लोई। दीपतलें अंधियारा भरयौ है अन्तर बहिर विमल है जोई।।३।। तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोवै जगतोई। द्यानत निशिदिन निरमल मन में, राखो गुरु पद-पंकज दोई।।४।। द्यानत पद संग्रह, पृ. १०।

२७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १२६-१२७, १३३।

२८. भूधर विलास, पृ. ४।

२९. जैनशतक, १४-१५, पृ. ६-७ ।
३०. सिद्धान्त चौपाई, लावण्य समय, १-२
३१. सारसिखामनरास, संवेग सुन्दर उपाध्याय, बड़ा मन्दिर, जयपुर की हस्तलिखित प्रति
३२. नयत्यात्मात्मेव जन्म निर्वाणमेव च। गुरुरात्मात्मन स्तर स्मान्नान्यो स्ति परमार्थतः ।।७५।। समाधि तन्त्र, ७५
३३. थेरीगाथा, ४,४५९ आदि,
३४. नरभवरतन जनत बहुतनि तैं, करम-करम करि पायो रे। विषय विकार काचमणि बदले, स अहलै जान गवायो रे।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३४।
३५. बनारसीविलास, भाषा सूक्तमुक्तावली, ५ पृ. १९ ।
३६. वही, भाषा सूक्त मुक्तावली, पृ. १९
३७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११६
३८. ब्रम्हविलास, शतष्टोत्तरी, २१,२२,४४
३९. वही, ४२, ४३
४०. वही, शतअष्टोत्तरी, ८३-८५, परमार्थपद पंक्ति, ५।
४१. जैन शतक, भूधरदास, २१
४२. हिन्दी पद संग्रह, वख्तरामसाह, पृ. १६६ ।
४३. छहढाला, प्रथम ढाल, १-६
४४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १८१-१९२ ।
४५. सम्बोधपंचासिक, ३ दिगम्बर जैन मन्दिर बडोत की हस्तलिखित प्रति ।
४६. प्रस्तुत विषय पर 'रहस्य भावना के बाधक तत्त्व' नामक अध्याय में विस्तार से मध्यकालीन कवियों के विचार प्रस्तुत किये जा चुके हैं।
४७. चेतन तू तिहूकाल अकेला, नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला। चेतन।।१।। यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटमेखन खेला। सुख संपत्ति शरीर जलबुद बुद, विनशत नाहीं बेला।। कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरु का चेला। तास वचन परती न आन जिय, होइ सहज सुरझेला। चेतन।।३।। बनारसी विलास, अध्यातमपद पंक्ति, २।

४८. बनारसी विलास, अध्यातम पद पंक्ति, ९-२०।

४९. वही, अध्यातम पद पंक्ति, ८।

५०. वही, अध्यातम पद पंक्ति, १२।

५१. बनारसी विलास, अध्यातम पद पंक्ति, १८, पृ. २३४-३५।

५२. भौंदू भाई देखि हिये की आंखें, जे करषैं अपनी सुख सम्पत्ति भ्रम की सम्पत्ति नाखैं, भोंदू भाई। वहीं, १९ पृ. २३५।

५३. वही, अष्टपदी मलहार, पृ. २४०।

५४. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ५०-५४ पृ. १९-२०।

५५. भैया, भरम न भूलिये पुद्गल के सरसंग। अपनो काज संवारिये, आत्म ज्ञान के अंग।। आत्म ज्ञान के अंग आप दर्शन कर लीजे। कीजे थिरता भाव' शुद्ध अनुभौ रस पीजे। दीजे चउविधि दान, अहो शिव खेत बसैया। तुम त्रिभुवन के राय, भरम जिन भूलहु भैया।।७।। वही, ७१, पृ. २४।

५६. अध्यातम पदावली पृ. ३४०।

५७. अपनी सुधि भूल आप-आप दुख उपायो। ज्यो शक्र नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ।। दौलतराम, अध्यात्म पदावली, पृ. ३४०।

५८. अध्यात्मपदावली, १२, पृ. ३४२।

५९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११५।

६०. सोहं-सोहं होत नित, सांसा उसास मंझार। ताकौ अरथ विचारिए, तीन लोक में सार। जैसो तैसा आप, थाप निहपै तजि सोहं। अजपा आप संभार, सार सुख सोहं-सोहं।। धर्मविलास, पृ. ६५।

६१. भजत छत्तीसी, ३७, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग २, परिशिष्ट १, पृ. १४२-३; मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ. ३६४, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १५१।

६२. सहज सुख बिन, विषय सुख रस, भोगवत न अघात। रूपचन्द चित चेत ओसनि, प्यास तौं न बुझात।। हिन्दी पद संग्रह, पद ३७।

६३. वही, पद, ३८।

६४. बुधजन विलास, पद ८५।

६५. हिन्दी पद संग्रह, पद ३५२।

६६. ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, १३,२३।
६७. वही, १४-१५, पृ. ११।
६८. नाटक समयसार, उत्थानिका, ३६-३७; नाममाला भी देखिये।
६९. जैन शोध और समीक्षा, पृ. ७२।
७०. तत्त्वसार दूहा-भट्टारक शुभचन्द्र, ९१; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ७८।
७१. नाटक समयसार, जीवद्वार, ९।
७२. नाटक समयसार, उत्थानिका, २०।
७३. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ४।
७४. वही, १६-३०।
७५. वही, ध्यानवत्तीसी, १।
७६. चेतन पुद्गल सौं मिलें, ज्यों तिल में खलि तेल। प्रगट एक से देखिये, यह अनादि को खेल।।४।। ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव। पावक काठ पाषाण में, त्यां शरीर में जीव।।७।। वही. अध्यात्मबत्तीसी ४-७, पृ. १४३।
७७. राजस्थानी जैन सन्त, व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व, पृ. १७४।
७८. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, १-२४।
७९. नाटक समयसार, ४, पृ. ५ जीवद्वार २; ब्रह्मविलास-भैया भगवतीदास, सिज्झाय पु. १२५, सिद्ध चतुर्दशी, १४१।
८०. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ३५१।
८१. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, १६, पृ. २३३।
८२. बनारसीविलास अवस्थाष्टक, पृ. १८५; छहढाला-दौलतराम ३-४-६; अध्यात्म पंचासिका दोहा-द्यानतराय, हस्तलिखित ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण (खोज विवरण) सन् १९३२-३४, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
८३. अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवाद, पृ. १०८; बह्मविलास (भैया भवगतीदास), परमात्मछत्तीसी, २-५ पृ. २२७; धर्मविलास-द्यानतराय, अध्यात्म पंचासिका, पृ. १९२।
८४. 'निर्गुण रूप निरंजन देवा, सगुण स्वरूप करें विधिसेवा'।। बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, ७, पृ. १५०।

८५. परमात्मप्रकाश, १-२५, पृ. ३२।
८६. निराकार चेतना कहवे दरसन गुन साकार चेतना सुद्धज्ञान गुन सार है। नाटक समयसार, मोक्षद्वार, १०।
८७. बनारसीदास, नाममाला, ईश के नाम, ब्रह्मविलास, सिद्धचतुर्दशी, १-३।
८८. द्यानतपद संग्रह ५८, बनारसीविलास, अध्यात्मफागु, पृ. १५४।
८९. अध्यात्मवावनी, गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ. ४६६-६७।
९०. पांडे रूपचन्द, परमार्थी दोहाशतक, जैत हितैषी, भाग ६, अंक ५-६।
९१. मनरामविलास, १५ ठोलियों के दि. जैन मंदिर, वैष्टन नं. ३९५ में संकलित हस्तलिखित प्रति, मनमोदन पंचशती, ४२ पृ. २०।
९२. एकहि ब्रह्म असंख्य प्रदेश। गुण अनंत चेतनता भेष।। शक्ति अनंत लसै जिस माहिं। जासम और दूसरो नाहिं।।२।। पर का परस रंच नहिं जहां। शुद्ध सरूप कहावै तहां।। अविनाशी अविचल अविकार। सो परमातम है निरधार।।६।। -ब्रह्मविलास, परमात्मा की जयमाल; पृ. १०४।
९३. ब्रह्मविलास, मिथ्यात्व विध्वंस न चतुर्दशी, जयमाल, पृ. १०४।
९४. वही, सिद्ध चतुर्दर्शी, १-४ पृ. १३४; सुबुद्धि चौबीसी ७-९ पृ. १५९, फुटकर कविता; पृ. २७३।
९५. वही, ब्रह्माब्रह्म निर्णय चतुदर्शी, पृ. १७१, फुटकर कविता, १, पृ. २७२-७३।
९६. वही, जिनधर्मपचीसिका, १३ पृ. २१४।
९७. वही, परमात्मा छत्तीसी, ९ पृ. २२८।
९८. वही, ईश्वरनिर्णयपचीसी, १ पृ. २५२; परमात्मशतक, पृ. २७८-२९१।
९९. हिन्दी पद संग्रह, भट्टारक रत्नकीर्ति, पृ. ३।
१००. ज्यों कोठी में धान थी, चमी मांहि कनकबीच। चमी धेय कम राखिये, कोठी धोए कीच।।११।। कोठी सम नोकर्म मल, द्रव्य कर्म ज्यों धान। भावकर्ममल ज्यों, चमी, कन समान भगवान।।१२।। बनारसी विलास, अध्यातम बत्तीसी ११-१२, पृ. १४४।
१०१. वही, अध्यातम बत्तीसी, १३-३२।
१०२. नाटक समयसार, जीवद्वार, १३।
१०३. नाटक समयसार, जीवद्वार ३५ पृ. ५२।

१०४. देह और जीव के सम्बन्ध की अज्ञानता ही मिथ्यात्व है दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में इस प्रकार की ६२ मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख है - १८ आदि सम्बन्धी और ४४ अन्त सम्बन्धी। इनमें शाश्वतवाद, अमरविक्षेपवाद, उच्छेदवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, संज्ञीवाद, असंज्ञीवाद जैसे वाद अधिक प्रसिद्ध थे। सूत्रकृतांग में सप्ततत्त्व या नव पदार्थो के आधार पर यही संख्या ३६३ बतायी गई है। क्रियावाद १८०, अक्रियावाद ८४, अज्ञानवाद ६७ और वेनयिकवाद ३२। जैन बौद्ध साहित्य में यह परम्परा लगभग समान है। विशेष देखिए, डॉ. भागचन्द्र भास्कर की पुस्तक बौद्ध संस्कृति का इतिहास प्रथम अध्याय।

१०५. लाल वस्त्र पहिरेसों देह तो न लाल होय, लाल देह भये हंस लाल तौ न मानिये। वस्त्र के पुराने भये देह न पुरानी होय, देह के पुराने जीव जीरन न जानिये।। वसन के नाश भगे देह को न नाश होय, देह के न नाश हंस नाश न बछानिये। देह दर्व पुद्गल की चिदानन्द ज्ञानमयी, दोऊ भिन्न-भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये।।१०।। (ब्रह्मविलास, आश्चर्य चतुर्दशी, १०, पृ. १९१)।

१०६. नाटक समयसार, अजीवद्वार, ७;९ पृ. ५८-६०।

१०७. मोक्ख पाहुड़, ६१।

१०८. भाव पाहुड़, २।

१०९. पाहुड़, दोहा १३५, परमात्म प्रकाश, २.७०।।

११०. बनारसी विलास, मोक्षपैड़ी, ८पृ. १३२।

१११. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी ११, पृ. १०।

११२. उपदेश दोहाशतक, ५-१८।

११३. मदनमोहन पंचशती, छत्रपति, ९९, पृ. ४८।

११४. वही, १०३-१०५।

११५. अध्यात्म पदावली, पृ. ३४१।

११६. शिव चाहै तो द्विविध धर्म तैं, कर निज परनति न्यारी रे। दौलत जिन जिन भाव पिछाण्यौ, तिन भवविपति विदारी रे।।वही, पृ. ३३२।

११७. बनारसी विलास, कर्म छत्तीसी, ३७, पृ. १३९।

११८. नाटक समयसार, जीवद्वार, २३।

११९. हिन्दी पद संग्रह, द. ३६।
१२०. वही, पृ. ३६-३७।
१२१. वही, बनारसीदास, पृ. ५९।
१२२. जैंसे कोऊ जन गयों धोबीकै सदन तिन, पहिरयौ परायौ वस्त्र मेरी मानि रह्यौ है। धनि देखि कह्यौ भैयच यह तो हमारौ वस्त्र, तैसें ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव, संग के ममत्व सौं विभाव तामैं ब्रह्यौ है। भजदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब, न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ कै। नाटक समयसार, जीवद्वार, २।
१२३. नाटक समयसार, अजीवद्वार, १४. पृ. ६४।
१२४. वही, संवरद्वार, ३ पृ. १८३।
१२५. वही, संवरद्वार, ६, पृ. १२५।
१२६. वही, निर्जराद्वार, ९, पृ. १३५।
१२७. वही, पृ. २१०।
१२८. बनारसी विलास, ज्ञानवावनी, पृ. ७२-९०।
१२९. वही, नवदुर्गा विधान, पृ. ७, पृ. १६९-७०।
१३०. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ३४।
१३१. वही, परमार्थ पद पंक्ति, १४ पृ. ११४।
१३२. वही, शतअष्टोत्तरी, ६४।
१३३. वही, गुणमंजरी, २-६, पृ. १२६।
१३४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ।
१३५. अध्यात्म पदावली, ४७, पृ. ३५८।
१३६. मनमोदनपत्र, ७६, पृ. ३६।
१३७. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थ सूत्र १,१।
१३८. नाटक समयसार, उत्थानिका, ७, पृ. ७।
१३९. वही, कर्ता कर्म द्वार, २८, पृ. ८७।
१४०. वही, निर्जराद्वार, ८, ९, १९ संवर द्वार ५।
१४१. वही, निर्जराद्वार, ३८, ६०।
१४२. दौलतराम, ३. ११-१५।

१४३. जैनशोध और समीक्षा, पृ. १३२, नाटक समयसार, निर्जराद्वार, ३४।
१४४. ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, ८-१० पृ. ३-४।
१४५. विरच्छ के जर वर महल के नींव जैसे, धरम की आदि तैंसे सम्यकदरश है। या विन प्रशमभाव श्रुतान वृत तप, विवहार होत है न आतम परस है।। जैसे विन बीज अख साधन न अन्न हेत, रहत हमेश परज्ञेय को तरस है।।२७।। मनमोदन, २७, पृ. १३।
१४६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १४७।
१४७. नाटक समयसार, सर्वविशद्धि द्वार, ८२-८५।
१४८. देहा परमार्थ, ५८-६२, बधीचन्द मंदिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित।
१४९. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ. १०९-१४१।
१५०. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ. १०९-१४१।
१५१. जबलों रागद्वेष नहिं जीतय तबलों, मुकति न पावै कोइ। जबलों क्रोधमान मनधारत, तबलों सुगति कहो ते होइ।। जबलों माया लोभ बसे उर, तबलो सुख सुपनै नहिं जोइ। एअरि जीत भयो जो निर्मल, शिव संप्रति विलसत है सोइ।।४५।। ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, ४५, पृ. १८।
१५२. निजनिधि पहिचानी तब भयो ब्रह्मज्ञानी, शिवलोक की निशानी आप में घरी-घरी।। वही, सुबुद्ध चौबीसी; १२ पृ. १६।
१५३. पद संग्रह, दि. जैन मंदिर वडौत, ४९, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २६३।
१५४. वही, पन्ना ४९, दि. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २६३।

सप्तम परिवर्त

१. बनारसी विलास, जिनसहस्रनाम।
२. भगवद्गीता, २७.४।
३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
४. श्रवन कीरतन चिंतवन सेवन बन्दन ध्यान। लघुता समता एकता नोधा भक्ति प्रमान।। नाटक समयसार, मोक्षद्वार, ८, पृ. २१७।
५. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्म निक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।''

६. इसके विस्तृत विवेचना के लिए देखिये-डॉ. प्रेमसागर जैन के शोध प्रबन्ध का प्रथम भाग, जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि।
७. नाटक समयसार, उत्थानिकका, पृ. ११-१२।
८. मनराम विलास, ९०, ठोलियों का दि. जैन मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं. ३०५।
९. द्यानत पद संग्रह, ९, पृ. ४, कलकत्ता।
१०. वही, ४५।
११. सीमन्धर स्वामी स्तवन, १९।
१२. अजित शांति स्तवन, जैन स्तोत्र संदोह, अहमदाबाद, सन् १९३२।
१३. धनपालरास, मंगलाचरण, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति।
१४. मिथ्या दुकड़, १ (अंतिम) आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की हस्तलिखित प्रति।
१५. आदीश्वर फागु, १४५, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।
१६. अनस्तमितव्रत संधि-हरिचन्द, दि. जैन बड़ा मंदिर जयपुर की हस्तलिखित प्रति, गुटका नं. १७१।
१७. निर्विकार निश्चल निकल निर्मल ज्योति। ग्यानगम्य ग्यायक कहां लौं ताहिं बरनौं। निहचै सरूप मनराम जिन जानौ ऐसौ, नाकौ और कारिज रहयौ न कछ् करनौ।। मनराम विलास, ठोलियों के दि. जैन मंदिर जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, वेष्टन नं. ३९५।
१८. वृहज्जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित।
१९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २६।
२०. वही, पृ. २०६।
२१. सीमन्धर स्वामी स्तवन-विनयप्रभ उपाध्याय ।
२२. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १७।
२३. जैन पंचायती में दिल्ली में सुरक्षित हस्त. लि. प्र.।
२४. प्रद्युम्न चरित्र, १, आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति।
२५. ब्रह्मविलास, कुपंथ पचीसिका, ३, पृ. १८०।
२६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १२५-२६।

२७. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १६-१७।

२८. जसविलास-यशोविजय उपाध्याय, सज्झाय पद अने स्तवन संग्रह में मुद्रित।

२९. करिये प्रभु ध्यान, पाप कटै भवभव के या मै वहोत भलासे हो।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. १७८।

३०. अरहंत सुमरि मन बावरे।। ख्याति लाभ पूजा तजि भाई। अंतर प्रभु लौं जाव रे।। वही, पृ.१ ३९।

३१. वही, पृ. १३८ इसके अतिरिक्त 'सुमिरन प्रभु जी की कर ले प्रानी, पृ. १६४, अरे मन सुमरि देव जिनराय, पृ. १८७ भी दृष्टव्य है।

३२. सीमन्धर स्वामी स्तवन, १४-१५।

३३. चतुर्विंशति जिनस्तुति, जैन गुर्जर कविओ, तृतीय भाग, पृ. १४७९, देखिये चेतन पुद्गल ढमाल, २९, दि. जैन मंदिर नागदा बूंदी में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति।

३४. हिन्दी पद संग्रह, भूमिका, पृ. १६-१७।

३५. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १३२।

३६. तेरी ही शरण जिन जारे न बसाय याको सुमटा सौ पूजे तोहि-मोहि ऐसौ भचयौ है। ब्रह्मविलास, जैन शोध और समीक्षा, पृ. ५५।

३७. आनंदघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल बंबई, सं. १९७१, पद ९५, पृ. ४१३।

३८. ब्रह्मविलास, फुटकर कविता, पृ. ९१।

३९. प्रभु बिन कौन हमारी सहाई। ..... जैन पदावली, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका १५वां त्रैवार्षिक विवरण, संख्या ९५; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २५६।

४०. चौबीस स्तुति पाठ, दि. जैन पंचायती मंदिर बड़ौत, संभवनाथजी की विनती, गुटका नं. ४७, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ३३५।

४१. दौलत जैन पद संग्रह, पद १८, पृ. ११, इसी तरह का एक अन्य पद नं. ३४ भी देखिये, हिन्दी पद संग्रह-द्यानतराय, पृ. १४०।

४२. बुधजन विलास, पृ. २८-२९

४३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १९।

४४. वैराग्यविनती, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ. ७१-७८।
४५. पार्श्वजिनस्तवन, खैराबाद स्थित गुटके में निबद्ध हस्तलिखित प्रति।
४६. गोड़ी पार्श्वनाथ स्तवनम्, जैन गुर्जर कविओ, पहला भाग, पृ. २१६।
४७. सीताचरित, का. ना. प्र. प्रत्रिका का बारहवां त्रैवार्षिक विवरण, ऐपेन्डिक्स २, पृ. १२६१, बाराबंकी के जैन मन्दिर से उपलब्ध प्रति।
४८. नाटक समयसार, मंगलाचरण, पृ. २।
४९. दौलत जैनपद संग्रह, कलकत्ता, पद ३१, पृ. १९।
५०. तेरहपन्थी मन्दिर, जयपुर पद संग्रह ९४६, पत्र ९०, हिन्दी जैन भक्त कवि और काव्य पृ. २१४।
५१. हिन्दी पद संग्रह २०६।
५२. वही, पृ. १५, रूपचन्द भी लघुमंगल में 'अद्भूत है प्रभु महिमा तेरी, वरी न जाय अलिप मति मेरी' कहकर लघुता व्यक्त करते हैं।
५३. बनारसीविलास, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, भाषानुवाद, पद्य ४ और ६ पृ. १२४।
५४. वही, पृ. १००।
५५. वही, पृ. १६३।
५६. बुधजनविलास, पद ५२, पृ. २९।
५७. हिन्दी पद संग्रह, नवलराम, पृ. १८२।
५८. कर्मघटावलि, कनक कीर्ति, बधीचन्द दि. जैन मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, गुटका नं. १०८।
५९. सीमान्धर स्वामी स्तवन, ९ जैन स्तोत्र संदोह, प्रथम भाग, अहमदाबाद १९३२, पृ. ३४०-३४५।
६०. आहे मुख जिसु पुनिम चन्द नरिंदनमित पद पीठ। त्रिभुवन भवन मंझारि सरीखउं कोई न दीठ। आहे कर सुरतरु वरं शाख समान सजानु प्रमाण। तेह सरीखउ लहकड़ी भूप सरूपहिं जांणि।। आदीश्वर फागु, १४४, १४६, आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, क्रमसंख्या, ९५।
६१. रूपचन्द शतक (परमार्थी दोहाशतक, जैन हितेषी, भाग ६, अंक ५-६।
६२. जाके देहु-द्युति सौं दसो दिशा पवित्र भई-ना.स. जीवद्वार, २५।

६३. अद्‌भुत रूप अनूपम महिमा तीन लोक में छाजै। जाकी छवि देखत इन्द्रादिक चन्द्र सूर्य गण लाजै।। अरि अनुराग विलोकत जाकों अशुभ करम तजि भाजै। जो जगराम बनै सुमरन तो अनहद बाजा बाजै।। दि. जैन मन्दिर, बड़ौत में सुरक्षित पद संग्रह, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २५७।

६४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १८४।

६५. दौलत जैन पद संग्रह, ४३ वां पद, पृ. २५।

६६. बुधजन विलास, ५७ वां पद, पृ. ३०।

६७. सीमन्धर स्वामी स्तवन, विनयप्रभ उपाध्याय, पृ. १२०-२४।

६८. चतुर्विंशती जिनस्तुति, जैन गुर्जर कविओ, तृतीय भाग, पृ. १४७९।

६९. गर्भ विचार स्तोत्र, २७ वां पद्य।

७०. विमलनाथ, जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ९४।

७१. पार्श्वजिनस्तवन-गुणसागर, जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ९५।

७२. गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन-कुशललाभ, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ. २१६ अन्तिम कलश।

७३. कुअरपाल का पद। कवि की अनेक रचनायें सं. १६८४-१६८५ में लिखे एक गुटके में निबद्ध हैं जो की श्री अगरचन्द नाहटा को उपलब्ध हुआ था।

७४. भूपाल स्तोत्र छप्पय, दूंणी, जयपुर का जैन शास्त्र भण्डार, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, तृ. ३८९।

७५. नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृ. ३६५।

७६. दौलत जैन पद संग्रह, ४३, १११, ११२ वें पद्य।

७७. बुधजन विलास, ११७, पृ. ६०।

७८. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १४ और २०।

७९. वही, पृ. ४०।

८०. वही, पृ. १०९।

८१. वही, पृ. १८१-८२।

८२. प्रभु मेरे तुमकूं ऐसी न चाहिए। सधन विधन घेरत सेवक कु, मौन धरी किऊं रहिये।।१।। विधन हरन सुखकरन सबनिकुं चित चिन्तामनि कहिये। असरण शरण अबंधुबंधु कृपासिन्धु को विरद निबहिये। हिन्दी पद संग्रह, भ. कुमुदचन्द्र, पृ. १४, लूणकरणजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटक नं. ११४ में सुरक्षित पद।

८३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११४-१५
८४. धर्मविलास, ५४वां पद्य।
८५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २१६-७ खुशालचन्द काला भी इसी प्रकार उलाहना देते हुए भक्ति व्यक्त करते हैं - 'तुम प्रभु अधम अनेक उधारै ढील कहा हम वारो जी।'
८६. पाहुड़ दोहा, १६८
८७. योगसार, पृ. ३८४
८८. पाहुड़ दोहा, ३८४
८९. बनारसीविलास, प्रश्नोत्तर माला, १२, पृ. १८३
९०. मनरामविलास, ७२-७३ ठोलियों का दि. जैन मंदिर, जयपुर, वैष्टन नं. ३९५।
९१. दौलत जैन पद संग्रह, ६५, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता।
९२. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, २१, पृ. २३६।
९३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११४।
९४. आणंदा, आमेरशास्त्र भंडार जयपुर की हस्तलिखित प्रति।
९५. हि. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २०२, जलविलास।
९६. नाटक समयसार, उत्थानिका, १९।
९७. नाटक-समयसार, कर्ताकर्म क्रिया द्वार, २७, पृ. ८६। ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव'। समरसी भए एकता सों नहि टले हैं। महामोह नासि सुद्ध-अनुभी अभ्यासि निज, बल परगति सुखरासि मांहि टले हैं।।
९८. साध्य-साधक द्वार, १०, पृ. ३४०।
९९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १४७।
१००. आनंदघन बहोत्तरी, पृ. ३५८।
१०१. द्यानत विलास, कलकत्ता।
१०२. आणंदा, आनंदतिलक, जयपुर आमेर शास्त्र भंडार की हस्तलिखित प्रति २।
१०३. दौलत जैन पद संग्रह, ७३, पृ. ४०।
१०४. भेषधार रहे भैया, भेस ही में भगवान। भेष में न भगवान, भगवान तो भाव में।। (बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ४३, पृ. ८७)।
१०५. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. २४४।

१०६. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ३४, पृ. ८४।

१०७. नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृ. १४१।

१०८. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, ८२, पृ, २८५।

१०९. १. जाप-जो कि बाह्य क्रिया होती हैं २. अजपाजाप-जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यांतरित जीवन में प्रवेश करता है, ३. अनहद जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहां पर अपने आप की पहचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अंत में कारणातीत हो जाता है।

११०. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११९।

१११. वही, पृ. ११८, आओ सहजवसन्त खेलैं सव होरी होरा।। अनहद शबद होत घरघोरा।। (वही, पृ. ११९-२०)।

११२. धर्मविलास, पृ, ६५, सोहं निज जपै, पूजा आगमसार। सत्संग में बैठना, यही करै ब्यौहार।। (अध्यात्म पंचासिका दोहा, ४९)

११३. आसा मारि आसन घरि घट में, अजपा जाप जगावै। आनंदघन चेतनमयमूरति, नाहि निरंजन पावै।। (आनंदवन बहोत्तरी, पृ. ३५९।

११४. आनंदघन बहोत्तरी पृ, ३९५; अपभ्रंश और हिन्दी जैन रहस्यवाद, पृ. २५५।

११५. वही, पृ. ३६५।

११६. कबीर की विचारधारा-डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ, २२६-२२८।

११७. कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ. ३७२।

११८. सह एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भया आया नहीं धरे। सही एरी ! मन उदधि अनंदा सुख-कन्दा चन्दा धरे। चन्द जिवां मेरा बल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करे। जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहुदुख तिमिर वितान हरे। सहु काल विनानी अमृतवानी, अक मृग का लांछन कहिये। श्री शांति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज आज मिला मेरी सहिये। बनारसीविलास, श्री शांतिजिन स्तुति, पद्य १, पृ. १८९।

११९. मेरा मन का प्यरा जो मिलै। मेरा सहज सनेही जो मिलै।।१।। उपज्यो कंत मिलन को चाव। समता सखी सों कहै इस भाव।।३।। मैं विरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जलबिन मीन।।३।। बाहिर देखूं तो पिय दूर। बट देखे घट में भरपूर।।४।। होहुं मगन में दरशन पाय। ज्यों दरिया में बूंद समाय।।९।। पिय को मिलों अपनपो खोय। ओला गलपाणी ज्यों होय।।१०।। बनारसीविलास, अध्यातम गीत, १-१०, पृ. १५९-१६०।

१२०. वही, अध्यातम गीत, १८-२९, पृ. १६१-१६२।

१२१. बनारसीविलास, अध्यातम पद पंक्ति, १०, पृ. २२८-२९।

१२२. बनारसीविलास, पृ. २४१।

१२३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३-५।

१२४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६, जिनहर्ष का नेमि-राजीमती बार समास सवैया १. जैन गुर्जर कवियों, खंड २, भाग, पृ. ११८०; विनोदीलाल का नेमि राजुल बारहमासा, बारहमासा संग्रह, जैन पुस्तक भवक कलकत्ता, तुलनार्थ देखिये।

१२५. नेमिनाथ के पद, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १५७; लक्ष्मी बालम का भी वियोग वर्णन देखिये जहाँ साधक की परमात्मा के प्रति दाम्पत्यमूलक रति दिखाई देती है, वही, नेमिराजुल बारहमासा, १४, पृ. ३०९।

१२६. भूधर विलास, १३, पृ. ८।

१२७. वही, ४५, पृ, २५; पद १३।

१२८. पंचसहेली गीत, लुणकरजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटका नं, १४४ में अंकित है; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. १०१-१०३।

१२९. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, २७ वां पद्य, पृ. १४।

१३०. आनंदघन बहोत्तरी, ३२-४१।

१३१. पिया बिन सुधि-बुधि मुंदी हो। विरह भुजंग निसा समैं, मेरी सेजड़ी खूंदी हो। भोयणपान कथा मिटी. किसकूं कहुं सुद्धी हो।।वही, ६२।

१३२. आनन्दघन बहोत्तरी, ३२।

१३३. वही, पृ. २०।

१३४. शिव-रमणी विवाह, १६ अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर गुटका नं. १५८ वेष्टन नं. १२७५।

१३५. श्री चूनरी, इसकी हस्तलिखित प्रति मंगोरा (मथुरा) निवासी पं. कल्लभ राम जी के पास सुरक्षित है, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. ९०।

१३६. विशम विरण पूरा भयो हो, आयो सहज वसंत। प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमंत।। अध्यातम विन क्यों पाइये हो।।२।। सुमति कोकिला गह गही हो वही अपूरब वाउ। भरम कुहर बादर फटे हो' घट जाडो जड़ ताउ।।अध्यातम।।३।। मायारजनी लघु भई हो' समरस दिवशशि जीत। मोह पंक की थिति घटी हो; संशय शिशिर व्यतीत।।अध्यातम।।४।। शुभ दल पल्लव लहलहे हो' होहि अशुभ पतझार। मलिन विषय रति मालती हो' विरति वेलि विसतार ।।अध्यातम।।५।। शशिविवेक निर्मल भयो हो, थिरता अभय झकोर। फैली शक्ति सुचन्द्रिका हो, प्रमुदित नैम-चकौर ।।अध्यातम।।६।। सुरति अग्नि ज्वाला लगी हो' समकित भानु अमन्द। हृदय कमल विकसित भयो हो' प्रगट सुजश मकरन्द ।।अध्यातम।।७।। दिढ कषाय हिमगिर गले हो नदी निर्जरा जोर। धार धारण बह चल हो शिवसागर मुख और ।।अध्यातम०।।८।। वितथ वात प्रभुता मिटी हो जग्यो जथारथ काज। जंगलभूमि सुहावनी हो नृप वसन्त के राज ।।अध्यातम०।।९।। बनारसीविलास, अध्यातम फाग २-६ पं. १५४।

१३७. गौ सुवर्ण दासी भवन गज तुरंगे परधान। कुलकतंत्र तिल भूमि रथ ये पुनीत दशदान।।वही, दसदान, १ पं. १७७।

१३८. बनारसीविलास, अध्यातम फाग, १८, पृ. १५५-१५६।

१३९. अक्षर ब्रह्म खेल अति नीको खेलत ही हुलसावै-हिन्दी पद संग्रह, पृ. ९२।

१४०. माहवीरजी अतिशय क्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज ८-६, पृ. १६०; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. २५६।

१४१. आयो सहज वसन्त खेलै, सब होरी होरा।। उत बुधि देया छिमा बहुणढ़ी, इत जिय रतन सजे गुनन जोरा।। ज्ञान ध्यान उफ ताल बजत है अनहद शब्द होत घनघोरा।। धरम सुराग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहुं ने घोरा ।।आयो०।।२।। परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों कटि कटि जोरा।। इततैं कहैं नारि तुम काकी, उततैं कहैं कौन को छोरा ।।३।। आठ काठ अनुभव पावक में, जल बुझ शांत भई सब ओरा।। द्यानत शिव आनन्द चन्द छबि, देखे सज्जन नैन चकोरा।।४।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. ११९।

१४२. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १२१।

१४३. वही, पृ. १४९।

१४४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५८।

१४५. इह विधि खेलिये होरी हो चतुर नर।। निज परनति संगि लैहु समहागिन, अरु फुनि सुमति किशोरी हो।।१।। ग्यान मइ जल सौ भरि भरि के सबद पिचरिका छोरी। क्रोध मान अबीर उड़ावौ राग गुलाल की झौरी ही ।।३।। हिन्द पद संग्रह, पृ. १७७।

१४६. वही, पृ. १७६।

१४७. छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर घोरी। मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी।। 'बुधजनविलास', ४०।

१४८. वही, पृ. ४९।

१४९. छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर धोरी। मिथ्या पत्थर डारी धारि लै, निज गुलाल की झोरी।। 'बुधजनविलास', ४९।

१५०. मेरो मन ऐसी खेलत होरी।। मन मिरदंग साजकरि त्यागी, तन को तमूरा बनोरी। सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी। राग पांचौं पद कोरी, मेरो मन.।।१।। समकिति रूप नर भी झारी, करुना केशर घोरी। ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ करमाहिं सम्होरी। इन्द्र पांचौं सखि बोरी, मेरे मन. ।।२।। चतुरदान को है गुल्लाल सौ, भरि-भरि मूठि चलोरी। तप मेवाकी भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी। तप मेवाकी भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी। रंग जिनधाम मचोरी, मेरे मन. ।।३।। दौलत बाल खैलैं अस होरी, भवभव दुःख टलौरी। शरना ले इक श्रजन को री, जग में लाज हो तोरी। मिलैं फगुआ शिव होरी। मेरे मन. ।।४।। दौलत जैन पद संग्रह, पृ. २६।

१५१. वही, पृ. २६।

अष्टम परिवर्त

१. उत्तराध्ययन, पृ. १०, १५।
२. संत वाणी संग्रह, भाग-२, पृ. ४।
३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ७७।
४. 'ऐसी यह संसार है जैसा सेमर फूल। दिन दस के व्यवहार में झूठ रे मन भूल।।' कबीर साखी संग्रह, पृ. ६१।
५. यह संसार सेंवल के फूल ज्यौं तापर तू जिनि फूलै, दादूवानी, भाग-२, पृ. १४।
६. सब जग छैली काल कसाई, कर्द लिए कंठ काटै। पच तत्त्व की पंच पंखरी खण्ड-खण्ड करि वाटै।। दादूवानी, भाग-१, पृ. २२९।
७. जायसी का पद्मावतः काव्य और दर्शन डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. २१३-२१४।
८. सूरसागर ।
९. सन्त वाणी संग्रह, भाग-२, पृ. ४६।
१०. देखिये, इसी प्रबन्ध का द्वितीय-पंचम परिवर्त, वृहद् जिनवाणी संग्रह, बारह भावना भूधरदास, बुधजन, आदि कवियों की।
११. जोवन गृह गो धन नारी, हय गयजन आज्ञाकारी। इन्द्रीय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई।। छहढाला, ५-३।
१२. विनय पत्रिका, १८८. वां पद ।
१३. सूरसागर, ३३५।
१४. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १३३।
१५. वही, पृ. १५७।
१६. वही, पृ. ७०।
१७. कविता रत्न, पृ. २४।
१८. सूरसागर, १११०।
१९. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ५।
२०. संत वाणी संग्रह, भाग २, पृ. २१।
२१. संत वाणी संग्रह, भाग २, पृ. ६४।

२२. बनारसीदासविलास, प्रास्ताविक फुटकर कवित्त, पृ. १२।
२३. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५२।
२४. दादू की वानी, भाग २, पृ. ९४।
२५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५२।
२६. वही, १५८।
२७. दादू की वानी, भाग २, पृ. ९४।
२८. कबीर ग्रंथावली, पृ. ३४६।
२९. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. ११. पद १७ वां।
३०. संत वाणी संग्रह, भाग २, पृ. १२४।
३१. क्षणभंगुर जीवन की कलियाँ कल प्रात को जानै खिली न खिलीं। मलयाचल की शुचि शीतल मन्द सुगन्ध समीर मिली न मिली। कलि काल कुठार लिए फिरता तनु नम्र है चोट झिली न झिली। करि ले हरि नाम अरी रसना फिर अंत समे पै हिल न हिली।।
३२. भगवंत भजन क्यों भूला रे।। यह संसार रैन का सुपना, तन धनवारि बबूला रे।। इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण फूला रे। स्वारथ साधै पांच पांव तु, परमारथ को भूला रे। कहु कैसे सुख पैहैं प्राणी काम करै दुखमूला रे।। मोह पिशाच छल्यो मति मारै निजकर कंध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर 'भूधर' दो दुरमति सिर धूला रे।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५७।
३३. कबीर ग्रंथावली, पदावली भाग, ९२ वां पद, पृ. ३४६।
३४. ब्रह्मविलास, अनित्य पचीसिका, ४१, पृ. १७६। जैन साधकों द्वारा शरीर चिन्तन को विस्तार से इसी प्रबन्ध के द्वितीय-पंचम परिवर्त में देखिए।
३५. कबीर-डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्य १३०, पृ. ३०९।
३६. सन्त वाणी संग्रह, भाग २, पृ. ४।
३७. हिन्दी पद संग्रह, पद १५६, पृ. १३०।
३८. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, ऋग्वेद ६.४७.१८।
३९. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्योमायया संनिरुद्धः, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.९।
४०. मिच्छत वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होई। णय धम्मं रोचेदि हु, महुर पि रसं जहा जरिदो, पंचसंग्रह, १.६: तु. उत्तराध्ययन, ७.२४।

४१. ब्रह्मसूत्र भाष्य, २.१.९, १.१.२१, २.१.२८।

४२. अद्वैत ब्रह्म सत्यम् जगत् इदमनृत मायया भासमान। जीवो ब्रह्म स्वरूपो अहमिति ममचेत् असित देहेभिमान। श्रृत्वा ब्रह्ममहमस्म्नुयभवमुदिते नष्ट कर्माभिमानात्। माया संसार मुक्ते इह भवति सदा सच्चिदानन्द रूपः। भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. ६१।

४३. राघवदूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानु।। जायसी ग्रन्थावली, पृ. ३०१।

४४. वही, पृ. २२४-२२६।

४५. वही, पृ. २०५।

४६. गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल निहिं सब जग बस कीन्हों, सूरसागर पद, ४४।

४७. माधौजू नैकु हटकौ गाइ। भ्रमत निसि-वासन अपथ-पथ, अगह गहिं-गहिं जाइ। धुधिन अति न अधाति कबहूं, निगम दुमदलि खाइ। अष्ट इस-घट नीर अंचवति तृषा तऊ न बुझाइ। सूरसागर, पद ५६।

४८. सूरसागर, ४२-४३, तुलनार्थ दृष्टव्य, मलूकदास, भाग २, पृ. ९, पलटू, संतवाणी संग्रह, भाग २, पृ. २३८।

४९. मीराबाई, पृ. ३२७-२८।

५०. तुलसी, सं. उदयभानुसिंग, पृ. १७८-९।

५१. तुलसी ग्रन्थावली, पृ. १००।

५२. माया छाया एक सौ विरला जाने कोय। आता के पीदे फिरे सनमुख भागै सोय। संत वाणी संग्रह, भाग १, पृ. ५७।

५३. माया छाया एक है घटै बढ़ै छिन माहि। इनकी संगति जे लगै तिनहि कटी सुख नाहिं।।बनारसीविलास, पृ. ७५।

५४. माया की संवारी सेज चादरि कलपना.....नाटक समयसार, निर्जराद्वार १४, पृ. १३८।

५५. माया तो ठगिनी भई ठगत फिरै सब देस, संतवाणी संग्रह, भाग १, पृ. ५७।

५६. कबीर-डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्य १३४, पृ. ३११।

५७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५४।

५८. अवधू ऐसो ज्ञान विचाररी, वामें कोण पुरुष कोण नारी। बाह्मन के घर न्हाती धोती, बाह्मन के घर चेली। कलमा पढ़ पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आप ही आप अकेली।। ससरो हमारो बालो भोलो, सासू बाल कुंवारी। पिचजू हमारे होढ़े पारणिय, तो मैं हूं झुलावनहारी।। नहीं हूं पटणी, नहीं हूं कुंवारी पुत्र जणावन हारी। काली दाड़ी को मैं कोई नहीं छोड़यो, तो हजुए हूं बाल कुंवारी।। अढी द्वीप में खाट खटूली, गगन उशीकु तलाई। धरती को छेड़ो, आम की पिछोड़ी, तोमन सोड भराई।। गगन मंडल में गाय बिआणी, वसुधा दूध जमाई। उस रे सुनो माइ वलोणूं बलोवे, तो तत्त्व अमृत कोई पाई।। नहीं जाऊं सासरिये ने नहीं जाऊं पीहरिये, पियजू की सेज बिछाई। आनन्दघन कहै सुना भाई साधु, तो ज्योत से ज्योत मिलाई। आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. ४०३-४०५।

५९. कबीर ग्रंथावली, पद २३१, पृ. ४२७-२८।

६०. तुलसी रामायण, अयोध्याकाण्ड, ३२३-४।

६१. मलूकदास, भाग २, पृ. १६।

६२. दादू, भाग १, पृ. १३१।

६३. यह संसार सपन कर लेखा, विछरि गये जानों नहिं देखा, जायसी ग्रन्थावली, पृ. ५५।

६४. जेसे सुपने सोइ नेखियत तैसे यह संसार, सूरसार, पृ. २००।

६५. मोह निसा सब सोवनि द्वारा, देखिअ सपन अनेक प्रकारा, मानस, पृ. ४५८।

६६. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १५४।

६७. तम मोह लोभ अंहकारा, मद, क्रोध बोध रिपु भारा। अति करहि उपद्रव नाथा, मर्दहि मोहि जानि अनाथा। सन्तवाणी संग्रह भाग २, पृ. ८६ तुलनार्थ देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृ. ३११

६८. सूरसागर १५३, पृ. ८१।

६९. काहे को क्रूर करे अति, तोहि रहैं दुख संकट घेरे। काहे को मान महाश रखावत, आवत काल छिने छिन तेरे।। काहे को अंध तु बंधन मायासौ, यज

नरकादिक में तुहै गेरे। लोभ महादुख मूल है भैया, तु चेतत क्यों नहि चेत सेवेरे।। ब्रह्मविलास, पुण्य पचीसिका ११ पृ. ४।

७०. आमचरित मानस, गीता प्रेस, पृ. ४५८।

७१. सूरसागर, पृ. १७३।

७२. थकित होय रथ चक्रहीन ज्यौं विरचि कर्मगुन फंद, वही, पृ. १०५।

७३. ब्रह्मविलास,पुण्य पाप जगमूल पचीसी, २०, पृ. १९९।

७४. मीरा बाई, पृ. ३२७।

७५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. २०१।

७६. यदा विनियतं चित्तं मात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृह सर्वकामेभ्यो योग इत्युच्यते तदा।। गीता, ६.१८।

७७. कठोपनिषद् २.३.१०

७८. मणसा वाया वा वि जुत्तस्य वीरिय परिणामो। जीवस्स विरिय जोगो, जोगोत्ति जिणेहिं णिदि्ट्ठो पंच संग्रह, १८८।

७९. चतुर्वर्गग्रही मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्-योगशास्त्र, १.१५।

८०. पंचह णायकु वसिकरहु जेण होती वसि अण्ण। मूल विणट्ठइ तरुवरह अवसइ सुक्कहिं पण्ण। परमात्मप्रकाश, १४०, पृ. २८५।

८१. मनोदृश्यमिंद द्वैतम्, माण्डूक्य कारिका, ३.३१।

८२. मन पांचौं के वसि परा मन के वस नहिं पांच।
जित देखूं तित दौ लगि जित भाखू तित आंच।। कबीर वाणी, पृ. ६७।

८३. माया सों मन वीगडया, ज्यों कांजी करि दूध। है कोई संसार में मन करि देवे सूध ।।दादू, भाग १, पृ. ११८।

८४. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १४६।

८५. वही, पृ. १४६।

८६. काहै रे मन दह दिसिं धवै, विषिया संगि संतोष न पावे।। जहां जहां कलपे तहां तहां बंधनो, रतन को थाल कियौ ते रंधनां। कबीर ग्रंथावली, पद ८७, पृ. ३४३।

८७. रे मन! कर सदा सन्तोष, बढ़त ईंधन जरत जैसे, अगनि ऊंची जोति।। बनारसीदास, हिन्दी पद संग्रह, पृ. ६५।

८८. मेरे मन तिरपत क्यों नहि होय, अनादिकाल तैं विषयनराच्यो, अपना सरवस खोय।। बुधजन, वही, पृ. १९७।

८९. ब्रह्मविलास, मनवत्तीसी, पृ. २६२।

९०. मनकरहारास, १, अमीर शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति तुलनार्थ दृष्टव्य-जैनशतक, भूधरदास, ६७, पृ. २६।

९१. तित्थई तित्थु भमं ताहं मूढ़हं मोक्खण होइ। णाण विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोई ।५८। परमात्मप्रकाश, द्वि. महा०, पृ. २२७।

९२. पत्तिय पाणिउ दग्ध तिल सव्वहं जाणि सवण्णु। ज पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कुइ अण्णु ।।-पाहुडदोहा, १५९।

९३. मोक्खपाहुड़ ६१; भावपाहुड़ २।

९४. हिन्दी काव्यधारा - सं. राहुल सांकृत्यायन, पाखण्ड-खण्डन (छाया) पृ. ५, तुलनार्थ दृष्टव्य है - ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, ११. पृ. १०।

९५. पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार। तातैं ये चाकी भली पीसि खाय संसार।। संतवाणी संग्रह, भाग-१, पृ. ६२।

९६. मूड़ मुड़ाये हरि मिलैं सब कोई लेय मुड़ाय। बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय।।

९७. माला फेरत जुग गया, पाय न मन का फेर। करका मनका छांडि दे मनका मनका फेर ।। कबीर ग्रन्थावली, पृ. ४५।

९८. जायसी का पद्मावत - डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. १५७।

९९. नागैं फिरैं जोग जो होई, बन का मृग मुकति गया कोई। मूड़ मुड़ायै जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंची कोई।। नन्द राखि जे खेलै है भाई, तो दूसरे कौण परम गति पाई।।३२।। कबीर ग्रन्थावली, पृ. २३।

१००. सुन्दरविलास, पृ. २३।

१०१. संत सुधासार, भाग-२, पृ. ५८।

१०२. भीखा साहब की वानी, पृ. ५।

१०३. विनयपत्रिका, पद १२९।

१०४. तुलसी ग्रन्थावली, पृ. २००।

१०५. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, ९६-९७।

१०६. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, ११, पृ. १० वही; अनित्यपचीसिया, ९, पृ. १७४।

१०७. ब्रह्मविलास, सुपंथ कुपंथपचीसिक, ११, पृ. १८२।

१०८. हयं नाण क्रियाहीणं हया अन्नाणओ क्रिया। पासंतौ पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ।। विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्रगणि, ११५९।

१०९. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ४३, पृ ८७।

११०. क्या है तैरे न्हाई धोइ, आतमराम न चीन्हा सोई। क्या घट बिन नरक न छूटै, जो धौवै सौ बारा। ज्यूं दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई।। कबीर, पृ. ३२२।

१११. अब्भिन्तर चित्ति वि मइलियइ बाहिरि काइ तवेण। चित्ति णिरंजणु कौ वि घरि मुच्चहि जेम मलेण।। पाहुणदोहा, ६१, पृ. १८। भित्तरि भरिउ पाउमलु, मूढा करहिं सण्हाणु। जे मल लाग चित्त महि अणन्दा रे ! बिम जाय सप्हाणि।।आणंदा, ४।

११२. उत्तराध्ययन, १ २७।

११३. जे केइ वि उवएसा, इह पर लोए सुहावहा संति। विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ।। वसुनन्दि-श्रावकाचार, ३३९, तुलनार्थ देखिये - घेरंड संहिता, ३, १२-१४।

११४. उत्तराध्ययन, प्रथम स्कन्ध।

११५. श्वेताश्वेतरोपनिषद् ३-६, २२ आदि पर्व, महाभारत, १३१.३४.५८।

११६. ताम कुतित्थइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ। गुरुहु पसाए जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ।। योगसार, ४१, पृ. ३८०। अप्पापरहं परंपरह जो दरिसावइ भेउ ।। पाहुड्दोहा, १ ।

११७. गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु। सौ दरिसावइ अप्प परू आणंदा ! भव जल पावइ पारु।। आणंदा, ३६।

११८. गुरु गोविन्द दो ऊ खड़े काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविन्द दियो दिखाय। संत वाणी संग्रह, भाग-१, पृ. २।

११९. बलिहारी गुरु आपणों द्यौं हाड़ौ कै बार। जिनी मानिष तैं देवता करत न लागी बार। कबीर ग्रन्थावली, पृ. १।

१२०. ससै खाया सकल जग, ससा किनहूं न खद्ध, वही, पृ. २-३।

१२१. वही, पृ. ४।

१२२. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. ७।

१२३. गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।।पद्मावत।

१२४. गुरु होइ आप, कीन्ह उचेला, जायसी ग्रन्थावली, पृ. ३३।

१२५. गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।। वही, पृ. ५१।

१२६. जायसी ग्रंथावली, स्तुतिखण्ड, पृ. ७।

१२७. जोग विधि मधुबन सिखिहैं जाइ। बिनु गुरु निकट संदेसनि कैसे, अवगाह्यौ जाइ। सूरसागर (सभा), पद ४३२८।

१२८. वही, पद ३३६।

१२९. सूरसागर, पद ४१६, ४१७; सूर और उनका साहित्य।

१३०. परमेसुर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान-संतसुधासार, पत्र १८२।

१३१. आचार्य क्षितिमोहन सेन-दादू औरर उनकी धर्मसाधना, पाटल सन्त विशेषांक, भाग १, पृ. ११२।

१३२. बलिहारी गुरु आपणों द्यौ हांड़ी के बार। जिनि मानिषतें देवता, करत न लागी बार।। गुरु ग्रंथ साहिब, म १, आसादीवार, पृ. १।

१३३. सुन्दरदास ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ. ८।

१३४. रामचरितमानस, बालकाण्ड १-५।

१३५. गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई जो विरंचि संकर सम होई। बिन गुरु होहि कि ज्ञान ज्ञान कि होइ विराग विनु। रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ९३।

१३६. वही, उत्तरकाण्ड, ४३१४।

१३७. बनारसीविलास, पंचपद विधान, १-१० पृ. १६२-१६३।

१३८. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ११७।

१३९. ज्यौं वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार। त्यौं सद्गुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार।। नाटक समयसार, ६, पृ. ३३८।

१४०. वही, साध्य साधक द्वार, १५-१६, पृ. ३४२-३।

१४१. बनारसी विलास, भाषासूक्त मुक्तावली, १४, पृ. २४।

१४२. सद्गुरु मिलिया सुंछपिछानौ ऐसा ब्रह्म मैं पाती। सगुरा सूरा अमृत पीवे निगुरा प्यारस जाती। मगन भया मेरा मन सुख में गोविन्द का गुणगाती। मीरा कहै इक आस आपकी औरां सूं सकुचाती।। सन्त वाणी संग्रह, भाग २, पृ. ६९।

१४३. अब मौहि सद्गुरु कहि समझायौ, तौ सौ प्रभू बड़ै भागनि पायो। रूपचन्द नटु विनवै तौही, अब दयाल पूरौ दे मोही।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. ४९।

१४४. वही, पृ. १२७, तुलनार्थ देखिये। मन वचकाय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाइ। द्यानत स्वर्ग मोक्ष सुखदाई सतगुरु सीख बताई।। वही, पृ. १३३।

१४५. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. ११७।

१४६. भाई कोई सतगुरु सत कहावै, नैनन अलख लखावै-कबीर; भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. १४६।

१४७. दरिया संगम साधु की, सहजै पलटै अंग। जैसे सं गमजीठ के कपड़ा होय सुरंग। दरिया ८, संत वाणी संग्रह, भाग १, पृ. १२९।

१४८. सहजो संगत साध की काग हंस हो जाय। सहजोबाई, वही, पृ. १५८।

१४९. कह रैदास मिलैं निजदास, जनम जनम के काटे पास-रैदास वानी, पृ. ३२।

१५०. तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चर्चा गुण लीजौ - सन्तवाणी संग्रह, भाग २, पृ. ७७।

१५१. जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड चेतन जीव जहाना। मीत कीरति गति भूति भलाई, जब जेहिं जतन जहां जेहिं पाई। सौ जानव सतसंग प्रभाऊ, लौकहुं वेद न आन उपाऊ। बिनु सतसंग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई। सतसंगति मुद मंगलमूला, सोई फल सिधि सब साधन फूला। सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई। तुलसीदास-रामचरिमानस, बालकाण्ड २-५।

१५२. तजौ मन हरि विमुखन को संग। जिनके संग कुमति उपजत है परत भजन में

भंग। कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग। कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग। सूरदास खलकारी कामरि, चढ़ै न दूजौ अंग।। सूरसागर, पृ. १७६।

१५३. बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, पृ. ५०।

१५४. कर कर सपत संगत रे भाई।। पान परत नर नरपत कर सौ तौ पांननि सौ कर आसनाइ।। चन्दन पास नींव चन्दन है काढ चढ़यौ लोह तरजाई। पारस परस कुघात कनक है बून्द उर्द्ध पदवी पाई।। करई तौवर संगति के फल मधुर मधुर सुर कर गाई। विष गुन करत संग औषध के ज्यौं बच खात मिटैं वाई।। दोष घटे प्रगटें गुन मनसा निरमल है तज चपलाई। द्यानत धन्न धन्न जिनके घट सत संगति सरधाई।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. १३७।

१५५. वही, पृ. १५५।

१५६. वही, पृ. १५८-८६।

१५७. देखौ स्वांति बून्द सीप मुख परी मोती होय: केलि में कपूर बांस मोंहि बंसलोच ना। ईख में मधुर पुनि नीम में कटुक रस, पन्नग के मुख मरी होय प्रान मोचना।। अंबुज दलनिपरि परी मोती सम दिपै, तपन तबे पे परी नसै कछु सोचना। उतकिष्ट मध्यम जघन्य जैसौं संग मिलै, तैसौ फल लहै मति पौच मति पोचना ।।१४७।। मलय सुवास देखो निंबादि सुगन्ध करे, पारस पखान लोह कंचन करत है। रजक प्रसंग पट समलतें श्वेत करै, भेषज प्रसंग विष रोगन हरत है।। पंडित प्रसंग जन मूरखतें बुध करै, काष्ट के प्रसंग लोह पानी में तरत है। जैसौ जाको संग ताकौ तैसी फल प्रापति है, सज्जनप्रसंग सब दुख निवरत है।। १४८, मनमोदन, पंचशती, पृ. ७०-७१।

१५८. वेदान्तसार, पृ. ७।

१५९. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. ३-५

१६०. अतस्तद्भासकं नित्यशुद्धयुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यकः। चैतन्यमेवात्म-भवस्त्विति वेदान्तविदनुभवः। वेदान्तसार-सं. हरियत्रा, पृ. ८।

१६१. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ ८८

१६२. ब्रह्मविलास, द्रव्यसंग्रह, २, पृ. ३३।

१६३. काया उदधि चितव पिंडा पाहां। दखैं रतन सौं हिरदय माहां । जायसी ग्रन्थावली, पृ. १७७

१६४. वही, पृ. ३।
१६५. आजु सुर ससि के घर आया। ससि सूरहि जनु होइ मेरावा, वही, पृ. १२३।
१६६. हिय कै जोति दीप वह सूझा, जायसी ग्रन्थावली, पृ. ६१।
१६७. वही, पृ. ५०।
१६८. वही, पृ. ५७।
१६९. जायसी का पद्मावत: काव्य और दर्शन, पृ १९४-२०४।
१७०. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १०५।
१७१. आप ही आपह विचारिये तब कैसा होई आनंद रे, कबीर ग्रंथावली, पृ. ८९।
१७२. वही, पृ. ५६।
१७३. वही, पृ. ३२३।
१७४. निजस्वरूप निरंजना, निराकार अपरंपार, वही, पृ. २२७।
१७५. वही, पृ. ७३।
१७६. वही, पृ. ७३।
१७७. सन्तवानी संग्रह, पृ. १०७।
१७८. सूरसागर, पद ३६९।
१७९. वही, पद ४०७।
१८०. जिय जब तैं हरि तैं बिगान्यौ। तब तै गेह निज जान्यौ। माया वस सरूप बिसरायौ। तेहि भ्रम तें दारुन दु:ख पायौ। विनयपत्रिका, १३६।
१८१. वही,५३।
१८२. गीतावली, ५, ५-२७।
१८३. परमार्थप्रकाश, प्र. मक्त:।
१८४. पाहुड़ दोहा, २६-३१।
१८५. कबीर ग्रंथावली, पृ. २४३।
१८६. कहै कबीर सबै सज विनस्या, रहै राम अविनासी रे। निज सरूप निरंजन निराकार, अपरंपार अपार। अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सौइ। कबीर ग्रंथावली, पृ. २१०. २२७, २३०।
१८७. नाटक समयसार, ४पृ. ५।
१८८. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अग, पृ. १११।
१८९. बनारसीविलास, अध्यातम गीत, पृ. १६१।
१९०. सुन्दरविलास, पृ. १२९।

१९१-३. विनयपत्रिका, ५३।

१९४. सूरसारावली, पद ९९३, पृ. ३४ (वेंकटेश्वर प्रेस)।

१९५. सूर और उनका साहित्य, पृ. २११।

१९६. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, पृ. २११।

१९७. नाटक समयसार, मोक्षद्वार, १०, पृ. २१९।

१९८. कबीर ग्रंथावली, २१९, पृ. १६२।

१९९. सन्तसुधासार, पृ. ६४८।

२००. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. ३५९।

२०१. सुण्ण णिरंजन परम हउ, सुइणेमाउ सहाव। भावहु चित्त सहावता, जउ रासिज्झइ जाव।। दोहाकोश, १३९, पृ. ३०।

२०२. उदय न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन्न। सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापिक सुषम न अस्थूल।। हिन्दी काव्यधारा, पृ. १५८।

२०३. कबीर-डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पंचम संस्करण, पृ. ५२-५३।

२०४. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. ३५४।

२०५. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. ३५५।

२०६. रंजनं रागाद्युःरंजनं तस्मान्निर्गतपस्थानांगसूत्र, अभिधान राजेन्द्र कोश, चतुर्थ भाग, पृ. २१०८, कल्प सुबोधिका में भी लिखा हैं - रंजनं रागाद्युपरजंनं तेन शून्यत्वात् निरंजनम्। परमात्म प्रकाश, १-१७, १२३।

२०७. मध्यकालीन धर्मसाधना - डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र. संस्करण, १९५२ पृ. ४४।

२०८. परमात्म प्रकाश, पृ. २७-२८।

२०९. परम निरंजन परमगुरु परमपुरुष परधान। बन्दहुं परम समाधिगत, अपभंजन भगवान।। बनारसीविलास, कर्मछत्तीसी, पद्य १, पृ. १३६।

२१०. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. ३६५। तुलनार्थ देखिए, बाबा आत्म अगोचर कैसा तातैं कहि समुझावों ऐसा। जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सौ कहा न जाई। सैना बैना कहि समझाओ, गूंगे का गुड़ भाई। दृष्टि न दीसै मष्टि न आवै, विनसै नाहि नियारा। ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पण्डित करो विचारा।। कबीर, पृ. १२६।

२११. पांचरात्र, लक्ष्मी संहिता साधनांक, पृ. ६०।

२१२. कबीर ग्रन्थावली, पृ. २१४।
२१३. वही, पृ. ३३२।
२१४. विनय पत्रिका, १०५।
२१५. हिन्दी पद संग्रह,पृ. ३२-३३।
२१६. ब्रह्मविलास, पृ. ११६।
२१७. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १८३।
२१८. मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।। जाके सिर मोर मुकुट मेरा पति सोई। तात मात भ्रात बन्धु अपना नहिं कोई। छोड़ दई कुल की कानि क्या करिहै कोई।।
२१९. विनय पत्रिका, १७४।
२२०. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६५, २२३।
२२१. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १२४।
२२२. विनय पत्रिका, २२६।
२२३. सूरसागर, पद ८९।
२२४. मीरा की प्रेम साधना, पृ. २६०, पद १४ वां, पृ. २६२।
२२५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १७४।
२२६. द्यानतराय संग्रह, कलकत्ता, २८ वां पद, पृ. १२।
२२७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १४०।
२२८. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १२७।
२२९. विनय पत्रिका, ९३।
२३०. मीरा की प्रेम साधना, पृ. २६०-६१।
२३१. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६३।
२३२. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १३३।
२३३. विनय पत्रिका, १५३।
२३४. मीरा की प्रेम साधना, पृ. २५९।
२३५. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १६४।
२३६. वही, पृ. १४०।
२३७. वही, पृ. १०१।
२३८. वही, पृ. २१६।

२३९. कबीर ग्रन्थावली, पृ. २६।
२४०. विनय पत्रिका, १०१।
२४१. हिन्दी पद संग्रह, पृ. १०१।
२४२. अहो जगत गुरु देव, सुनियो अरज हमारी। तुम हो दीनदयालु, मैं दुखिया संसारी।। भूधरदास, जिनस्तुति, ज्ञानपीठ पूंजांजली, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, छठा खण्ड, पहला पद्य, पृ. ५२२।
२४३. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १६५ वां पद, पृ. ५४।
२४४. विनय पत्रिका, १४४ वां पद, पृ. २१३।
२४५. भगवंत भजौ सु तजौ परमाद, समाधि के संग में रंग रहो। अहो चेतन त्याग पराइ सुबुद्धि, गहो निज शुद्धि ज्यों सुक्ख लहो।। तुम ज्ञायक हो षट् द्रव्यन के, तिन सौं हित जानि के आप कहो।। ब्रह्मविलास, शतक अष्टोत्तरी, १२, पृ. ३१।
२४६. भक्ति काव्य में रहस्यवाद, २२१-२२६।
२४७. जायसी ग्रन्थ माला।
२४८. सूरसागर, पद ८९।
२४९. सूरसागर।
२५०. सन्तवाणी संग्रह, भाग २, पृ. १५३।
२५१. तुलसी रामायण, बाल काण्ड, १२०।
२५२. कबीर ग्रंथावली, पृ. ८८।
२५३. सूर और उनका साहित्य, पृ. २४०।
२५४. मीरा (काशी) पद १०१।
२५५. डाकोर पद २।
२५६. आनन्दघन पद संग्रह, पद ९६, पृ. ४१३।
२५७. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३३, २५८, १९५।
२५८. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. २६०-३०१।
२५९. पातंजल योग शास्त्र, १-२।
२६०. हठयोग प्रदीपिका की भूमिका-योगी श्रीनिवास आयंगार, पृ. ६।
२६१. योग उपनिषद्, पृ. ३६७।
२६२. जायसी ग्रन्थावली, पृ. ३१।

२६३. वही, पृ. ३८।

२६४. वही, पृ. १०१।

२६५. सूरुज चांद कै कथा जो कहेऊ। प्रेम कहानी लाइ चित्त बाहेऊ, जायसी और उनका पद्मावत, बनिजारा खण्ड-रामचन्द्र शुक्ल 'चांद के रंग में सूरज रंग गया,' वही रत्नसेन भेंट खण्ड।

२६६. गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी।। और कुंड एक मोती चुरु। पानी अमृत, कीच कपूरू।

२६७. नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। ओ तहं फिरहिं पांच कोटवारा। दसवं दुआर गुपुत एक ताका। आगम चढ़ाव, बाट सुठि बांका।। भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद, चढै होई चांटी।। गढ़ तर कुंड, सुरंग तेहि माहां। तहं वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ। चोर बैठ जस सैधि संवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी।। जस मरजिया समुद्र धंस, हाथ आव तब सीप। ढूढि लेइ जो सरग-दुआरी चढै सौ सिंहलद्वीप।। वही, पार्वती महेश खंड'।

२६८. कबीर ग्रन्थावली, पृ. ३०१।

२६९. वही, पृ. १९८।

२७०. वही, पृ. २७७।

२७१. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १४५।

२७२. सहज-सहज सब कोऊ कहे सहज न चीन्हे कोय। जो सहजै साहब मिलै सहज कहावै सोय। सहजै-सहजै सब गया सुत चित काम निकाम। एक मेक हवै मिलि रहा दास कबीरा जान। कड़वा लागे नीम सा जामे एचातानि। सहज मिले सो दूध-सा मांगा मिले सो पानि। कह कबीर वह रकत सम जामै एचातानि। संत साहित्य, पृ. २२२-३।

२७३. ब्रह्म अगिनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै। कहै कबीर सोइ जागेश्वर, सहज सूंनि त्यौ लागै।। कबीर ग्रन्थावली, पृ. १०९।

२७४. कबीर दर्शन, पृ. २९७-३४७।

२७५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी - कबीर परिशिष्ट: कबीर वाण, पृ. २६२।

२७६. संत कबीर, रामकुमार वर्मा, पृ. ५१, पद ४८; संत साहित्य, पृ. ३०४-५।

२७७. दोहाकोष, पृ. ४६।

२७८. कबीर ग्रन्थावली, पृ. २६९, मध्यकालीन हिन्दी संत-विचार और साधना, पृ. ५३१।

२७९. बीजक, पृष्ठ ११६, मध्यकालीन संत-विचार और साधना, पृ. ५३१।
२८०. सहज हाटि मन कीआ निवासु। सहज सुभाव मनि कीआ परगासु-प्राण संगली, पृ. १४७।
२८१. सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरंग। ताला सीतल सम भया, तब दादू एकै अंग ।।दादूदयाल की वानी, भाग १, पृ. १७०।
२८२. वही, भाग-२, पृ. ८८।
२८३. सुन्दरदर्शन - डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ. २९-५०।
२८४. मीरा की प्रेम साधना, पृ. २८१।
२८५. वही,पृ. २०४।
२८६. बनारसीविलास, प्रश्नोत्तरमाला, १२. पृ. १८३।
२८७. दौलत जैन पद संग्रह, ६५।
२८८. आणंदा, ४०, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।
२८९. सैना बैना कहि समुझाओ, गूंगे का गुड़।। कबीर, पृ. १२६।
२९०. द्यानतविलास, कलकत्ता,
२९१. दौलत जैन पद संग्रह, ७३, पृ. ४०।
२९२. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ ३५८।
२९३. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, ३४, पृ. ८४।
२९४. हिन्दी पद संग्रह, ११९।
२९५. एवं क्रमशोऽभ्यासवशाद् ध्यान भजेत्रिरालम्बम्। समरसभावं पातः परमानन्द ततोऽनुभवेत्।। योगशास्त्र, १२. ५; तुलनार्थ देखिये, ज्ञानार्णव, ३०-५।
२९६. मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरउ वि मणस्सु। वे हि वि समरस हूवाहं, पुज्ज चढावउं कस्स ।। परमात्मप्रकाश, १. १२३, पृ. १२५।
२९७. पाहुड़ दोहा, १७६, पृ. ५४।
२९८. वेदान्तसूत्र, १.१.१।
२९९. मुण्डकोपनिषद्, ३.१.८।
३००. तैत्तरीयोपनिषद्, १.९।
३०१. कबीर ग्रंथावली, पृ. २४१, पृ. ४ साखी, पृ. ५।
३०२. वही, पृ. ३१८।

३०३. कहत कबीर तरक दुइ साधै, ताकी मति है मोही, वही, पृ. १०५।
३०४. शब्दावली, शब्द ३०।
३०५. दादूदयाल की बानी, भाग १, परचा को अंग ९३, ९८, १०९
३०६. उल्टी चाल मिले परब्रह्म सो सद्गुरु हमारा-कबीर ग्रंथावली, पृ. १४५। दिल में दिलदार सही अंखियां उल्टी करिताहि चितैये-सुन्दरविलास, पृ. १५६। उलटि देखो घर में जोति पसार-सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ. १८८।
३०७. कबीर ग्रंथावली, पृ. ८९।
३०८. नाटक समयसार, १७।
३०९. बनारसीविलास, परमार्थ हिन्डोलना, पृ. ५।
३१०. देखिये, इसी प्रबन्ध का चतुर्थ परिवर्त, पृ. ८१-८६।
३११. अध्यात्म पदावली, पृ. ३५९।
३१२. दादूवानी, भाग १. पृ. ६३।
३१३. सुन्दर विलास, पृ. १५९।
३१४. नाटक समयसार, १७।
३१५. दादूवानी, भाग १, पृ. ८७।
३१६. सुन्दर विलास, पृ. १०१।
३१७. अखरावट-जायसी, पृ. ३०५, चित्रावली-उसमान, पृ. २ भाषा प्रेम रसशेख रहीम
३१८. पद्मावत-जायसी, पृ. २५७-८, इन्द्रावती-नूरमुहम्मद, पृ. ५४।
३१९. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य-डां. सरल शुक्ल, लखनऊ, सं. २०१३, पृ. १११।
३२०. वही, पृ. ११३।
३२१. जायसी का पद्मावत, काव्य और दर्शन, पृ. १०७।
३२२. जेहि के हिये प्रेम रंग जाया। का तेहि भूख नींद विसराया।। जायसी ग्रंथ माला, पृ. ५८।
३२३. कहं रानी पद्मावती, जीउ वसै जेहि पांह। मोर-मोर के खाएऊं, भूलि गरब अवगाह।। वही, पृ. १७९।
३२४. प्रेम-धाव दुख जान न कोई, वही, पृ. ७४।
३२५. वही, गु. ८८।
३२६. वही, पृ. २५।

३२७. वही, पृ. ४८।

३२८. प्रेम अदिष्ट गगन तैं ऊंचा, ध्रुव तैं ऊंच प्रेम ध्रुव ऊआ। सिर देइ सो पांच देइ सो छूआ। वही, पृ. ५०।

३२९. सूफीमत: साधना और साहित्य-पृ. २३१-२५८।

३३०. जायसी का पद्मावत: काव्य और दर्शन, पृ. २६९-२७७।

३३१. जायसी ग्रन्थावली, पृ. ६३।

३३२. वही, रतनसेन पद्मावती विवाह।

३३३. वही रतनसेन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ. १२६।

३३४. वही, मानवसरोवर खण्ड, पृ. २५२।

३३५. वही, गन्धर्वसेन-मन्त्री खण्ड पृ. ११२।

३३६. वही, पार्वती महेश खण्ड, पृ. ९१।

३३७. वही, गन्धर्वसेन-मंत्री खण्ड, पृ. १०४।

३३८. वही, रतनसेन-सूलीखण्ड, पृ. १११।

३३९. वही, वसन्तखण्ड, पृ. ८४।

३४०. वही, रतनसेन खण्ड, पृ. १४३।

३४१. जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन, पृ. २८६-२८८।

३४२. जायसी का पद्मावत: काव्य और दर्शन, पृ. ३०५-३०८।

३४३. हंस जवाहिर, कासिमशाह, पृ. १५१।

३४४. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ. २२३।

३४५. कबीर ग्रन्थावली, पृ. ४९।

३४६. जाके मुंह माथा नहीं नाहीं रूप अरूप। पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप।। वही, पृ. ६४, तुलनार्थ देखिये - सो निर्गुन कथि कहै सनाथा, जाके हाथ पांव नहिं माथा। दरियासागर, पृ. २६।

३४७. मैं अबला पिउ-पिउ करूं निर्गुन मेरा पीव। शून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव।। सन्त कबीर की साखी, बैंकटेश्वर, पृ. २६।

३४८. कबीर वचनावली-अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ. १०४।

३४९. हरिजननी मैं बालक तौरा-कबीर ग्रन्थावली, पृ. १२३; हम बालक तुम माय हमारी पलपल मांहि करो रखवारी-सहजोबाई, सनत सुधासार, पृ. १९६।

३५०. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १२५।
३५१. कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १८७।
३५२. लाली मेरे लाल की जित देखूं तितलाल। लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।। कबीर वचनावली-अयोध्यासिंह, पृ. ६।
३५३. मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृ. २१६।
३५४. कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १९१।
३५५. कबीर ग्रंथावली, पृ. ९; कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १९३।
३५६. नीर बिनु मीन दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसे। पीर जाके औषधि बिनु कैसे रह्यो जात है। चातक ज्यों स्वाति बूंद चन्द को चकोर जैसे चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है।। निर्धन ज्यों धन चाहैं कामिनी को कन्त चाहै ऐसी जाके चाह ताको कछु न सुहात है। प्रेम को प्रभाव ऐसौ प्रेम तहां नेम कैसौ ऋन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है।। सन्त सुधासागर, पृ. ५९।
३५७. कबीर ग्रन्थावली, ४, २; मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ. २१७।
३५८. कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. ३५२-३। पिय के रंग राती रहै जग सूं होय उवास। चरन दास की वानी। प्रीति की रीति नहिं कजु राखत जाति न पांति नही कुल गारो। सुन्दरदास, सन्त सुधासागर, खण्ड १, पृ. ६३३।
३५९. पिय को खोजन में चली आपहु गई हिराय। पलटू, वही, पृ. ४३५।
३६०. विरह अगिन में जल गए मन के मैल विकार। दादूवानी, भाग १, पृ. ४३।
३६१. हमारी उमरिया खेलन की, पिय मोसों मिलि के विछुरि गयो हो। धर्मदास, सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ. ३७।
३६२. गुलाब साहब की वानी, पृ. २२।
३६३. कबीर, ग्रंथावली, पृ. ९०।
३६४. आज परभात मिले हरि लाल। दादूवानी।
३६५. हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. ५८०-६०४।
३६६. भीजैं चुनरिया प्रेमरस बूदंन। आरत साजकी चली है सुहागिन पिय अपने को ढूढ़न।। मीरा की प्रेम साधना, पृ. २१८।
३६७. मीरा की प्रेम साधना, पृ. २२२।

३६८. मीरा पदावली, पृ. २०।

३६९. भारतीय साधना और सूरदास, पृ. २०८।

३७०. साहित्य की साथी, पृ. ६४।

३७१. मीराबाई, पृ. ४०५।

३७२. वेद कहे सरगुन के आगे निरगुण का विसराम। सरगुन-निरगुन तहु सोहागिन, देख सबहि निजधाम।। सुख-दुख वहां कछू नहिं व्यापै, दरसन आठो जाम। नूरे ओढन नूरे डासन, नूरेका सिरहान। कहै कबीर सुनो भई साधो, सतगुरु नूर तमाम।। कबीर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. २७५।

३७३. सूर और उनका साहित्य, पृ. २४५।

३७४. सूरसागर, ३३९।

३७५. वही, स्कन्ध १, पद २।

३७६. विनयपत्रिका, १११ वां पद।

३७७. जायसी ग्रन्थावली, पृ. ३।

३७८. समयसार, ४९; नाटक समयसार, उत्थानिका, ३६-४७।

३७९. हिय के जोति दीप वह सूझा-जायसी ग्रन्थावली, पृ. ५१।

३८०. जायसी ग्रंथावली, पृ. १५६।

३८१. गुरु मोरे मोरे हिय दिये तुरंगम ठाट, वही, पृ. १०५।

३८२. नयन जो देखा कंबलभा, निरमल नीर सरीर। हंसत जो देख हंस भा, दसन जोति नग हीर।। वही, पृ. २५।

३८३. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार, बनारसी विलास, ज्ञानवावनी, ४

३८४. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. ३०१।

३८५. जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा। कोटि अन्तरपद बीचहिं दीन्हा।। जब चीन्हा तब और कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई।। 'हो हो' करत धोख इतराही। जब भी सिद्ध कहां परछाहीं।। वही, पृ. १०५, जायसी का पद्मावती काव्य और दर्शन, पृ. २१९-२६।

३८६. नाटक समयसार, जीवद्वार २३।

३८७. प्रवचनसार, ६४; बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, १६-३०।

३८८. उत्तराध्ययन, २०:३७; हिन्दी पद संग्रह, पृ. ३६।
३८९. पंचास्तिकाय, १६२; नाटक समयसार, संवरद्वार, ६, पृ. १२५।
३९०. सन्तो, धोखा कांसू कहिये। गुण में निरगुण निरगुण में गुण। बाँट छाडि क्यूं कहिये ? कबीर ग्रंथावली, पद १८०।
३९१. जैन शोध और समीक्षा - पृ. ६२।
३९२. परमात्मप्रकाश, १-२५।
३९३. पाहुड़दोहा, १००।
३९४. परमात्म प्रकाश, १-१९।
३९५. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, १-२५।
३९६. कबीर ग्रन्थावली, पृ. १६६।
३९७. वही, पृ. १५१।
३९८. वही, पृ. ११६। कबीर ग्रन्थावली, पृ. १४५।
३९९. नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृ. २१०।
४००. कबीर ग्रन्थावली, पृ. २४१। वही, पृ. १००।
४०१. कबीर ग्रंथावली, परचा कौ अंग, १७।
४०२. बनारसी विलास, अध्यात्मगीत, १६।
४०३. कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. १८७।
४०४. चूनड़ी, हस्तलिखित प्रति, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. ९४।
४०५. आनन्दघन बहोत्तरी, ३२-४१।
४०६. जोगिया कहां गया नेहड़ी लगाय। छोड़ गया बिसवास संघाती प्रेम की बाती बराय। मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई।। मीरा की प्रेम साधना, पृ. १६८।
४०७. दिन-दिन महोत्सव अतिधणा, श्री संघ भगति सुहाइ। मन सुद्धि श्री गुरुसेवी यह, जिणी सेव्यइ शिव सुख पाइ।। जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह कुशल लाभ-५३ वां पद।
४०८. अध्यात्म गीत, बनारसी विलास, पृ. १५९-६०।
४०९. भूधर विलास, ४५ वां पद पृ. २५।
४१०. कवि विनोदीलाल-बारहमासा संग्रह कलकत्ता, ४२ वां पद्य, पृ. २४, लक्ष्मीवल्लभ नेमि-राजुल बारहमासा, पहला पद्य।

४११. आनन्दघन पद संग्रह, आध्यात्मिक ज्ञान प्रसारक मण्डल बम्बई, चौथा पद, पृ. ७।

४१२. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार १०, १३३, पृ. ३०७।

४१३. दशभक्त्यादि संग्रह, पृ. १८१, श्लोक १४ वां।

४१४. नाटक समयसार उत्थानिका, १९ वां पद्य

४१५. शानत रसवारे कहें, मन को निवारे रहें, वेई प्रान प्यारे रहें, और सरवारे है।।। ब्रह्मविलास, ईश्वर निर्णय पच्चीसी, ६ वां कवित्त, पृ. २५३।

४१६. जैन शोध और समीक्षा-डॉ. प्रेमसागर जैन, जयपुर, पृ. १६९-२०८।

४१७. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव डॉ. हरीकृष्ण पुरोहित, पृ. २५१।

४१८. वही, पृ. २४१-२७७।

४१९. विशेष दृष्टव्य-छायावाद और वैदिक दर्शन -डॉ. प्रेम प्रकाश रस्तोगी, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, १९७१।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

(क) संस्कृत :

१. अध्यात्म रहस्य - पं. आषाधर
२. ऋग्वेद श्रीपाद सातवलेकर, औन्धनगर, १९४०
३. कठोपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर
४. छान्दोग्योपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर
५. तत्त्वार्थ सूत्र - मथुरा, वी. नि. सं. २४७७
६. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय - अमृतचन्द्रसूरि
७. भगवद् गीता - गीता प्रेस, गोरखपुर
८. पाणिनिसूत्र - वाराणसी
९. समाधितन्त्र - श्री पूज्यपाद, सहारनपुर, प्रथम संस्करण, वि. सं. १९९६.
१०. योगशास्त्र - एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल
११. श्वेताश्वेतरोपनिषद् - गीता प्रेस, गोरखपुर
१२. श्रीमद्भागवत - गीता प्रेस, गोरखपुर

(ख) पालि-प्राकृत-अपभ्रंश :

१. अष्टपाहुड - सं. पं. पन्नालाल जैन, महावीरजी
२. थेरी गाथा - सं. जगदीश काश्यप, १९५६
३. उत्तराध्ययन सूत्र - कलकत्ता, १९३७

४. दोहा कोष - सं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना डॉ. भागचन्द्र भास्कर, वाराणसी, २००८
५. धर्मबिन्दु - हरिभद्रसूरि, सार्वजनिक पुस्तकालय, अह. १९५१
६. ठाणांग - अहमदाबाद, १९३७
७. णायकुमारचरिउ - सं. डॉ. हीरालाल जैन, १९३३
८. पंचास्तिकाय-कुन्दकुन्दाचार्य, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वी. नि. सं. २४४१
९. परमात्म प्रकाश - योगीन्दु मुनि - सं. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, बम्बई, १९३७
१०. पाहुड़ दोहा - (मुनि रामसिंह) - डॉ. हीरालाल जैन, कारंजा, १९३३
११. प्रवचनसार - सं. ए. एन. उपाध्ये, बम्बई, १९३५
१२. योगसार (योगीन्दु मुनि) - परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७
१३. समवायांग - राजकोट, १९६२
१४. सावयधम्मदोहा (देवसेन) - सं. डॉ. हीरालाल जैन, कारंजा, १९३२
१५. समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य) - कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, १९९४
१६. संदेस रासक - सं. जिनविजय एवं भयाणी, बम्बई, १९४५
१७. सन्मति.तर्क प्रकरण - अहमदाबाद
१८. विशेषावश्यक भाष्य - अहमदाबाद, १९३७

(ग) हिन्दी :

१. अध्यात्म पदावली - सं. राजकुमार जैन, वाराणसी, १९५४
२. अर्धकथानक (बनारसीदास) -नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९४३
३. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद - डॉ. वासुदेव सिंह, वाराणसी, सं. २०२२
४. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक - डॉ. प्रेमचन्द्र जैन, अमृतसर - वाराणसी
५. आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रासकाव्य - डॉ. हरीश मंगल प्रकाशन, जयपुर, १९७४
६. आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ - डॉ. क्रिशंकर, इलाहाबाद
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव - डॉ. हरिकृष्ण पुरोहित, जयपुर, १९७४
८. आनन्दघन पद संग्रह - अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई
९. आनन्दघन बहोत्तरी - परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
१०. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा - परशुराम चतुर्वेदी
११. उपदेश दोहाशतक - नई दिल्ली
१२. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह - कलकत्ता, वि. सं. १९९४
१३. कबीर दर्शन - डॉ. रामजीलाल 'सहायक', लखनऊ, १९६२
१४. काव्य में रहस्यवाद - डॉ. बच्चूलाल अवस्थी, कानपुर, १९६५
१५. कविता रत्न - बम्बई, १९६७
१६. कबीर - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९५४
१७. कबीर का रहस्यवाद - डॉ. रामकुमार वर्मा, सन् १९२१
१८. कबीर की विचारधारा - डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर, २०१४

१९. कबीर ग्रन्थावली - सं. श्याम सुन्दरदास, काशी, २०१३
२०. कबीर वचनावली - अयोध्यासिंह
२१. कबीर बीजक - वाराणसी
२२. कबीर साहित्य का अध्ययन - पुरुषोत्तम लाल, बनारस, २०१८
२३. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध - जयशंकर प्रसाद, इलाहाबाद, २००५
२४. ज्ञानदर्पण - जैन मित्र कार्यालय, बम्बई, सन् १९११
२५. गुर्जर साहित्य संग्रह - सं. मुनिश्री कीर्तियश विजय, बम्बई
२६. गुर्जर जैन कवियों की हिन्दी साहित्य को देन - डॉ. हरिप्रसाद गजानन
२७. गुरु ग्रन्थ साहेब
२८. गोरखवानी संग्रह - वड़थ्याल, द्वि. संस्करण
२९. गुलाल साहब की वानी - वेलवेडियर प्रेस
३०. घनानन्द और आनन्दघन - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, २००२
३१. छहढाला (दौलतराम) सोनगढ़, वी. नि. सं. २४८९
३२. छहढाला (बुधजन) लखनऊ, १९९८
३३. चेतन कर्म चरित्र भाषा (भैया भगवतीदास), लखनऊ
३४. जस विलास - यशोविजय उपाध्याय
३५. जायसी का पद्मावत: डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, १९६३
३६. जिनेश्वर पद संग्रह - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
३७. छायावाद और वैदिक दर्शन - डॉ. प्रेमप्रकाश रस्तोगी, दिल्ली, १९७१
३८. जायसी ग्रन्थावली, सं. रामचन्द्र शुक्ल, काशी

३९. जैन ऐतिहासिक काव्य संचय - सं. मुनि जिनविजय, भावनगर १९२६
४०. जैन कवियों का इतिहास - मूलचंद वत्सल, जयपुर
४१. जैन कवियों के वज्र भाषा प्रबंधकाव्यों का अध्ययन - डॉ. लालचन्द जैन
४२. जैन धर्म सार - सं. जिनेन्द्र वर्णी, वाराणसी, १९७४
४३. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि - डॉ. प्रेमसागर जैन, काशी १९६४
४४. जैन क्रिया कोष (दौलतराम) - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
४५. जैन स्तोत्र संग्रह - प्रथम भाग अहमदाबाद, १९३२
४६. जैनशतक (भूधरदास) - कलकत्ता १९३५
४७. जैन शोध और समीक्षा - डॉ. प्रेमसागर जैन, जयपुर २४९६
४८. तुलसी के भक्त्यामक गीत- डॉ. वचनदेव कुमार दिल्ली, १९६४
४९. तुलसी ग्रन्थावली - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
५०. दादूदयाल की वानी - वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
५१. दौलत जैन पद संग्रह - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
५२. दोहाकोश - सं. राहुल सांकृत्यायन, पटना २०१४
५३. दोहा परमार्थ (रूपचन्द) - कलकत्ता
५४. द्यानत पद संग्रह (द्यानतराय) - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
५५. धर्मरत्नोद्योत (जगमोहनदास) - बम्बई, १९१२
५६. धर्मविलास (द्यानत विलास) - बम्बई, १९१४

५७. नाथ सम्प्रदाय - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद १९५०
५८. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उनका हिन्दी पर प्रभाव - डॉ. रामसिंह तोमर प्रयाग १९६३
५९. प्राचीन फागु संग्रह - डॉ. भों सांडेसरा, बडोदरा १९५५
६०. नाटक समयसार (बनारसीदास), सोनगढ़ वि. सं. २०१९
६१. पन्थी गीत (छीहल)
६२. प्रवचनसार परमागम (वृन्दावन) - बम्बई, १९०८
६३. परमार्थ जकडी संग्रह - कलकत्ता
६४. पार्श्व पुराण (भूधरदास) - बम्बई १९७५
६५. प्राचीन काव्यों की रूप रेखा - अगरचन्द नाहटा, बीकानेर, १९६२
६६. बनारसीविलास (बनारसीदास), नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर २०११
६७. बारहमासा संग्रह - जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता
६८. बारह भावना संग्रह - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
६९. बुधजन सतसई - जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता, २४७७
७०. बुधजन विलास - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता
७१. बौद्ध संस्कृति का इतिहास - डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर १९७२
७२. ब्रह्मविलास (भैया भगवतीदास) - जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, १९२६
७३. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद - डॉ. रामनारायण पांडे, दिल्ली, १९६६
७४. भचरत की अन्तरात्मा - अनु. विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

७५. भीखा साहब की वानी - वेलवेड़ियर प्रेस
७६. भूधरविलास (भूधरदास) - जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
७७. मध्यकालीन धर्मसाधना - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद, १९५२
७८. संत कबीर की साखी - वैंकटेश्वर
७९. सुन्दर दर्शन - डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, इलाहाबाद, १९५३
८०. संतकाव्य - परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५२
८१. संतसुधासार - सं. वियोगी हरि, नई दिल्ली, १९५३
८२. साहित्यिक निबन्ध - डॉ. त्रिभुवन सिंह, वाराणसी, १९७०
८३. संत साहित्य - डॉ. सुदर्शन सिंह मजीठिया, दिल्ली, १९६२
८४. सूर और उनका साहित्य - डॉ. हरवंशलाल शर्मा, अलीगढ़
८५. सूर साहित्य - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, १९९३
८६. सूर की काव्यसाधना - डॉ. गोविन्दराम शर्मा, दिल्ली, १९७०
८७. संत वाणी संग्रह
८८. सिद्ध साहित्य - डॉ. धर्मवीर भारत, १९५५
८९. सीमंधर स्वामी स्तवन (विनयप्रभ उपाध्याय)
९०. मध्यकालीन हिन्दी संत विचार - डॉ. कैशनी प्रसाद चौरसिया, इलाहाबाद, १९५२
९१. मध्यकालीन प्रेम साधना - परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९६५
९२. मनमोदन पंचशती (छत्रपति) - बडवानी, २४४३
९३. मनराम विलास (मनराम)
९४. भट्टारक सम्प्रदाय - डॉ. विद्याधर जौहरापुरकर, सोलापुर, १९५८

९५. मिश्र बन्धु विनोद - भाग १-२, लखनऊ, १९८४
९६. मोह विवेक युद्ध (बनारसीदास) - वीर पुस्तक भण्डार,
९७. मीरा की प्रेम साधना - भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', दिल्ली
९८. मीरा पदावली - विष्णुकुमार मंजु
९९. मीराबाई - डॉ. प्रभात, बम्बई, १९६५
१००. मोहन बहुत्तरी - वरैया स्मृति ग्रन्थ - डॉ. कुन्दनलाल जैन
१०१. रहस्यवाद - परशुराम चतुर्वेदी
१०२. राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर,
१०३. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची - डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, १-५
१०४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज - सं. मोतीलाल मैनारिया, उदयपुर, १९४२
१०५. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची - सं. अगरचन्द नाहटा, राजस्थान, १९५४
१०६. रामचरित मानस - सं. माताप्रसाद गुप्त, इलाहाबद
१०७. सूफी मतः साधना - रामपूजन तिवारी, वाराणसी, २०१३
१०८. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, जयपुर
१०९. रैदास जी की वानी - वेलवेडियर प्रेस
११०. बृहज्जिनवाणी संग्रह - कलकत्ता
१११. विनती संग्रह - बम्बई १९३४
११२. विनय पत्रिका - गोरखपुर
११३. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण - काशी
११४. हिन्दी जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, खण्ड १-३ - डॉ. शितिकण्ठ मिश्र, वाराणसी, १९९७

११५. हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५
११६. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय - डॉ. छीताम्बरदत्त वडथ्याल, लखनऊ, २००७
११७. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि - डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर, १९६१
११८. हिन्दी जैन साहित्य - डॉ. भगवान दास तिवारी
११९. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास - नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९७३
१२०. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि - डॉ. प्रेमसागर जैन, काशी, १९६४
१२१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन - डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, काशी
१२२. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - डॉ. कामता प्रसाद जैन, काशी, १९४७
१२३. हिन्दी पद संग्रह - डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, १९६५
१२४. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड - सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, २०१५
१२५. हिन्दी साहित्य; एक परिवृत्त - डॉ. शिवन्दन प्रसाद द्विवेदी, १९६९
१२६. हिन्दी साहित्य - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, देहली १९५२
१२७. हिन्दी साहित्य का अतीत - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, २०१५
१२८. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
१२९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पटना, २०१३
१३०. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, काशी, २००९

१३१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग - १ - सं. डॉ. राजबली पाण्डेय, काशी, २०१४
१३२. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां - डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, आगरा, १९७१
१३३. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य - डॉ. सरला शुक्ल, लखनऊ, २०१३

(घ) विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शताधिक निबन्ध

(च) हस्तलिखित प्रतियों का खोज विवरण

१. अनस्तमितव्रत संधि हरिचन्द - जयपुर
२. आदीश्वर फागु - जयपुर
३. आणंदा आनंदतिलक - जयपुर
४. कर्मघटावलि - कनककीर्ति, जयपुर
५. चेतन पुद्गल ढमाल - नागदा बूंदि
६. चौबीस स्तुति पाठ - बड़ौत
७. धनपालरास - जयपुर
८. पंचसहेलीगीत - जयपुर
९. प्रद्युम्नचरित्र - जयपुर
१०. पार्श्वजिन स्तवन
११. मनरामविलास - जयपुर
१२. मिथ्या दुक्कड़ - जयपुर
१३. समाधि - दिल्ली
१४. शिवरमणी विवाह - वधीचन्द मंदिर, जयपुर
१५. श्री चूनरी भगौतीदास - मथुरा
१६. खटोलना गीत - रूपचंद, जयपुर
१७. अध्यातम सवैया - रूपचन्द, जयपुर

१८. फुटकल पद - ब्रह्मदीप, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर
१९. उपदेश दोहाशतक - पांडे हेमराज, जयपुर
२०. फुटकल पद - द्यानतराय, जयपुर
२१. मनकरहारास - ब्रह्मदीप, जयपुर
२२. मांझा बनारसीदास, बधीचन्द जैन मंदिर, जयपुर
२३. परमानन्द विलास और पद पंकत - नागपुर

(छ) पत्र पत्रिकाएं

१. अनेकांत - दिल्ली
२. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी
३. जैन सन्देश (शोधांक) - मथुरा
४. जैन हितेषी, बम्बई
५. भारतीय साहित्य, आगरा विश्वविद्यालय
६. वीरवाणी, जयपुर
७. मरु भारती, राजस्थान
८. श्रमण, वाराणसी
९. परिषद् पत्रिका, पटना
१०. व्रज भारती
११. हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद
१२. हिन्दी अनुशीलन, प्रयाग राजस्थान भारती

(ड) कोष

१. जैन संस्कृति कोश, भाग १-३, डॉ. भागचंद्र जैन भास्कर, वाराणसी, २००४
२. हिन्दी शब्द कोष अनन्देल
३. अमरकोश, वाराणसी
४. अभिधान चिन्तामणि कोश, रतलाम
५. नाममाला (बनारसीदास) - वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

६. पालिकोस संगहो - सं. डॉ. भागचंद जैन भास्कर, नागपुर
७. Concise Oxford Dictionary - Oxford, 1961
८. आगम शब्दकोश - सं. युवाचार्य, महाप्रज्ञ, लाडनूं, १९८०

(ण) English

1. Comperative Religion - A.C. Bonbuet, 1953
2. Eastern Religion and Western Thought - Dr. S.S. Radhakrashan
3. Mysticism in Bhagwadgita - Mahendran atha Sarkar, 1944
4. Mysticism Theory and Art - Radhakamal Mukurji
5. Studies in Vedanta - V. J. Kirtikar, Bombay
6. Mysticism in Religion - Prof. Ranade
7. Mysticism in Religion - Dr. W.R. Inge, Newyark
8. Mystical Phenomena - M.G.R. Alliert Forges, London, 1926
9. The Teachings of the Mystices - Walter T. Stace, Newyark, 1960
10. The Varieties of Religious Experience : A Study in Human Nature - Wiliam James, Longmans, 1929
11. Mysticism in Newyark - Ku. Under Hill
12. Practical Mysticism - Ku. Under Hill
13. Mysticism - Ku. Under Hill
14. Mysticism Dictionaries - Frank Gaynor
15. New Haven - W.E. Hocking
16. Mysticism and Logic

लेखिका-परिचय

नाम - **प्रोफेसर डॉ. पुष्पलता जैन**

जन्म - सागर ई. सन् 1941।

शिक्षा - एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (भाषाविज्ञान), पी-एच. डी. (हिन्दी), पी-एच. डी. (भाषाविज्ञान), एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर विश्वविद्यालय से सीनियर रीडर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में 2002 में सेवानिवृत्त, अमेरिकी संस्थान के द्वारा वूमेन ऑफ द इयर 2003 चयनित, वर्तमान में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, अपभ्रंश हिन्दी एवं भाषाविज्ञान, सन्मति प्राच्य शोध संस्थान, नागपुर में कार्यरत।

प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें -

1- हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना।
2- मरारी बोली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन।
3- हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियां।
4- जैन सांस्कृतिक चेतना।
5- भक्तिगीतांजली।
6- बौद्ध दोहाकोश एवं विविध पत्र-पत्रिकाओं में लगभग 200 निबन्ध।

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

कला प्रकाशन

बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी. एच. यू., वाराणसी-5